

LL.B.-4th Sem. Paper-I Jurisprudence-1 Legal Concept

प्रश्न न० 1— विधिक अधिकार को परिभाषित कीजिए। इसके आवश्यक तत्व क्या हैं। विधिक अधिकार के मुख्य सिद्धान्तों का वर्णन कीजिए।

उत्तर— विधिक अधिकार का अर्थ— विधिक और न्यायशास्त्री साहित्य में अधिकार सबसे ज्यादा अस्पष्ट कोई शब्द मिल सकता है। अधिकार का प्रयोग जब विशेषण के तौर पर किया जाता है तो इसका तात्पर्य न्यायोचित या न्याय या ठीक होता है। अधिकार के समान या अधिकार का बोध कराने वाले शब्द भी इसी तरह अस्पष्ट और बहुअर्थी हैं। रोमन विधिशास्त्रियों ने अधिकार, विधि और न्याय भावार्थों को एक-दूसरे से अपृथक् माना और इन सभी को बोध कराने के लिए इस शब्द का प्रयोग किया। मानव सभ्यता के विकास का वास्तविक योगदान विधि और उसकी निषेधात्मक प्रक्रिया को है जिसने व्यक्ति को समाज के सदस्यों के रूप में अपने कर्तव्यों और अधिकारों का बोध कराया है। जब समाज समाज के व्यक्ति परस्पर सम्पर्क में आते हैं तो उनके एक-दूसरे के प्रति कुछ विधिक अधिकार और कर्तव्य है, जिन्हें प्रचलित विधि द्वारा नियंत्रित किया जाता है। यह सर्वविदित है कि विधि का मूल उद्देश्य मानवीय हितों को संरक्षित करते हुए व्यक्तियों के समव्यवहारों को विनियमित करना है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए यह आवश्यक है कि व्यक्तियों के अधिकारों को प्रवर्तित कराने तथा उनका अतिक्रमण करने वालों को दण्डित करने के लिए राज्य अपनी भौतिक शक्ति का प्रयोग करे। यह कार्य राज्य द्वारा किया जाता है जो कानून के प्रवर्तन से लोगों को अपने विधिक कर्तव्य निभाने के लिए बाध्य करते हुए उनके अधिकारों की संरक्षा करता है।

विधिक अधिकार की परिभाषा— विधिवेत्ताओं ने विधि अधिकार की व्याख्या भिन्न-भिन्न प्रकार से की है। **सैविनी** ने इसे शक्ति माना है। **इहरिंग** ने इसे विधि द्वारा संरक्षित हित मानते हैं। **डॉ० ऐलन के मतानुसार** अधिकार किसी हित को प्राप्त करने के लिए विधि द्वारा प्रत्याभूत शक्ति है।

ग्रे के अनुसार अधिकार स्वयं कोई हित नहीं है, अपितु वह हितों के संरक्षण का एक साधन मात्र है। इस कथन की पुष्टि में एक उदाहरण देते हुए ग्रे कहते हैं कि यदि एक व्यक्ति दूसरे को ऋण देता है तो ऋणदाता का यह हित है कि वह ऋणी व्यक्ति से अपनी ऋण राशि वापस प्राप्त करे, उसका वास्तविक विधिक अधिकार नहीं है बल्कि उसे कानून द्वारा दी गई वह शक्ति या क्षमता है कि वह दिया गया ऋण वसूल कर सकता है, उसका विधिक अधिकार होगा। दूसरे शब्दों में ऋणी व्यक्ति से ऋण की राशि प्राप्त करना ऋणदाता का हित है जो विधि द्वारा संरक्षित है। परन्तु यह स्वयं अधिकार नहीं है। अतः ग्रे के अनुसार विधिक अधिकार ऐसी शक्ति है जिसके द्वारा कोई व्यक्ति अन्य या व्यक्तियों को कोई कार्य करने या कार्य करने से उपरान्त रहने के लिए वैधानिक कर्तव्य द्वारा बाध्य करता है।

कानून प्रत्येक नागरिक के कानूनी अधिकार की रक्षा करता है। देश का नागरिक होने से लोगों को कानूनी अधिकार दिया जाता है। प्रत्येक व्यक्ति के अधिकारों की रक्षा करना प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है। सामान्य शब्दों में इसका अर्थ यह है कि कानून द्वारा अनुमत कार्य को कानूनी अधिकार कहा जाता है या राज्य मान्यता प्राप्त या संरक्षित कार्य को कानूनी अधिकार कहा जाता है।

परिभाषाएँ—

हॉलैंड के अनुसार यह सामर्थ्य या क्षमता का घातक है आस्टिन विधिक अधिकारों की परिभाषा और विश्लेषण के बारे में विधिशास्त्रियों में भारी मतभेद है। आस्टिन के अनुसार अधिकार एक क्षमता के जो विहित पक्ष या पक्षकार या पक्षकारों में किसी निर्दिष्ट विधि के कारण होती है और जो किसी पक्षकार या पक्षकारों से भिन्न है जिसमें यह निहित है, के विरुद्ध होती है, या किसी पक्षकार या पक्षकारों पर अधिरोपित कर्तव्य के समनुरूपी होती है, उसके अनुसार किसी व्यक्ति को कोई अधिकार होना केवल तभी कहा जाता है जबकि दूसरा या दूसरे उसके सम्बन्ध में कोई कार्य करने या कोई करने से बचने के लिए विधि द्वारा आबध्य य बाध्य होते हैं। इसका अर्थ है कि एक अधिकार का सदैव ही तदुरूपी कर्तव्य होता है।

यह परिभाषा अपूर्ण है जैसा कि इसे देखने से प्रतीत होता है। क्योंकि इस परिभाषा में अपूर्ण अधिकारों के अधिकारों के लिए कोई स्थान नहीं है।

सामंड— अधिकार को 1 दिन पहले से परिभाषित करता है। यह कहता है कि अधिकार योग्यता के नियम द्वारा मान्य और संरक्षित हित है यह कोई हित है। जिसका सम्मान करना कर्तव्य है और जिसकी अवहेलना करना एक दोस्त है। इस परिभाषा में दो मुख्य तत्व पहला अधिकारों के नियम या युक्ता के नियम का अर्थ है विधि नियम या दूसरे शब्दों में वह जो न्यायिक रूप में प्रवर्तनी होना चाहिए। इस प्रकार सामान्य के अनुसार एक अधिकार न्यायिक रूप से प्रवर्तनीय होना चाहिए, दूसरे अधिकारी हित है अधिकार का निर्माण करने के लिए तत्व अनिवार्य है।

विधिक अधिकार के प्रमुख सिद्धान्त— विधिक अधिकार के मुख्यतः दो सिद्धांत निम्नांकित हैं

(1) **हित-सिद्धान्त—** इहरिंग ने विधिक अधिकार को 'हित' पर आधारित माना है। उनके अनुसार विधिक अधिकार विधि द्वारा संरक्षित हित है। विधि का मूल उद्देश्य मानवीय हितों का संरक्षण करते हुए मानव के परस्पर विरोधी

हितों के संघर्ष को टालना है। परन्तु सामण्ड ने इहरिंग द्वारा दी गई 'अधिकार' की परिभाषा को अपूर्ण मानते हुए कहा है कि विधिक अधिकार के लिए केवल विधिक संरक्षण दिया जाना ही पर्याप्त नहीं है अपितु उसे वैधानिक मान्यता भी प्राप्त होनी चाहिये। सामण्ड के विचार से पशुओं के प्रति क्रूरतापूर्ण व्यवहार करना विधि द्वारा निषिद्ध (prohibited) है तथा इसके लिए दोषी व्यक्ति को दण्डित किये जाने का प्रावधान है। अतः क्या यह कहना उचित होगा कि पशुओं को आत्म सुरक्षा का विधिक अधिकार प्राप्त है? आशय यह है कि पशुओं सम्बन्धी इस अधिकार को विधिक संरक्षण प्राप्त है, परन्तु विधिक मान्यता प्राप्त न होने के कारण इसे 'विधिक अधिकार' की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता है। यही कारण है कि सामण्ड ने पशुओं के इस अधिकार को केवल नैतिक अधिकार के रूप में ही स्वीकार किया है। सुविख्यात विधिशास्त्री ग्रे ने भी इसे केवल आंशिक रूप में स्वीकार करना ही उचित समझा। ग्रे के अनुसार 'अधिकार' स्वयं हित नहीं है अपितु 'हित' को संरक्षित करने वाला एक साधन मात्र है। ग्रे (Gray) के मतानुसार "यह वह शक्ति है जिसमें कोई व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति या व्यक्तियों को किसी कार्य या कार्यों को करने या न करने के लिए उस सीमा तक बाध्य कर सकता है, जहाँ तक समाज से उसे यह शक्ति अन्य व्यक्ति या व्यक्तियों पर लागू करते हुए प्राप्त होती है।" कुछ न्यायविदों का कहना है कि अधिकार का मूल आधार षटित्व है।

उदाहरण के लिए— एक बच्चा जो जन्म लेता है और एक वर्ष का हो जाता है, उसके पास कानून के अनुसार कुछ अधिकार होते हैं क्योंकि यह ज्ञात है कि एक व्यक्ति को उस दिन से अधिकार दिए जाते हैं जब वह अपनी माँ के गर्भ में होता है। लेकिन यह नहीं कहा जा सकता कि उनके पास इच्छा है। अधिकार जो सुरक्षित करता है वह कोई इच्छा या विकल्प नहीं है, बल्कि उस व्यक्ति के लाभ के लिए कुछ हित है जो उस अधिकार को रखता है। हित को "किसी व्यक्ति या व्यक्तियों के समूह का दावा या इच्छा कहा जा सकता है जिसे वह व्यक्ति या समूह संतुष्ट करना चाहता है।" सीके एलन के अनुसार, "कानूनी अधिकार का सार कानूनी रूप से गारंटीकृत शक्ति नहीं है, न ही कानूनी रूप से संरक्षित हित है, बल्कि हित को महसूस करने के लिए कानूनी रूप से गारंटीकृत शक्ति है।" कानून है जो बनाए गए अधिकारों को बनाता है, उनकी रक्षा करता है और उन्हें मान्यता देता है। इस प्रकार, कानूनी अधिकार की एक विशेषता इसकी मान्यता है। इसे एक कानूनी प्रणाली द्वारा मान्यता दी जाती है और एक कानूनी प्रक्रिया द्वारा लागू किया जाता है। हालाँकि, यह सिद्धांत कुछ योग्यताओं के अधीन है—

(1) कानून हमेशा अधिकार को लागू नहीं करेगा, बल्कि पीड़ित पक्ष को उपचार प्रदान करके क्षतिपूर्ति प्रदान करेगा।

(2) जहाँ तक कानूनी अधिकार के प्रवर्तन का प्रश्न है, कभी-कभी कानून स्वयं ही अक्षमता उत्पन्न कर देता है।

(3) कभी-कभी किसी कानूनी प्रणाली में अपने निर्णयों को लागू करने के लिए तंत्र का अभाव होता है।

इसलिए, उपरोक्त कठिनाइयों को देखते हुए कानूनी आदेश द्वारा मान्यता और संरक्षण के संदर्भ में कानूनी अधिकार को परिभाषित करना बेहतर होगा।

(2) इच्छा सिद्धान्त— हीगल, कान्ट तथा ह्यूम आदि विधिशास्त्रियों ने विधिक अधिकार सम्बन्धी हित सिद्धान्त का समर्थन करते हुए कहा है कि किसी व्यक्ति का अधिकार उसकी इच्छा को प्रदर्शित करता है। पुश्ता ने यह विचार व्यक्त किया कि अधिकार के माध्यम से व्यक्ति किसी वस्तु पर अपनी इच्छा शक्ति को अभिव्यक्त करता है। जर्मनी के ऐतिहासिक विधिशास्त्र के समर्थकों ने अधिकार सम्बन्धी इच्छा सिद्धान्त को स्वीकार किया है।

ड्यूगिट ने इच्छा सिद्धान्त की आलोचना करते हुए सामाजिक समेकता (social solidarity) को ही अधिकार का मूल स्रोत माना है। वे इच्छा को अधिकार का एक महत्वपूर्ण तत्व मात्र मानते हैं। पैटन ने भी इच्छा को अधिकार के एक तत्व के रूप में ही स्वीकार किया है। हॉलैण्ड ने मत अनुसार "विधिक अधिकार किसी व्यक्ति में निहित वह क्षमता है जिससे वह राज्य की सहमति और सहायता से अन्य व्यक्तियों के कृत्यों को नियंत्रित करा सकता है।"

ऑस्टिन के अनुसार किसी व्यक्ति के अधिकार का अर्थ यह है कि दूसरे व्यक्ति उसके सम्बन्ध में कुछ करने या न करने के लिए विधि द्वारा बाध्य हैं। ऑस्टिन द्वारा दी गई अधिकार की यह परिभाषा राज्य की प्रभुताशक्ति पर आधारित है। ऑस्टिन ने कर्तव्य की व्याख्या करते हुए कहा है कि यह एक ऐसा दायित्व है जिसकी अवहेलना की जाने पर इसके साथ सम्बद्ध शास्त्र के कारण यह दण्डनीय है। परन्तु जॉन स्टुअर्ट मिल ने ऑस्टिन के उपर्युक्त विचार की आलोचना इस आधार पर की है कि अधिकार के साथ हित सन्निहित होना प्रायः अनिवार्य है। "अधिकार मानव इच्छा का अंतर्निहित गुण है।" आत्म-अभिव्यक्ति और आत्म-अभिकथन का अधिकार व्यक्ति की स्वतंत्रता का एक हिस्सा है जो मनुष्य और उसके व्यक्तित्व से अविभाज्य है। ऐसी प्राकृतिक स्वतंत्रता और स्वाधीनता के अभाव में मनुष्य असहाय महसूस करेगा। सभी प्राकृतिक अधिकार मनुष्य के जीवन में विकास के लिए आवश्यक हैं, बशर्ते कि मनुष्य इन अधिकारों का उपयोग अवैध चीजों के लिए न करे। इच्छा सिद्धान्त को प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त द्वारा विस्तारित किया गया, जिसने घोषित किया कि व्यक्तिगत जीवन के कुछ क्षेत्र हैं जिनमें राज्य कानूनी रूप से हस्तक्षेप नहीं कर सकता है। इस सिद्धान्त के समर्थक हेगल, कांट, लॉक और ह्यूम हैं। दूसरी ओर, ड्यूगिट ने आलोचना की कि कानून में इच्छा एक आवश्यक तत्व नहीं है। उनका कहना है कि व्यक्ति के दायित्वों की तुलना में उसके अधिकार पर अधिक जोर दिया जाता है। वे व्यक्तिपरक अधिकार के इस सिद्धान्त को केवल एक भौतिक अमूर्तता कहते हैं।

कानूनी अधिकारों के तत्व

सर जॉन सैल्मंड के अनुसार, प्रत्येक कानूनी अधिकार के 5 आवश्यक तत्व हैं—

(1) **अंतर्निहित व्यक्ति**—इसे अधिकार के विषय के रूप में भी जाना जाता है। एक कानूनी अधिकार जो किसी व्यक्ति में निहित होता है और जिसे अधिकार के स्वामी, उसके विषय या 'अंतर्निहित व्यक्ति' के रूप में पहचाना जा सकता

है। इसलिए, विषय या उसके स्वामी के बिना कोई कानूनी अधिकार नहीं हो सकता। यहाँ, विषय का अर्थ है वह व्यक्ति जिसके पास अधिकार निहित हैं। इसलिए, विषय या उसके स्वामी के बिना अधिकार की कल्पना नहीं की जा सकती। अधिकार के स्वामी को निश्चित या निर्धारित होने की आवश्यकता नहीं है। एक अधिकार समाज के स्वामित्व में हो सकता है, बड़े पैमाने पर, अनिश्चित है।

(2) घटना का व्यक्ति— वह व्यक्ति जो कर्तव्य से बंधा होता है या कर्तव्य का विषय होता है, उसे घटना का व्यक्ति कहा जाता है।

(3) अधिकार की विषय-वस्तु— वह कार्य या चूक जो हकदार व्यक्ति के पक्ष में बाध्य व्यक्ति पर बाध्यकारी है, अधिकार की अंतर्वस्तु या सार के रूप में जाना जाता है।

(4) अधिकार की विषय-वस्तु— यह वह चीज है जिससे कार्य या चूक संबंधित है, जिस पर अधिकार का प्रयोग किया जाता है। इसे अधिकार का विषय-वस्तु कहा जाता है।

(5) अधिकार का शीर्षक— सैल्मंड ने पाँचवाँ तत्व भी दिया है, वह है 'शीर्षक'। उनका कहना है कि "प्रत्येक कानूनी अधिकार का एक शीर्षक होता है, अर्थात् कुछ तथ्य या घटनाएँ जिसके कारण वह अधिकार उसके स्वामी में निहित हो जाता है"। सैल्मंड द्वारा उद्धृत एक लोकप्रिय दृष्टान्त कानूनी अधिकारों के उपर्युक्त सभी तत्वों को संतुष्ट करता है। यह इस प्रकार है— "यदि A B से भूमि का एक टुकड़ा खरीदता है, तो । इस प्रकार अर्जित अधिकार का विषय या स्वामी है। सहसंबंधी अधिकार से बंधे हुए व्यक्ति सामान्य रूप से व्यक्ति हैं, क्योंकि इस प्रकार का अधिकार पूरी दुनिया के विरुद्ध है। अधिकार का संदर्भ खरीदार के भूमि के अनन्य उपयोग में हस्तक्षेप न करने में निहित है। अधिकार का उद्देश्य या विषय-वस्तु भूमि है। और अंत में, अधिकार का शीर्षक वह हस्तांतरण है जिसके द्वारा इसे उसके पूर्व स्वामी से प्राप्त किया गया था"।

प्रश्न न० 2— विधिक अधिकार के विभिन्न प्रकारों की विवेचना कीजिए। अधिकार और कर्तव्य के बीच के सम्बन्ध की व्याख्या कीजिए। मौलिक अधिकार एवं संवैधानिक अधिकार में अन्तर स्पष्ट कीजिए।

उत्तर— विधिक अधिकार के प्रकार— विधिक अधिकार के निम्नलिखित प्रकार हैं—

(1) लोकलक्षी एवं व्यक्तिलक्षी अधिकार— 'रेम' का अर्थ है दुनिया और 'व्यक्तित्व' का अर्थ व्यक्ति। राइट इन रेम वह अधिकार है जो पूरी दुनिया के खिलाफ उपलब्ध है जबकि पर्सोना में अधिकार किसी व्यक्ति विशेष के खिलाफ है। व्यक्तित्व में अधिकार आमतौर पर संविदात्मक दायित्वों से उत्पन्न होता है। उदाहरण के लिए अनुबंध का उल्लंघन जबकि रेम में अधिकार आमतौर पर कानून का परिणाम होता है। उदाहरण के लिए टोर्ट, क्राइम। व्यक्तित्व में अधिकार आमतौर पर प्रकृति में क्षणभंगुर होता है, जिसे राइट इन रेम में स्थानांतरित किया जा सकता है। रेम में अधिकार एक अन्तिम चीज है, जबकि व्यक्तित्व में अधिकार प्रकृति में क्षणभंगुर है।

शुद्ध अर्थ में विधिक अधिकार का सम्बन्ध विधिक कर्तव्यों से है। हॉलैण्ड ने अधिकार को परिभाषित करते हुए कहा है कि किसी व्यक्ति में किसी विधिक अधिकार का होना तभी माना जाएगा यदि कोई अन्य एक या अनेक व्यक्ति उस व्यक्ति के प्रति कुद करने या न करने के लिए विधिक रूप से आबाध्य है, अर्थात् सहवर्ती कर्तव्य के बिना अधिकार का अस्तित्व संभव नहीं है। दूसरे शब्दों में अधिकार को ऐसा हित कहा जा सकता है जो विधि द्वारा मान्य होता है। तथा जिसका संरक्षण विधि द्वारा अन्य व्यक्तियों पर कर्तव्य अधिरोपित करके किया जाता है। सामण्ड के विचार से उपरोक्त नपे-तुले अर्थ के अतिरिक्त विधिक अधिकार का प्रयोग व्यापक अर्थ में भी किया जा सकता है। इस अर्थ में अधिकार का उपयोग स्वतन्त्रता, शक्ति या उन्मुक्ति के रूप में किया जा सकता है।

(2) व्यक्तिगत और स्वामित्व अधिकार— किसी व्यक्ति के मालिकाना अधिकारों में उसकी संपत्ति, उसकी परिसंपत्तियाँ और कई रूपों में उसकी संपत्ति शामिल होती है। मालिकाना अधिकारों का कुछ आर्थिक और मौद्रिक मूल्य होता है। मालिकाना अधिकार मूल्यवान होते हैं और व्यक्तिगत अधिकार नहीं। मालिकाना अधिकार किसी व्यक्ति की संपत्ति के तत्व होते हैं। व्यक्तिगत अधिकार केवल उसकी भलाई के तत्व होते हैं। मालिकाना अधिकारों का न केवल न्यायिक बल्कि आर्थिक महत्व भी होता है। व्यक्तिगत अधिकारों का केवल न्यायिक महत्व होता है।

(3) सकारात्मक और नकारात्मक अधिकार— जब कोई कर्तव्य, जो अधिकार से मेल खाता है, सकारात्मक कर्तव्य होता है, तो उस अधिकार को सकारात्मक अधिकार कहा जाता है। जिस व्यक्ति पर कर्तव्य निहित है, वह हकदार व्यक्ति की ओर से कुछ सकारात्मक कार्य करेगा। नकारात्मक अधिकार एक नकारात्मक कर्तव्य से मेल खाता है, अर्थात् एक व्यक्ति किसी ऐसे कार्य से परहेज करेगा, जो हकदार व्यक्ति के प्रतिकूल हो। सकारात्मक अधिकार सकारात्मक रूप से लाभान्वित होने का अधिकार है नकारात्मक अधिकार केवल नुकसान न पहुँचाए जाने का अधिकार है। नकारात्मक अधिकार के मामले में, दूसरों को कुछ करने से रोका जाता है। सकारात्मक अधिकारों की संतुष्टि के परिणामस्वरूप मालिक की स्थिति में सुधार होता है। नकारात्मक अधिकारों के मामले में, मालिक की स्थिति को केवल उसी तरह बनाए रखा जाता है। कानून सकारात्मक लाभ के प्रवर्तन की तुलना में नुकसान की रोकथाम से अधिक चिंतित है। कमीशन के हानिकारक कृत्यों के लिए देयता सामान्य नियम है, लेकिन चूक के कृत्यों के लिए देयता छूट है।

(4) मूल और सहायक अधिकार— मूल अधिकार कानून के तहत व्यक्ति में निहित एक बुनियादी या मुख्य अधिकार है। वे महत्वपूर्ण और अमहत्वपूर्ण अधिकार जबकि गौण अधिक आकस्मिक या परिणाम अधिकार है ये आवश्यक नहीं, लेकिन अधिक बुनियादी सामान्य अधिकार के लिए स्पष्ट हैं।

(5) पूर्ण और अपूर्ण अधिकार— सैल्मंड के अनुसार,

(1) एक पूर्ण अधिकार वह है जो एक पूर्ण कर्तव्य के अनुरूप होता है। एक पूर्ण कर्तव्य वह है जिसे न केवल कानून द्वारा मान्यता प्राप्त है बल्कि कानून द्वारा लागू भी किया जाता है।

(2) सभी पूर्ण विकसित कानूनी प्रणालियों में, ऐसे अधिकार और कर्तव्य होते हैं जिन्हें कानून द्वारा मान्यता प्राप्त होने के बावजूद भी वे पूर्ण प्रकृति के नहीं होते हैं। उन अधिकारों को अपूर्ण अधिकार कहा जाता है।

अपूर्ण अधिकारों के उदाहरण हैं समय बीतने के कारण प्रतिबंधित दावे, विदेशी राज्यों या संप्रभुओं के खिलाफ दावे, ऐसे दावे जिन्हें लागू नहीं किया जा सकता क्योंकि वे न्यायालय के अधिकार क्षेत्र की स्थानीय सीमाओं के भीतर नहीं आते, संपत्ति से निष्पादक को देय ऋण जिसे वह प्रशासित करता है। इन मामलों में, अधिकार और कर्तव्य अपूर्ण हैं क्योंकि उनके रखरखाव के लिए कोई कार्रवाई नहीं है। एक अपूर्ण अधिकार बचाव के आधार के रूप में अच्छा हो सकता है, हालांकि कार्रवाई के आधार के रूप में अच्छा नहीं है। एक अपूर्ण अधिकार पूर्ण हो सकता है। कार्रवाई का अधिकार निष्क्रिय हो सकता है और अस्तित्वहीन नहीं हो सकता है।

(6) री-प्रोपोरिया में अधिकार और रे-एलिगना में अधिकार- पुनः-विमुखता में अधिकार, जिसे भार भी कहा जाता है, वह है जो समान विषय-वस्तु के संबंध में किसी अन्य व्यक्ति के कुछ अधिक सामान्य अधिकारों को सीमित करता है या उनसे वंचित करता है। अन्य सभी अधिकार पुनः-स्वामित्व में अधिकार हैं। किसी संपत्ति के स्वामी के पास पुनः-स्वामित्व में अधिकार या अपनी संपत्ति पर अधिकार होता है। गिरवी रखी गई संपत्ति के पास पुनः-विमुखता में अधिकार या किसी और की संपत्ति पर अधिकार होता है। पुनः-स्वामित्व में अधिकार किसी की अपनी संपत्ति में अधिकार होते हैं। पुनः-विमुखता में अधिकार किसी अन्य व्यक्ति की संपत्ति पर अधिकार होते हैं। ऋणभार के चार मुख्य वर्ग हैं- दासता, पट्टा, सुरक्षा और ट्रस्ट। दासता भूमि के एक टुकड़े के सीमित उपयोग का अधिकार है जो स्वामित्व या कब्जे के बिना होता है। पट्टा एक व्यक्ति में निहित संपत्ति का ऋणभार है, जो दूसरे व्यक्ति में निहित कब्जे और उपयोग के अधिकार द्वारा होता है। • सुरक्षा एक ऋणदाता में ऋण की वसूली को सुरक्षित करने के उद्देश्य से अपने देनदार की संपत्ति पर निहित ऋणभार है। ट्रस्ट एक ऋणभार है जिसमें संपत्ति का स्वामित्व किसी अन्य व्यक्ति के लाभ के लिए उससे निपटने के लिए एक न्यायसंगत दायित्व द्वारा सीमित होता है। ऋणग्रस्त संपत्ति के मालिक को ट्रस्टी कहा जाता है और ऋणभार के मालिक को लाभार्थी कहा जाता है।

(7) निहित और समाश्रित अधिकार- निहित अधिकार वह अधिकार है जिसके संबंध में उसे स्वामी में पूर्णतः निहित करने के लिए आवश्यक सभी घटनाएँ घटित हो चुकी हैं। कोई अन्य शर्त पूरी करने की आवश्यकता नहीं है। आकस्मिक अधिकार के मामले में, आकस्मिक स्वामी में अधिकार निहित करने के लिए आवश्यक कुछ ही घटनाएँ घटित हुई हैं। **पैटन के अनुसार** "जब अधिकारों को बनाने के लिए आवश्यक सभी निवेशात्मक तथ्य घटित हो चुके हैं, तो अधिकार निहित हो जाता है जब निवेशात्मक तथ्यों का कुछ भाग घटित हो चुका है, तो अधिकार तब तक आकस्मिक रहते हैं जब तक कि वे सभी तथ्य न हो जाएँ जिन पर शीर्षक निर्भर करता है।"

(8) कानूनी और न्यायसंगत अधिकार- कानूनी अधिकार वे हैं जिन्हें सामान्य कानून न्यायालयों द्वारा मान्यता दी जाती है और न्यायसंगत अधिकार वे अधिकार हैं जिन्हें केवल चांसरी न्यायालय में मान्यता दी जाती है। अंग्रेजी कानून में न्यायसंगतता के सिद्धांत विकसित किए गए ताकि सामान्य कानून की कठोरता को कम किया जा सके। न्याय अधिनियम 1873 द्वारा कानून और न्यायसंगतता के विलय के बावजूद, ऐतिहासिक अंतर अभी भी जीवित है और कुछ स्थितियों में प्रासंगिक है। जब दो कानूनी अधिकार असंगत पाए जाते हैं, तो आमतौर पर पहला अधिकार प्रबल होता है। जब एक कानूनी अधिकार और एक न्यायसंगत अधिकार संघर्ष में होते हैं, तो कानूनी अधिकार न्यायसंगत अधिकार पर प्रबल होगा, भले ही वह मूल रूप से बाद का हो, बशर्ते कि कानूनी अधिकार के मालिक ने इसे मूल्य के लिए और पूर्व न्यायसंगतता की सूचना के बिना हासिल किया हो।

(9) साकार और निराकार अधिकार- मूर्त अधिकार भौतिक संपत्तियाँ हैं जिन्हें देखा, छुआ और मापा जा सकता है, जबकि अमूर्त अधिकार गैर-भौतिक संपत्तियाँ हैं जो मूल्यवान अधिकारों और विशेषाधिकारों का प्रतिनिधित्व करती हैं। मूर्त अधिकार वास्तविक संपत्ति के रूप में भी जाना जाता है, इन संपत्तियों की एक भौतिक उपस्थिति होती है और आमतौर पर दिन-प्रतिदिन के कार्यों में उपयोग की जाती हैं। उदाहरणों में शामिल हैं रू इन्वेंट्री और स्टॉक मशीनरी और उपकरण जैसी अचल संपत्तियाँ रियल एस्टेट वाहन नकद भूमि भवन फर्नीचर अमूर्त अधिकार गैर-मौद्रिक संपत्ति के रूप में भी जाना जाता है, इन संपत्तियों में भौतिक रूप की कमी होती है और ये केवल रिकॉर्ड और बैलेंस शीट पर मौजूद होती हैं। वे अपना मूल्य कानूनी या बौद्धिक संपदा अधिकारों से प्राप्त करते हैं। उदाहरणों में शामिल हैं बौद्धिक संपदा अधिकार पेटेंट लाइसेंस ब्रांड नाम जागरूकता प्रमुख अनुसंधान और विकास कर्मचारी कॉपीराइट ट्रेडमार्क सदभावना ग्राहक सूची सॉफ्टवेयर मालिकाना तकनीक।

(10) प्राथमिक और स्वीकृत अधिकार- प्राथमिक अधिकारों को पूर्ववर्ती, स्वीकृत या आनंद अधिकार भी कहा जाता है। द्वितीयक अधिकारों को स्वीकृत, पुनर्स्थापन या उपचारात्मक अधिकार कहा जाता है। प्राथमिक अधिकारों के उदाहरण हैं प्रतिष्ठा का अधिकार, स्वयं के व्यक्ति के संबंध में अधिकार, मालिक या अभिभावक का अधिकार आदि। द्वितीयक अधिकार प्राथमिक अधिकारों को हुई क्षति के निवारण के लिए राज्य द्वारा प्रदान की गई मशीनरी का एक हिस्सा हैं।

(11) सार्वजनिक और निजी अधिकार- वे अधिकार जो राज्य या सरकार या संविधान द्वारा किसी व्यक्ति को दिए जाते हैं, सार्वजनिक अधिकार कहलाते हैं। उदाहरणरू वोट देने का अधिकार, सार्वजनिक पार्कों के उपयोग का अधिकार आदि।

निजी अधिकार निजी व्यक्तियों या व्यक्तियों से जुड़े होते हैं। उदाहरण— दो लोगों के बीच किया गया अनुबंध उनके निजी अधिकारों को जन्म देता है।

अधिकार और कर्तव्य में परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। प्रत्येक अधिकार के साथ एक सहवर्ती कर्तव्य जुड़ा रहता है। सामंड ने कर्तव्य की परिभाषा देते हुए कहा है कि यह एक ऐसा बन्धनकारी कार्य होता है। जिसका विरोध शब्द 'अपकार' है। दूसरे शब्दों में कर्तव्य भंग होने पर उत्पन्न होता है। कर्तव्य के सम्बन्ध विचार व्यक्त करते ग्रे ने कथन किया कि विधि मुख्य उद्देश्य है लोगों को कुछ विशिष्ट कार्यों को करने या न करने के लिए बाध्य कर के मानवीय हितों का संरक्षण किया जाए।

हिबर्ड के अनुसार 'कर्तव्य किसी व्यक्ति में निहित वह बाध्यता है जिसके कार्यों को किसी अन्य व्यक्ति द्वारा राजय की अनुमति तथा सहायता से नियंत्रित किया जाता है।

कर्तव्य और अधिकार में परस्पर सम्बन्ध— अधिकतर विधिशास्त्री इस बात से सहमत हैं कि प्रत्येक अधिकार के साथ एक सहवर्ती कर्तव्य जुड़ा रहता है। अतः विधिक अधिकार और कर्तव्य के परस्पर सम्बन्ध के विषय कोई मतभेद नहीं है। आस्टिन के अनुसार कर्तव्य सापेक्ष तथा निरपेक्ष दोनों ही प्रकार के हो सकते हैं। सापेक्ष कर्तव्यों से तात्पर्य उनका ऐसे कर्तव्यों से है जिसके साथ कोई सहवर्ती अधिकार तथ्य रहता है। आस्टिन ने निरपेक्ष कर्तव्यों के निम्नलिखित प्रकार बताए हैं—

(1) स्वयं से सम्बन्धित कर्तव्य जैसे किसी व्यक्ति का आत्महत्या न करने का कर्तव्य, नशा न करने का कर्तव्य आदि।

(2) अनिश्चित लोगों या जनसाधारण के प्रति कर्तव्य जैसे न्यूसेंस न करने का कर्तव्य।

(3) ऐसे कर्तव्य जो मानव जाति के प्रति न होकर अन्य के प्रति होते हैं, जैसे ईश्वर के प्रति कर्तव्य या पशुओं के प्रति कर्तव्य आदि।

(4) संप्रभुताधारी या राज्य के प्रति कर्तव्य।

आस्टिन का गलत विचार है— आस्टिन के मत की एक सूक्ष्म परीक्षा करने पर स्पष्ट होता है कि यह गलत है। उसके द्वारा उल्लिखित निरपेक्ष कर्तव्य विधिक अर्थ में कर्तव्य नहीं, या यदि वे कर्तव्य हैं तो भी वे निरपेक्ष नहीं हैं। ईश्वर के प्रति कर्तव्य कोई विधिक कर्तव्य नहीं है। यदि वह किसी स्टेट्यूट में समाविष्ट नहीं है।

जब व्यक्ति को अधिकार दिया जाता है तो यह माना जाता है कि उस पर कुछ कर्तव्य भी लगाए गए हैं। अधिकार के अपने सहसंबद्ध कर्तव्य होते हैं। जब व्यक्ति का कर्तव्य होता है कि वह अपना कर्तव्य निभाए, तो दो तरह के कर्तव्य होते हैं, जब उसका कोई कानूनी कर्तव्य होता है, लेकिन नैतिक कर्तव्य के मामले में उसका कोई दायित्व नहीं होता। यह व्यक्ति के विवेक पर निर्भर करता है। कर्तव्यों को निरपेक्ष और सापेक्ष कर्तव्य, सकारात्मक और नकारात्मक कर्तव्य और प्राथमिक और द्वितीयक कर्तव्य में वर्गीकृत किया गया है।

आधार	मौलिक अधिकार	संवैधानिक अधिकार
अर्थ	मौलिक अधिकार अधिकारों का एक समूह है जो एक सम्मानजनक मानव जीवन जीने के लिए जन्मजात आवश्यकताएं हैं।	संवैधानिक अधिकार भारतीय संविधान में भारत के लोगों को दिए गए अधिकार हैं। इसमें मौलिक अधिकार भी शामिल हैं।
अधिकारों का त्याग	छूट किसी दिए गए अधिकार को जानबूझकर त्यागने या त्यागने की प्रक्रिया है। मौलिक अधिकारों की छूट की अनुमति नहीं है जैसा कि बेहराम खुर्रिद पेसिकका बनाम बॉम्बे राज्य, 24 सितंबर, 1954 में पहली बार कहा गया था /	भारत में संवैधानिक अधिकारों का हनन नहीं किया जा सकता। हालाँकि, संयुक्त राज्य अमेरिका के सर्वोच्च न्यायालय ने अधिकारों के हनन की अनुमति दी है। गेटे बनाम आई.एन.एस., 121 एफ.3डी 1285, 1293 (9वाँ सर्किट 1997)
संशोधनीयता	मौलिक अधिकारों में संविधान संशोधन द्वारा संशोधन किया जा सकता है बशर्ते कि संविधान का मूल ढांचा अक्षुण्ण रहे।	संवैधानिक अधिकारों को संवैधानिक संशोधन द्वारा संशोधित किया जा सकता है, जबकि कानूनी अधिकारों को साधारण संशोधन द्वारा संशोधित किया जा सकता है।
आपातकाल के दौरान स्थिति	आपातकाल के दौरान अनुच्छेद 20 और अनुच्छेद 21 को छोड़कर सभी मौलिक अधिकार निलंबित कर दिए जाते हैं। अनुच्छेद 32(4) के अनुसार, संविधान में निर्धारित शर्तों यानी आपातकालीन प्रावधान के अलावा किसी अन्य आधार पर मौलिक अधिकारों को निलंबित नहीं किया जा सकता है।	आपातकालीन अवधि के दौरान सभी संवैधानिक अधिकार निलंबित नहीं होते हैं।

बंधन	उस विशेष अनुच्छेद में निहित मौलिक अधिकारों पर कुछ उचित प्रतिबंध लगाए गए हैं। उदाहरण के लिए- अनुच्छेद 21 जीवन और व्यक्तिगत स्वतंत्रता के अधिकार की गारंटी देता है, लेकिन यह " कानून द्वारा स्थापित प्रक्रिया" के अधीन है।	अनुच्छेद में निर्दिष्ट अधिकारों के अलावा, संवैधानिक अधिकार भी लोक सभा की इच्छा पर लगाए गए वैधानिक प्रतिबंधों के अधीन हैं। उदाहरण के लिए- अनुच्छेद 300 ए के तहत संपत्ति के अधिकार को 'कानून के अधिकार से' छीना जा सकता है। अगर यह मौलिक अधिकार होता तो ऐसा संभव नहीं होता।
अधिकारों से वंचित किये जाने पर उपाय	यदि किसी व्यक्ति को संविधान के भाग III के तहत अधिकारों से वंचित किया जाता है तो वह अनुच्छेद 32 के तहत सर्वोच्च न्यायालय या अनुच्छेद 226 के तहत उच्च न्यायालय में याचिका दायर कर सकता है।	किसी भी संवैधानिक अधिकार के उल्लंघन पर भी अनुच्छेद 226 के तहत उच्च न्यायालय का दरवाजा खटखटाया जा सकता है।
उदाहरण	मौलिक अधिकारों के उदाहरणों में शामिल हैं: निजता का अधिकार बुनियादी शिक्षा का अधिकार संवैधानिक उपचार पाने का अधिकार	संवैधानिक अधिकारों के उदाहरणों में शामिल हैं: संपत्ति का अधिकार विधायी विशेषाधिकार लोक सभा में कुछ वर्गों के लिए सीटों का आरक्षण

प्रश्न न0 3— स्वामित्व की अवधारणा की व्याख्या की विकास कीजिए कीजिए। स्वामित्व की अवधारणा की परिभाषा विस्तार में दीजिए।

उत्तर— स्वामित्व शब्द से कल्पना में संपत्ति की छवि उभरती है, संपत्ति जिसके बिना स्वामित्व या कब्जा नहीं हो सकता। आरंभिक समय में जब मनुष्य खानाबदोश थे और उनके पास खेती और सभ्यता का कौशल नहीं था, तब स्वामित्व की अवधारणा कभी भी मन में नहीं आई। हालाँकि, स्वामित्व की अवधारणा स्वामित्व की अवधारणा से पहले ही तैयार की गई थी और वह भी तभी जब मनुष्य ने खेती करना शुरू किया।

भारत के सर्वोच्च न्यायालय ने गुरु दत्त शर्मा बनाम बिहार राज्य मामले में कानूनी अवधारणा के रूप में संपत्ति को परिभाषित किया है, 'अधिकारों का एक समूह और मूर्त संपत्ति के मामले में इसमें कब्जा करने का अधिकार, आनंद लेने का अधिकार, नष्ट करने का अधिकार, रखने का अधिकार, अलग करने का अधिकार आदि शामिल होंगे।' और संपत्ति की स्पष्ट अवधारणा के साथ-साथ कब्जा और स्वामित्व के विचार भी आते हैं।

स्वामित्व की अवधारणा—

सभ्यता के विकास के साथ, मनुष्य खेती करने और अपना भोजन स्वयं बनाने और एक स्थान पर रहने के लिए बस गए, उन्होंने स्वामित्व के विचार को विकसित करना शुरू कर दिया और 'मेरा और तेरा' शब्दों को मान्यता दी, पहले कब्जा करने की अवधारणा आई और फिर स्वामित्व की अवधारणा विकसित हुई। रोमन कानून में दो अलग-अलग शब्द थे 'पॉजिसियो'श्, जो किसी चीज पर भौतिक नियंत्रण को दर्शाता है और श्डोमिनियमश् जो किसी चीज पर पूर्ण अधिकार को दर्शाता है। होल्ड्सवर्थ के अनुसार, अंग्रेजी कानून में पूर्ण अधिकार के रूप में स्वामित्व कब्जे के कानून में विकास के माध्यम से विकसित हुआ और श्वामित्वश् शब्द का पहली बार अंग्रेजी कानून में 1583 में इस्तेमाल किया गया था।

परिभाषा

स्वामित्व को कई न्यायविदों द्वारा परिभाषित किया गया है, कुछ का मानना है कि यह एक व्यक्ति और उसके पास निहित अधिकार के बीच का संबंध है और कुछ का मानना है कि यह एक व्यक्ति और उस चीज के बीच का संबंध है जो स्वामित्व का उद्देश्य है।

ऑस्टिन— उनके अनुसार, स्वामित्व का अर्थ है एक ऐसा अधिकार जो हर उस व्यक्ति के विरुद्ध लागू होता है जो कानून के अधीन है जो किसी चीज को अनिश्चित प्रकृति के उपयोग के लिए रखने का अधिकार देता है। और उपयोग के मामले में अनिश्चित, निपटान के मामले में अप्रतिबंधित और अवधि के मामले में असीमित अधिकार जब पूर्ण स्वामित्व की बात आती है।

ऑस्टिन की स्वामित्व की परिभाषा में तीन विशेषताएँ हैं—

उपयोग के मामले में अनिश्चित— इसका मतलब है कि मालिक अपनी इच्छानुसार संपत्ति का उपयोग कर सकता है। उदाहरण के लिए, यदि किसी व्यक्ति के पास जमीन का एक टुकड़ा है, तो वह उस पर घर बना सकता है, उसे बगीचे के रूप में इस्तेमाल कर सकता है या उसे ऐसे ही छोड़ सकता है। लेकिन साथ ही, उसे अपने पड़ोसियों को नुकसान पहुँचाने के लिए इसका इस्तेमाल नहीं करना चाहिए।

विनिमय के मामले में अप्रतिबंधित— मालिक के पास बिना किसी प्रतिबंध के हस्तांतरण या निपटान का अधिकार है। हालाँकि कानूनी व्यवस्थाएँ कुछ हस्तांतरण या निपटान पर कुछ प्रतिबंध लगाती हैं।

अवधि के मामले में असीमित— मालिक के पास तब तक स्वामित्व का अधिकार होता है जब तक कि वस्तु अस्तित्व में है और जैसे ही वस्तु नष्ट हो जाती है, अधिकार समाप्त हो जाता है।

सामंड— उनके अनुसार, "स्वामित्व, अपने सबसे व्यापक महत्व में, एक व्यक्ति और उसके पास निहित अधिकार के बीच संबंध को दर्शाता है। एक व्यक्ति के पास जो कुछ भी है, वह सभी मामलों में एक अधिकार है।"श् साथ ही वे

कहते हैं कि 'हर अधिकार का स्वामित्व होता है, और अधिकार के अलावा किसी और चीज का स्वामित्व नहीं हो सकता। हर व्यक्ति अपने अधिकारों का स्वामी है।'

उन्होंने भौतिक और अमूर्त स्वामित्व के बीच भी अंतर किया, 'हालाँकि स्वामित्व का विषय—वस्तु अपने व्यापक अर्थ में सभी मामलों में एक अधिकार है, लेकिन इस शब्द का एक संकीर्ण अर्थ है जिसमें हम भौतिक चीजों के स्वामित्व की बात करते हैं। हम जमीन या चल-अचल संपत्ति में अधिकार नहीं, बल्कि स्वामित्व, अधिग्रहण या हस्तांतरण की बात करते हैं, बल्कि 'स्वामित्व' का सबसे सामान्य अर्थ है। हम इसे भौतिक स्वामित्व के नाम से पुकारते हैं ताकि इसे अधिकारों के स्वामित्व से अलग किया जा सके जिसे 'अमूर्त स्वामित्व' कहा जा सकता है।

हॉलैंड—उन्होंने स्वामित्व के बारे में ऑस्टिन के दृष्टिकोण का अनुसरण किया और उनके अनुसार एक मालिक के पास तीन प्रकार की शक्तियाँ होती हैं; कब्जा, आनंद और स्वामित्व जिनमें से सभी या कुछ को पड़े या बंधक द्वारा खोया जा सकता है।

हिल्बर्ट—उनके अनुसार, स्वामित्व में चार अधिकार शामिल हैं जो वस्तु का उपयोग करने का अधिकार, दूसरों को इसका उपयोग करने से रोकने का अधिकार, वस्तु के निपटान का अधिकार और वस्तु के विनाश का अधिकार हैं। इस संबंध में भूमि पर पूर्ण स्वामित्व संभव नहीं है क्योंकि भूमि अविनाशी है, यही कारण है कि अंग्रेजी कानून में भूमि में कानूनी हित हो सकता है।

पोलक—उनके अनुसार, 'स्वामित्व को कानून द्वारा अनुमत उपयोग और निपटान की शक्तियों की संपूर्णता के रूप में वर्णित किया जा सकता है।'

मार्कबी के अनुसार किसी वस्तु पर स्वामित्व होना यह दर्शाता है कि उस वस्तु से सम्बन्धित समस्त अधिकार उस व्यक्ति में निहित है। अतः सपष्ट है कि स्वामित्व किसी व्यक्ति और वस्तु के बीच ऐसे सम्बन्धों का प्रतीक है जो उस वस्तु से सम्बन्धित समस्त अधिकार उस व्यक्ति में निहित करता है। परन्तु मार्कबी स्वामित्व को अधिकार का संकलित योग्य मानते हुए स्वतन्त्र व्यापक अधिकार के रूप में मानते हैं।

स्वामित्व के लक्षण—स्वामित्व के निम्नलिखित लक्षण होते हैं—

(1) स्वामित्व या तो पूर्ण होता है या सीमित होता है जब एक ही वस्तु या सम्पत्ति के अनेक सहस्वामी होते हैं तो प्रत्येक स्वामी का अधिकार दूसरे सहस्वामी के अधिकार द्वारा सीमित हो जाता है।

(2) राष्ट्रीय संकट काल में भी स्वामित्व सीमित हो जाता है। उदाहरण के लिए, युद्ध काल में सेना के लिए भवनों को अर्जित किया जा सकता है।

(3) स्वामी को अपने स्वामित्व के उपयोग के लिए राज्य को भी कर देना पड़ता है। अतः कर भी स्वामित्व को सीमित करता है।

(4) कोई भी स्वामी अपने स्वामित्व के अधिकार का प्रयोग इस प्रकार नहीं करता कि जिससे दूसरे स्वामियों के अधिकारों के अधिकारों का उल्लंघन हो। अपने अधिकार का उपयोग इस प्रकार करना चाहिए कि जिससे अन्य लोगों को क्षति न पहुँचे।

(5) स्वामी का यह भी स्वतन्त्रता है कि जिस तरह चाहे उसी तरह अपनी सम्पत्ति को कभी हस्तांतरित करे। वह अपने ऋणदाताओं को धोखा देने के लिए अपनी सम्पत्ति को कभी हस्तांतरित नहीं कर सकता।

(6) विधि के अन्तर्गत नाबलिंग अथवा पागल व्यक्ति स्थावर सम्पत्ति पर स्वामित्व के अधिकार का प्रयोग नहीं कर सकते क्योंकि विधिक धारणा यह है कि इस प्रकार के व्यक्ति को अपने कार्यों की वास्तविक प्रकृति तथा उसके परिणामों को समझने की क्षमता नहीं रखते।

स्वामित्व की प्रकृति और घटनाएँ

स्वामित्व की अवधारणा का विश्लेषण करने पर कुछ विशेषताएँ मिल सकती हैं जो स्वामित्व की प्रकृति या विशेषताओं जैसे उपयोग, आनंद, निपटान आदि को प्रकट करती हैं। स्वामित्व की प्रकृति इस प्रकार है: —

उपयोग के बिंदु पर यह अनिश्चित है, अर्थात्, उपयोगकर्ता स्वामित्व वाली वस्तु का किसी भी तरह से उपयोग कर सकता है और इसका उपयोग न करने के लिए बाध्य नहीं है। उपयोगकर्ता इसका उपयोग करने के लिए स्वतंत्र है। यह निपटान के बिंदु पर अप्रतिबंधित है। स्वामी अपने जीवनकाल के दौरान या यहाँ तक कि अपनी मृत्यु के बाद भी वसीयत के माध्यम से संपत्ति को हस्तांतरित या निपटान कर सकता है।

स्वामी को स्वामित्व वाली वस्तु पर अधिकार रखने का अधिकार है, हालाँकि यदि वह वास्तव में उस पर अधिकार रखता है।

प्रश्न न० 4—स्वामित्व के अर्जन के विभिन्न तरीके की व्याख्या कीजिए तथा आस्टिन के अनुसार आवश्यक तत्वों की विवेचना कीजिए। स्वामित्व के प्रकार की व्याख्या कीजिए।

उत्तर—स्वामित्व के अर्जन के तरीके— प्राचीन हिन्दू विधिशास्त्रियों ने स्वामित्व के अर्जन की नीतियों के बारे में कुछ लिखा है। नारद ने सम्पत्ति के स्वामित्व के अर्जन के 12 तरीके बताए हैं, किन्तु यह सभी तरीके सभी वर्गों के लिए नहीं थे। उनमें से कुछ तरीके केवल विशिष्ट वर्गों के लिए ही थे।

रोमन विधि में भी स्वामित्व के अर्जन की ऐसी ही रीतियाँ विहित की गई हैं जिनमें से बहुत सी अब भी मान्य हैं और उनमें से कुछ फेरबदल के साथ विद्यमान हैं। स्वामित्व के सन्दर्भ में वस्तुएं दो प्रकार की हो सकती हैं। ऐसी वस्तुएं जिनका स्वामित्व किसी व्यक्ति में न हो। ऐसी वस्तुएं स्वामीहीन सम्पत्ति कहलाती हैं तथा इन्हें कब्जे में लेकर इन पर स्वामित्व अर्जित किया जा सकता है, परन्तु ऐसी स्थिति पर जो पहले से किसी व्यक्ति के स्वामित्व में

है, व्युत्पन्न रीति से स्वामित्व प्राप्त किया जा सकता है। सामण्ड ने स्वामित्व अर्जन करने के दो प्रकार बताए हैं— पहला विधि के अर्जन द्वारा स्वामित्व अर्जित करना, दूसरा किसी कृत्य या घटना के फलस्वरूप स्वामित्व स्वामित्व का अर्जन।

यदि कोई व्यक्ति निरवसीयता सम्बन्धी विधि के प्रवर्तन से अथवा दिवाला सम्बन्धी कानून के प्रवर्तन के कारण किसी अन्य के सम्पत्ति पर स्वामित्व प्राप्त करता है, तो ऐसा स्वामित्व विधि की क्रिया द्वारा अर्जित कहा जाता जाएगा। परन्तु यदि कोई व्यक्ति किसी वस्तु का निर्माण करता है या उसे किसी अन्य व्यक्ति से प्राप्त है, तो ऐसा स्वामित्व उस व्यक्ति के कृत्य द्वारा अर्जित कहा जाएगा।

प्राचीन तथा मध्यकालीन इंग्लिश विधि में भूमि तथा चल सम्पत्ति के कब्जे को ही महत्व दिया गया था। कब्जे की भाँति स्वामित्व एक जटिल न्यायिक संकल्पना है। विभिन्न विधिक अधिकारों में स्वामित्व का अधिकार विशेष महत्व रखता है। प्राचीन विधि व्यवस्था में स्वामित्व और कब्जे के अर्थ तथा भेद के विषय में विधिवेत्ताओं के विचार स्पष्ट नहीं थे, फिर भी रोमन विधि के अन्तर्गत इन दोनों को एक-दूसरे से भिन्न माना गया था। रोमन विधि में स्वामित्व के लिए डोमिनियम तथा कब्जे के लिए पजेशिओ शब्दों का प्रयोग किया गया था। रोमन विधि के अन्तर्गत स्वामित्व किसी वस्तु पर पूर्ण अधिकार का द्योतक है, जबकि कब्जा उस वस्तु पर केवल भौतिक नियंत्रण का ही प्रदर्शित करता है। मेटरलैंड के अनुसार इंग्लिश विधि में स्वामित्व शब्द का प्रयोग सबसे सन 1583 ई० में किया जाता है।

उपर्युक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि रोमन-विधि स्वामित्व के पूर्ण अधिकार को कब्जे पर आधारित नहीं मानती, जबकि इंग्लिश विधि में कब्जे को ही स्वामित्व का ठोस एवं प्रबल प्रमाण माना गया है। अतः जब कोई व्यक्ति किसी वस्तु पर कब्जाधारी के स्वामित्व की तुलना में अधिक अधिकार सिद्ध नहीं कर देता, तब वह स्पष्ट तौर पर कब्जाधारी का ही स्वामित्व माना जाएगा।

स्वामित्व सम्बन्धी आस्टिन के विचार— आस्टिन ने स्वामित्व की व्याख्या करते हुए लिखा है कि स्वामित्व किसी निश्चित वस्तु पर ऐसा अधिकार है जो उपयोग की दृष्टि से अनिश्चित, व्ययन की दृष्टि से अनिर्वधित तथा अवधि की दृष्टि से असीमित है। इस दर्शाता है। आस्टिन के अनुसार स्वामित्व में निम्नलिखित तत्व होना आवश्यक है—

(1) **उपयोग की दृष्टि से अनिश्चित**— किसी वस्तु के स्वामी को यह पूर्ण अधिकार होता है कि वह उस वस्तु का मनचाहा उपयोग करे। कोई भी अन्य व्यक्ति उसके उपयोग-उपभोग में अनावश्यक विघ्न उत्पन्न नहीं कर सकता है। इसके लिए यह आवश्यक है कि स्वामी द्वारा वस्तु का उपयोग उपभोग इस प्रकार किया जाए कि वह अन्य व्यक्तियों को क्षति या न्यूसेन्स कारित ना करें।

(2) **व्ययन की दृष्टि से अनिर्वधित**— किसी वस्तु के स्वामी को यह अधिकार होता है कि वह उस वस्तु का मनचाहा व्ययन (disposal) या अन्तरण करे, जैसे—विक्रय, बन्धक, दान आदि। कोई व्यक्ति उसको ऐसे व्ययन या अन्तरण से तब तक इन्कार नहीं कर सकता है जब तक कि उस पर विधितया कोई भार (charge) या निर्बन्धन (restriction) अधिरोपित नहीं किया गया है।

(3) **अवधि की दृष्टि से असीमित**— स्वामित्व एक शाश्वत अधिकार है। उसका कभी अन्त नहीं होता। यहाँ तक कि स्वामी की मृत्यु के पश्चात भी वह उसके विधिमान्य वारिसों में निहित रहता है।

भारतीय विधि के अन्तर्गत स्वामित्व की स्थिति— अन्य देशों की भारतीय विधि व्यवस्था में भी सम्पत्ति पर स्वामित्व के अधिकार को मान्यता दी गई है। परन्तु भारत में कोई भी व्यक्ति किसी वस्तु पर अन्यत्र स्वामित्व नहीं रख सकता क्योंकि इस देश में स्वामित्व का अधिकार संविधियों तथा विनियमों द्वारा निर्बधित रख गया है। भूमि की अधिकतम सीमा सम्बन्धी कानून, भाड़ा नियंत्रण अधिनियम, बैंक राष्ट्रीयकरण तथा कम्पनी विधान आदि इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। प्राचीन हिन्दू विधि में भी व्ययन अप्रतिबंधित अधिकार को स्वामित्व का महत्व घटक माना गया है। कत्यायन के अनुसार स्वामी का व्ययन सम्बन्धी असीमित थी तथा उस पर कोई निर्बधन नहीं लगाया जा सकता है। स्वामित्व के प्रकार— स्वामित्व निम्नलिखित प्रकार का होता है—

(1) **मूर्त तथा अमूर्त स्वामित्व**—सामण्ड ने स्वामित्व शब्द का प्रयोग दो अर्थों में किया है— सीमित अर्थ में तथा व्यापक अर्थ में। सीमित अर्थ में स्वामित्व का आशय भौतिक वस्तुओं से होता है। जब किसी व्यक्ति को भौतिक वस्तुओं पर स्वामित्व प्राप्त हो तब उसे मूर्त स्वामित्व (corporeal ownership) कहते हैं। पार्थिव या मूर्त वस्तु से तात्पर्य उन वस्तुओं से है जिन्हें आँखों द्वारा देखा, परखा या स्पर्श किया जा सकता है, जैसे— भूमि, मकान, सिक्के आदि।

पोलक (Pollock) के अनुसार 'मूर्त स्वामित्व' से आशय पार्थिव वस्तु के वैध प्रयोग के पूर्ण अधिकार से है। व्यापक अर्थ में दृ स्वामित्व किसी व्यक्ति और उसमें निहित अधिकार का सूचक है। यह अधिकार वैयक्तिक, साम्पत्तिक (proprietary), लोक-लक्षी (in rem) अथवा व्यक्ति-लक्षी (in personam) इनमें से किसी भी स्वरूप का हो सकता है। अधिकार एक ऐसी अमूर्त संकल्पना है जिसकी अनुभूति आँखों द्वारा नहीं की जा सकती।

उदाहरण— पेटेन्ट, कॉपीराइट, मार्गाधिकार, दिये गये ऋण की राशि प्राप्त करने का अधिकार, आदि। अमूर्त स्वामित्व की विषय-वस्तु कोई मूर्त वस्तु न होकर अधिकार जैसी अमूर्त धारणा होती है। इस प्रकार स्पष्ट है कि भौतिक वस्तु के स्वामित्व को मूर्त स्वामित्व कहते हैं, जबकि किसी अधिकार के स्वामित्व को अमूर्त स्वामित्व कहा जाता है।

उदाहरण— यदि किसी व्यक्ति की जेब में दस रुपये हैं, तो उसका उन रुपयों पर 'मूर्त स्वामित्व' होगा क्योंकि ये रुपये मूर्त वस्तु हैं जिसकी अनुभूति आँखों द्वारा की जा सकती है। परन्तु यदि उस व्यक्ति को अपने ऋणी से दस रुपये लेने हैं, तो उस ऋण राशि को प्राप्त करने के उसके अधिकार को अमूर्त स्वामित्व कहा जायेगा क्योंकि इस अधिकार को आँखों से अनुभव नहीं किया जा सकता है।

(2) न्यास स्वामित्व तथा हितप्रद स्वामित्व—सम्पत्ति का न्यास दोहरे स्वामित्व (duplicate ownership) का एक अनोखा उदाहरण है। न्यास सम्पत्ति पर एक ही समय दो व्यक्तियों का स्वामित्व होता है। जैसे— एक तो न्यासी (trustee) उस सम्पत्ति पर स्वामित्व रखता है व दूसरी ओर हिताधिकारी को भी उस सम्पत्ति पर स्वामित्व प्राप्त होता है। न्यास सम्पत्ति न्यासी के स्वामित्व को 'न्यास-स्वामित्व' कहते हैं तथा उस सम्पत्ति पर हितग्राही के स्वामित्व को हितप्रद स्वामित्व कहा जाता है। वस्तुतः न्यासी का स्वामित्व हितग्राही के कल्याण के लिए ही होता है, जिससे वह नाम मात्र का स्वामी होता है तथा न्यास सम्पत्ति का उपयोग स्वयं के लाभ के लिए नहीं कर सकता है। न्यास सम्पत्ति का वास्तविक स्वामित्व हितग्राहियों में निहित होता है, अर्थात् सम्पत्ति हितग्राही की होती है, न कि न्यासी की। न्यासी तो न्यास सम्पत्ति से सम्बन्धित हितग्राही के अधिकारों का केवल प्रतिनिधित्व या प्रबंधन करता है, अन्यथा भी हितग्राही को छोड़कर किसी तीसरे व्यक्ति के बजाय न्यास के स्वामित्व को विधिक प्राथमिकता प्राप्त है। न्यास के सम्बन्ध में सामण्ड ने कहा कि— इसका मुख्य उद्देश्य उन व्यक्तियों के अधिकारों और हितों को संरक्षण देना है, जो किसी कारणवश स्वयं प्रभावी रूप से अपने हितों का संरक्षण करने में असमर्थ हैं।

(3) विधिक स्वामित्व तथा साम्यिक स्वामित्व—विधिक स्वामित्व तथा साम्यिक स्वामित्व का भेद इंग्लैण्ड के कॉमन लॉ तथा साम्या विधि पर आधारित है। कई बार किसी एक ही वस्तु पर एक व्यक्ति का स्वामित्व होता है और दूसरे का उस पर साम्यिक स्वामित्व हो सकता है। उदाहरण के रूप में— किसी न्यासी का स्वामित्व विधिक स्वामित्व होता है, जबकि हितग्राही का स्वामित्व साम्या द्वारा मान्य होने के कारण साम्यिक स्वामित्व माना जाता है। सारांश यह है कि जिस स्वामित्व का उद्भव कॉमन लॉ के नियमों से हुआ है उसे 'विधिक स्वामित्व' कहते हैं और जिस स्वामित्व की उत्पत्ति साम्या के नियमों से हुई है, उसे 'साम्यिक स्वामित्व' कहा जाता है। कॉमन लॉ ने साम्यिक स्वामित्व को मान्य नहीं किया था तथा इसे केवल चांसरी न्यायालय ने मान्यता प्रदान की थी।

(4) एकल स्वामित्व तथा सह स्वामित्व— यदि स्वामित्व का अधिकार एक ही व्यक्ति में निहित होता है तब ऐसे स्वामित्व को 'एकल स्वामित्व' कहते हैं। लेकिन स्वामित्व का अधिकार दो या दो से अधिक व्यक्तियों में संयुक्त रूप से निहित हो, तो उस दशा में प्रत्येक के स्वामित्व को 'सह-स्वामित्व' कहा जायेगा। इसका आशय यह कभी नहीं है कि सभी व्यक्ति उस सम्पत्ति के किसी हिस्से के पृथक्-पृथक् स्वामी हैं। स्वामित्व का अधिकार एक अविभाज्य अधिकार है जो एक साथ अनेक व्यक्तियों में संयुक्त रूप से निहित हो सकता है। लेकिन बँटवारे द्वारा स्वामित्व के अधिकार को पृथक्-पृथक् हिस्सों में विभाजित किया जा सकता है।

सह स्वामित्व (co & ownership) के दो प्रमुख भेद हैं—

(क) सामान्य या एक ही स्वामित्व— सामान्य या एक ही स्वामित्व में दो या दो से अधिक अधिक व्यक्ति एक साथ किसी भूमि या वस्तु पर अपना स्वामित्व रखते हैं। उनका कब्जा अविभाजित रहता है और उनमें से प्रत्येक व्यक्ति अन्य सह-स्वामियों के साथ उस भूमि या वस्तु का स्वामी होता है। सामान्य स्वामित्व में किसी एक सह-स्वामी की मृत्यु के बाद उसका अधिकार उसके उत्तराधिकारी को प्राप्त हो जाता है। सामान्य स्वामित्व को सह आभोग (tenancy in common) भी कहते हैं।

(ख) संयुक्त स्वामित्व—संयुक्त स्वामित्व में किसी सह-स्वामी की मृत्यु हो जाने पर उसका स्वामित्व (ownership) भी समाप्त हो जाता है तथा शेष जीवित सह-स्वामी उत्तरजीविता के अधिकार (right of survivorship) के आधार पर उस सम्पत्ति के पूर्ण स्वामी हो जाते हैं। इसके सह-स्वामी की मृत्यु के बाद उत्तराधिकारी को स्वामित्व प्राप्त नहीं होता, अपितु वह शेष जीवित सह-स्वामियों में अन्तरित हो जाता है। संयुक्त स्वामित्व को संयुक्त आभोग भी कहा जाता है। किसी भागीदारी फर्म में भागीदारों (Partner) का स्वामित्व संयुक्त स्वामित्व होता है।

(5) निहित स्वामित्व तथा समाश्रित स्वामित्व—ऐसा स्वामित्व जिसमें स्वामित्व प्राप्त करने सम्बन्धी सभी बातें पूर्ण हो जाती हैं तथा स्वामी का हक पहले से ही पूर्ण रहता है तो वह स्वामित्व निहित स्वामित्व (अमेजमक वूदमतीपच) कहलाता है। जैसे—यदि कोई व्यक्ति अपनी सम्पत्ति किसी दूसरे व्यक्ति को अन्तरित कर देता है, तो उस दूसरे व्यक्ति को उस सम्पत्ति पर निहित स्वामित्व प्राप्त होगा। निहित स्वामित्व में स्वामी को पूर्ण अधिकार (absolute right) प्राप्त हो जाते हैं। इसी प्रकार यदि स्वामित्व प्राप्त करने सम्बन्धी कुछ बातें घटित या पूर्ण हो जाती हैं लेकिन कुछ का पूर्ण होना या न होना शेष रह जाता है, तो ऐसा स्वामित्व समाश्रित स्वामित्व कहलाता है। समाश्रित स्वामित्व में स्वामी केवल सशर्त स्वामी होता है। उदाहरण दृ यदि कोई व्यक्ति अपनी वसीयत में यह उल्लेख करता है कि उसकी मृत्यु के पश्चात् उसकी जायदाद उसकी पत्नी को (पत्नी के जीवन-पर्यन्त) सौंपी जाये तथा पत्नी की मृत्यु के पश्चात् वह जायदाद 'क' को सौंपी जाये और यदि 'क' उस समय तक मृत हो, तो उसे 'ख' को सौंपा जाये, तो उस दशा में 'क' और 'ख' दोनों ही उस सम्पत्ति के समाश्रित स्वामी होंगे क्योंकि 'क' को सम्पत्ति तभी मिलेगी जब वसीयतकर्ता की पत्नी की मृत्यु हो जाये और 'क' उस समय जीवित हो। इसी प्रकार 'ख' को सम्पत्ति तभी मिलेगी जब वसीयतकर्ता की पत्नी और 'क' दोनों ही की मृत्यु हो जाये और 'ख' जीवित रहे।

इसका सारांश यह है कि समाश्रित स्वामित्व में सम्पत्ति का स्वामित्व किसी विनिर्दिष्ट अनिश्चित घटना के घटित होने या ना होने पर ही स्वामी में निहित होता है। स्वामी का समाश्रित स्वामित्व विनिर्दिष्ट घटना के घटित होने या ना होने पर निहित—स्वामित्व में परिवर्तित हो जाता है।

समाश्रित स्वामित्व की दो शर्तें हैं—

(1) पुरोभाव्य शर्त (Condition Precedent)— पुरोभाव्य शर्त ऐसी शर्त होती है जिसकी पूर्ति होने पर अधूरा हक पूरा हो जाता है। पुरोभाव्य शर्त की दशा में जो अधिकार पहले ही सशर्त अर्जित किया गया होता है, वही पूर्ण रूप से अर्जित हो जाता है।

(2) उत्तरभाव्य शर्त (Condition Subsequent)—उत्तरभाव्य शर्त ऐसी शर्त होती है जिसकी पूर्ति होने पर हक का लोप हो जाता है, अर्थात् वह नष्ट हो जाता है।

उदाहरण— यदि कोई वसीयतकर्ता अपनी सम्पत्ति पत्नी के लिए इस शर्त के साथ छोड़ जाता है कि यदि वह पुनर्विवाह करती है, तो उस सम्पत्ति से वंचित हो जायेगी तथा वह सम्पत्ति वसीयतकर्ता के पुत्रों को चली जायेगी, तो इस दशा में पत्नी को उस सम्पत्ति पर निहित स्वामित्व प्राप्त होगा तथा वसीयतकर्ता के पुत्र उस सम्पत्ति पर समाश्रित स्वामित्व रखेंगे। यहाँ यह स्पष्ट करना उचित होगा की पत्नी के पुनर्विवाह की शर्त उसके स्वयं के निहित स्वामित्व (vested ownership) के सम्बन्ध में उत्तरभाव्य शर्त (condition subsequent) है, जबकि वसीयतकर्ता के पुत्रों के समाश्रित स्वामित्व के सम्बन्ध में वह पुरोभाव्य शर्त (condition precedent) है। पत्नी पुनर्विवाह करती है, तो उसके निहित स्वामित्व का लोप हो जायेगा तथा पुत्रों का समाश्रित स्वामित्व, निहित स्वामित्व में बदल जायेगा तथा वे उस सम्पत्ति पर पूर्ण अधिकार प्राप्त कर लेंगे।

प्रश्न न0 5— विधिक व्यक्तित्व की अवधारणा की व्याख्या कीजिए। विधिक व्यक्तित्व की विभिन्न सिद्धान्तों की व्याख्या कीजिए।

उत्तर— विधिक व्यक्तित्व— विधि का निर्माण मानव समुदाय के लिए किया जाता है दुसरे शब्दों में विधि का अस्तित्व ही मानव के लिए है। विधि का मुख्य कार्य मानव आचरण को नियंत्रित करना है। ऐसी स्थिति में शब्द 'व्यक्ति' (Person) का महत्त्व बढ़ जाता है। अध्ययन की दृष्टि से शब्द व्यक्ति एवं विधिक व्यक्ति दोनों ही बड़े महत्त्वपूर्ण हैं।

विधिक व्यक्ति की परिभाषा—

पैटन (Paton) के अनुसार — विधिक व्यक्तित्व विधि का एक कृत्रिम सृजन है। इसके अनुसार 'विधिक व्यक्ति' (legal person) का प्राकृतिक प्राणी अथवा मनुष्य होना आवश्यक नहीं है। पैटन के शब्दों— "वे सभी अस्तित्व जो अधिकार एवं कर्तव्य धारण करने योग्य इकाइयाँ हैं, 'विधिक व्यक्ति' (legal person) हैं।"

सॉमण्ड के अनुसार — "विधिक व्यक्ति (legal person) से अभिप्राय मानव के अलावा अन्य किसी ऐसी इकाई से है जिसे विधि के अन्तर्गत व्यक्तित्व प्राप्त है।" आसान शब्दों में कहा जा सकता है कि "विधिक व्यक्ति एक ऐसा—कृत्रिम या काल्पनिक व्यक्ति होता है जो विधि की दृष्टि में व्यक्ति है, किन्तु तथ्यतः वह वास्तविक मनुष्य नहीं है।" विधिक व्यक्ति को कृत्रिम, काल्पनिक या न्यायिक व्यक्ति भी कहा जाता है।

केल्सन के शब्दों में — "विधिक व्यक्ति एक मिथक है, क्योंकि इसमें अधिकार एवं कर्तव्यों से अधिक और कुछ नहीं होता है।"

विश्लेषणात्मक विचारधारा के अनुसार — "विधिक व्यक्ति (legal person) अधिकारों एवं कर्तव्यों का धारक है।"

हीगेल (Hegel) के अनुसार— "व्यक्तित्व न्यायपूर्ण इच्छा की आत्मनिष्ठ सम्भावना है।"

यह भी जाने — विधिक कर्तव्य की अवधारणा एवं इसके प्रकार विधिशास्त्र के अनुसार द्य **Types of Legal Duty**

विधिक व्यक्ति के प्रकार—

हिबर्ट के अनुसार विधिक व्यक्ति तीन प्रकार के हो सकते हैं—

(1) निगम— विधि के अन्तर्गत निगम की रचना अधिनियमों के अधीन होती है निगम एक विधिक व्यक्ति है और विधिक सृजन का एक अच्छा उदाहरण है। निगम व्यक्तियों का एक ऐसा वर्ग या शृंखला है जिसे स्वयं एक विधिक मिथक द्वारा मान्यता प्राप्त है। एक पंजीकृत श्रमिक संघ विधिक व्यक्ति है जो यद्यपि शाब्दिक तौर पर उसे निगम नहीं कहा जा सकता है। केरल उच्च न्यायालय द्वारा 'एम. परमशिवम् बनाम यूनियन ऑफ इंडिया' (ए.आई.आर. 2007 एन.ओ.सी. 600 केरल) के मामले में स्टेट इलेक्ट्रिसिटी बोर्ड को विधिक व्यक्ति (legal person) माना गया है। बोर्ड द्वारा परिवाद पेश किया जा सकता है।

(2) संस्था—संस्थाएँ भी विधिक व्यक्ति (legal person) होती हैं। इन्हें निगमित निकाय के सामान माना जाता है। इनका शाश्वत उत्तराधिकार और सामान्य मुहर भी होती है। इनके द्वारा सम्पत्ति प्राप्त की जा सकती है। इसके विरुद्ध एवं इनके द्वारा वाद लाया जा सकता है। इसमें व्यक्तित्व संस्था से सम्बद्ध व्यक्तियों के किसी वर्ग को प्रदान न कर स्वयं संस्था को प्रदान किया जाता है। इसके उदाहरण— विश्वविद्यालय, पुस्तकालय, चिकित्सालय, चर्च आदि हैं।

(3) **निधि या सम्पदा**—कुछ विशिष्ट प्रयोजनों में प्रयुक्त निधि या सम्पदा को भी विधिक व्यक्ति माना गया है। पूर्व निधि, न्यास सम्पदा, मृतक या दिवालिया व्यक्ति की सम्पत्ति आदि इसके अच्छे उदाहरण हैं।

निगमित व्यक्तित्व (corporate personality)—निगमित निकाय अथवा व्यक्तित्व (corporate personality) विधिक व्यक्ति का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। निगमित व्यक्तित्व जीवित प्राणी नहीं होते हुए भी विधि की दृष्टि में उसकी वह प्रास्थिति है जो एक जीवित प्राणी की होती है। निगमित व्यक्तित्व की संरचना अधिनियमित विधि के अधीन होती है।

सॉमण्ड के अनुसार — “निगम व्यक्तियों का एक ऐसा समूह है जो विधिक कल्पना द्वारा विधिक व्यक्ति के रूप में मान्य किया गया है।” इस प्रकार निगम की संरचना मनुष्य के वर्गों एवं श्रेणियों के मानवीकरण से होती है। इस विधिक व्यक्ति (legal person) की काय (corpus) इसके सदस्य होते हैं।

निगम का विधिक व्यक्तित्व कल्पना पर आधारित होने के कारण इसे कल्पित या कृत्रिम व्यक्ति भी कहा जाता है। विश्वविद्यालय, चिकित्सालय, पुस्तकालय, मन्दिर, बैंक, रेलवे आदि विधिक व्यक्ति (legal person) होकर निगमित व्यक्तित्व की तरह प्रस्थिति रखते हैं। भारत संघ (Union of India) को भी विधिक व्यक्ति का स्थान प्राप्त है।

निगमित निकाय के कुछ महत्वपूर्ण लक्षण—

(1) इसका शाश्वत उत्तराधिकार होता है। निगमित निकाय की कभी मृत्यु नहीं होती है। निगमित निकाय के किसी सदस्य की मृत्यु हो जाने या उसके हट जाने से निकाय का समापन नहीं हो जाता है अपितु ऐसे व्यक्ति का स्थान उसके वारिस या अन्य प्राधिकृत व्यक्ति द्वारा ले लिया जाता है।

(2) इसकी अपनी एक सामान्य मुहर (संज्ञा) होती है।

(3) यह सम्पत्ति धारण कर सकता है।

(4) इसके विरुद्ध वाद लाया जा सकता है एवं इसकी ओर से वाद लाया जा सकता है।

विधि के अन्तर्गत निगम दो प्रकार के होते हैं—

(1) **एकल निगम (Corporation sole)**—एकल निगम क्रमवर्ती व्यक्तियों की एक निगमित शृंखला है। एकल निगम एक के बाद एक आने वाले व्यक्तियों की ऐसी निगमित शृंखला है जिसमें एक समय में एक ही व्यक्ति होता है। विधि के अनुसार एकल निगम का उद्देश्य वही है जो समाहृत निगम का है। एकल निगम में एक की मृत्यु के बाद वह पद तथा उससे सम्बंधित सम्पत्ति, दायित्व आदि समाप्त नहीं होते हैं बल्कि वे उस पद को ग्रहण करने वाले अगले व्यक्ति में समाहित हो जाते हैं। उदाहरण दृ. इंग्लैण्ड का सम्राट, पोस्ट मास्टर जनरल, किसी विभाग का मंत्री आदि ऐसे एकल निगम हैं जिन्हें विधिक व्यक्तित्व प्राप्त है। ये व्यक्ति किसी ऐसे लोक पद के धारक होते हैं जो निगम के रूप में विधि द्वारा मान्य होते हैं।

(2) **समाहृत निगम (Corporation aggregate)**—समाहृत निगम सह विद्यमान व्यक्तियों का ऐसा समूह है जो किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए संगठित होता है। इसे समादृत निगम भी कहा जाता है। लिमिटेड कंपनी समाहृत निगम का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है। इसमें कम्पनी के प्रत्येक अंशधारी का दायित्व उसके द्वारा धारित अंशों की अदत्त पूँजी राशि तक ही सीमित रहता है। ‘सोलोमन बनाम सोलोमन एण्ड कम्पनी’ (1887 ए.सी. 22) इसका एक अच्छा उदाहरण है, इसमें यह कहा गया है कि समाहृत निगम का मुख्य लक्षण है — “कतिपय प्रयोजनों के लिए अपने सदस्यों से पृथक् अस्तित्व रखना।” **उदाहरण** — निगमित कंपनी की अस्तियों तथा सम्पत्ति पर उसका स्वयं का अधिकार होता है वह अंशधारियों का अधिकार केवल लाभांश तक ही सीमित होता है। यही कारण है कि कम्पनी दिवालिया हो जाने पर भी अंशधारी की आर्थिक स्थिति पर कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ता है। इसी प्रकार किसी अंशधारी के दिवालिया हो जाने पर भी कम्पनी की आर्थिक स्थिति सुदृढ़ बनी रहती है वह इसके अलावा कम्पनी के सभी अंशधारियों की मृत्यु हो जाने पर भी उसका अस्तित्व समाप्त नहीं होता है।”

निगमित निकाय के सिद्धान्त— निगमित व्यक्तित्व के स्वरूप के सम्बन्ध में विधिवेत्ताओं के भिन्न-भिन्न विचार रहे हैं।

(1) **परिकल्पना का सिद्धान्त**— इसे मिथकीय या कल्पितार्थ सिद्धान्त (Fiction theory) भी कहा जाता है। इस सिद्धान्त के प्रबल समर्थकों में सैविनी, सॉमण्ड, ग्रे, हॉलैण्ड, केल्लसन आदि के नाम प्रमुख हैं। परिकल्पना के सिद्धान्त के अनुसार निगमित व्यक्तित्व एक विधिक कल्पना मात्र है जिसका मुख्य उद्देश्य सामूहिक रूप से एकत्रित हुए व्यक्तियों के अस्थिर संगठन में एकता लाना है। अतः यह कल्पित व्यक्तित्व उन व्यक्तियों के वास्तविक व्यक्ति से अलग होता है जो इसका सृजन करते हैं। इसमें निगम के सदस्यों में परिवर्तन का निगम के अस्तित्व पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। सॉमण्ड की धारणा अनुसार— निगमित निकाय अपने सदस्यों से भिन्न होता है तथा सभी सदस्यों द्वारा त्याग दिए जाने पर भी निगम का अस्तित्व बना रहता है। संसद के अधिनियम के अन्तर्गत निगमित किसी निगम का समापन केवल अधिनियमित विधि द्वारा ही किया जा सकता है।

(2) **यथार्थवादी सिद्धान्त**—इस सिद्धान्त के प्रमुख प्रणेता जर्मन विधिशास्त्री गियर्के (Gierke) थे एवं पोलक, डायसी व मेटलैण्ड को इसका समर्थक माना जाता है। इसे यथार्थता का सिद्धान्त (Realist theory) भी कहा जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार निगम का अस्तित्व अपने सदस्यों के सामूहिक स्वरूप से भिन्न होता है। निगमित व्यक्तित्व कल्पना पर आधारित नहीं होता वरन इसका एक वास्तविक अस्तित्व होता है जिसे विधि एवं राज्य द्वारा मान्यता प्राप्त होती है। जब अनेक व्यक्ति सामूहिक रूप से मिलकर निगम की स्थापना करते हैं तो ऐसी स्थापना से एक नवीन इच्छा का अभ्युदय होता है जो उस निगम की इच्छा कहलाती है और ऐसी इच्छा निगम के निदेशकों,

संचालकों, अधिकारियों एवं कर्मचारियों के माध्यम से अभिव्यक्त होती है। यथार्थवादी सिद्धान्त के समर्थकों का मत है कि सामूहिक व्यक्तित्व एक कल्पना मात्र नहीं होकर वास्तविकता है। यहाँ वास्तविकता से तात्पर्य दृ वास्तविक व्यक्ति अथवा भौतिक वास्तविकता से नहीं होकर मनोवैज्ञानिक वास्तविकता से है। आधुनिक यथार्थवादी सिद्धान्त मानव व्यक्तित्व के विश्लेषण पर टिका हुआ है।

(3) कोष्ठक सिद्धान्त— जर्मन विधिशास्त्री इहरिंग इसके प्रबल समर्थक माने जाते हैं, उनका मत था कि, केवल निगम के सदस्य ही वास्तविक व्यक्ति हैं और निगम के रूप में सृजित विधिक व्यक्तित्व की स्थिति एक कोष्ठक (bracket) के समान है जो सदस्यों के सामूहिक स्वरूप को प्रदर्शित करता है। निगम के माध्यम से उसके सदस्यों के सामान्य हितों को क्रियान्वित किया जाता है। कोष्ठक सिद्धान्त के समर्थकों का मत है कि जिस प्रकार किसी शब्द के पर्यायवाची शब्दों को कोष्ठक में रखकर अभिव्यक्त किया जाता है, उसी प्रकार विभिन्न व्यक्तियों के सामूहिक स्वरूप को 'निगम' के रूप में अभिव्यक्त किया जाता है और उन्हें एकरूपता प्रदान की जाती है। कोष्ठक सिद्धान्त (Bracket theory) को प्रतीकवादी सिद्धान्त भी कहा जाता है।

(4) रियायत का सिद्धान्त— प्रमुख विधिशास्त्री सैविनी, सॉमण्ड, डायसी आदि इस सिद्धान्त के समर्थक माने जाते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार—विधिक व्यक्ति के रूप में निगम का महत्त्व इसलिये है, क्योंकि इसे राज्य या विधि द्वारा मान्यता प्राप्त होती है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि निगम का विधिक व्यक्तित्व राज्य द्वारा उसे प्रदत्त की गई एक रियायत है जिसे विधि स्वीकार करती है। रियायत का सिद्धान्त (Concession theory) नेशन स्टेट की शक्ति के उदय की ऊपज है। इसमें राज्य की सर्वोच्चता पर बल दिया गया और उसे सुदृढ़ बनाना इसका लक्ष्य रहा है। किसी भी नियम या निकाय को व्यक्ति का स्वरूप प्रदान करना राज्य के विवेकाधिकार की विषय-वस्तु है। राज्य चाहे तो व्यक्तित्व का स्वरूप प्रदान कर सकता है और चाहे तो ऐसा करने से मना कर सकता है। यह सिद्धान्त परिकल्पना के सिद्धान्त से मिलता जुलता है।

(5) प्रयोजन सिद्धान्त— प्रयोजन सिद्धान्त (Purpose theory) का मूल या प्रारम्भिक आधार प्रतीकवादी सिद्धान्त के समान ही है। यह सिद्धान्त इस मूलभूत अवधारणा पर आधारित है कि अधिकारों एवं कर्तव्यों की विषय-वस्तु केवल वास्तविक जीवित मनुष्य ही होते हैं। यह किसी निर्जीव वस्तु में व्यक्तित्व अधिरोपित करने में विश्वास नहीं रखता है। निगमों का व्यक्तित्व वास्तविक नहीं होने के कारण उनमें कर्तव्यों एवं अधिकारों को धारणा करने की सामर्थ्य नहीं होती है। वे केवल विषय रहित अस्तित्व रखते हैं जिन्हें कतिपय विशेष प्रयोजनों के लिए विधिक व्यक्ति के रूप में स्वीकार कर लिया जाता है। प्रयोजन सिद्धान्त के मुख्य प्रवर्तक जर्मन विधिशास्त्री ब्रिन्झ (Brin) माने जाते हैं। डेमेलियस, बेक्सर तथा प्लानीयोल इसके प्रबल समर्थकों में हैं। इंग्लैण्ड में इस सिद्धान्त को विकसित करने का श्रेय बार्कर को जाता है।

प्रश्न न० 6— कब्जे की अवधारणा की व्याख्या कीजिए। कब्जा के विभिन्न प्रकार की व्याख्या कीजिए।

उत्तर— विधिशास्त्र के अन्दर आधिपत्य अर्थात् कब्जे (possession) का महत्वपूर्ण स्थान है। सांपत्तिक अधिकार के रूप में स्वामित्व के बाद कब्जे का ही स्थान है। कब्जा किसी वस्तु और व्यक्ति के बीच निरन्तर तथा वास्तविक सम्बन्ध को कहा जाता है। फ्रेड्रिक पोलक के अनुसार— कब्जे से तात्पर्य किसी वस्तु पर भौतिक नियंत्रण से है। हम सभी यह जानते हैं कि भौतिक वस्तुओं के उपयोग तथा उपभोग के बिना मानव का जीवन असम्भव है। जीवित रहने के लिए मानव को भोजन, कपड़ा और मकान चाहिये।

सामण्ड के अनुसार — मानव जीवन के लिए भौतिक वस्तुओं पर आधिपत्य होना परम आवश्यक है। उनके अनुसार कब्जा (possession) मनुष्यों और वस्तुओं के बीच आधारभूत सम्बन्धों को प्रकट करता है।

कब्जे की परिभाषा (definition of possession)- कब्जे के सम्बन्ध में विधिशास्त्रियों ने अलग अलग परिभाषा दी है जो निम्नलिखित है—

सामण्ड के अनुसार— किसी वस्तु और व्यक्ति के बीच निरन्तर तथा वास्तविक सम्बन्ध को कब्जा (possession) कहते हैं। किसी भौतिक वस्तु पर कब्जे से आशय यह है कि संसार का कोई भी अन्य व्यक्ति उस वस्तु पर कब्जाधारी के विरुद्ध अधिकार न रखे। इस परिभाषा से स्पष्ट है कि सामण्ड ने कब्जे का सम्बन्ध 'वस्तु' से माना है, न कि अधिकार से। **झकरिया (Zachariae) के अनुसार—** 'कब्जा' किसी वस्तु तथा व्यक्ति के बीच ऐसा सम्बन्ध है जो यह दर्शाता है कि वह व्यक्ति उस वस्तु को धारण करने का आशय तथा उसके व्ययन (disposal) की क्षमता रखता है। **औचिनी (Savigny) के अनुसार—** मूर्त कब्जे का सारतत्त्व यह है कि कब्जाधारी अपने भौतिक बल के आधार पर अन्य व्यक्तियों की कब्जाधीन वस्तु के उपयोग या उपभोग से वर्जित रखे। **मार्कबी (Markby) के अनुसार—** किसी व्यक्ति द्वारा स्वतः के लिए अपने भौतिक बल के प्रयोग से किसी वस्तु को अपने भौतिक नियंत्रण में रखने की दृढ़ इच्छा एवं सामर्थ्य; को ही 'कब्जा' कहा जाता है। **इहरिंग के अनुसार—** "कब्जा रक्षात्मक स्वामित्व है।" इसका अर्थ यह है कि कब्जा स्वामित्व की ढाल है जो तथ्यतः स्वामित्व रखने वाले व्यक्ति को प्राप्त होती है।

आंग्ल विधि के अनुसार कब्जे की मुख्य तीन अवधारणा है—

- (1) किसी व्यक्ति का वस्तु पर कब्जा और भौतिक नियंत्रण दोनों हो सकता है।
- (2) किसी व्यक्ति या भौतिक नियंत्रण के बिना भी वस्तु पर कब्जा हो सकता है।
- (3) किसी व्यक्ति का कब्जे के बिना भी वस्तु पर भौतिक नियंत्रण हो सकता है।

कब्जे की व्याख्या करते हुए **हालैंड ने लिखा है** कि इसमें दो तत्वों का विद्यमान होना आवश्यक है। प्रथमतः कजाधारी का कब्जाधीन वस्तु पर वास्तविक सामर्थ्य होना चाहिए तथा द्वितीयतः उस सामर्थ्य से लाभ उठाने की इच्छा होनी चाहिये। आंग्ल विधि में इन्हें क्रमशः 'कार्पस' तथा 'एनीमस' कहा गया है।

सैविनी ने कब्जे सम्बन्धी अपने सिद्धान्त में कब्जे के लिए दो तत्व 'कॉरपस पजेशियांसिस' (**corpus possessionis**) तथा 'एनिमस डोमिनी' (**animus domini**) बताये हैं। जिनमें कॉरपस पजेशियांसिस का अर्थ—प्रभावी नियंत्रण (**effective control**) तथा बाह्य हस्तक्षेप को बहिष्कृत करने की क्षमता और 'एनिमस डोमिनी' शब्द का अर्थ किसी वस्तु को स्वामी के रूप में धारित किये रहने की इच्छा से है।

अमेरिका के जस्टिस होम्स के अनुसार— किसी वस्तु पर कब्जा अर्जित करने के लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति का उस वस्तु से भौतिक सम्बन्ध हो तथा साथ ही उस वस्तु के प्रति उसका एक निश्चित आशय भी हो। इससे स्पष्ट होता है कि कब्जे के साथ भौतिक एवं मानसिक, दोनों ही तत्व जुड़े रहते हैं। इस प्रकार मूर्त कब्जे के लिए उसमें दो तत्वों का होना आवश्यक है। प्रथम भौतिक अथवा वस्तुनिष्ठ (**physical or objective**) तत्व तथा द्वितीय मानसिक या आत्मनिष्ठ (**mental or subjective**) तत्व।

कब्जे के आवश्यक तत्व—रोमन विधिशास्त्रियों ने कब्जे के भौतिक तत्व को 'कॉरपस' तथा मानसिक तत्व को 'एनिमस' कहा है। इन दोनों तत्वों को विधिक भाषा में कब्जे का काय तथा धारणाशय कहा जा सकता है।

कब्जे का भौतिक तत्व— कब्जे का पहला आवश्यक तत्व 'कब्जे का काय' है इसे कब्जे का भौतिक तत्व भी कहा जाता है। यह तत्व किसी वस्तु पर वास्तविक कब्जे का द्योतक है। शब्द कॉरपसप् से तात्पर्य वस्तु पर एकल नियंत्रण तथा उस वस्तु के प्रति दूसरों को कब्जे से अपवर्जित रखने की क्षमता से है। कब्जाधारी को इस प्रकार की सुरक्षा निम्न प्रकार से प्राप्त हो सकती है—

(1) **कब्जाधारी की भौतिक शक्ति**— कब्जाधारी की भौतिक शक्ति उसे कब्जाधीन वस्तु के उपयोग की गारन्टी दिलाती है। इसके बल पर वह अन्य व्यक्तियों से अहस्तक्षेप के सम्बन्ध में आश्वस्त रहता है।

(2) **कब्जाधारी की वैयक्तिक उपस्थिति**—अनेक दशाओं में किसी वस्तु पर कब्जा बनाये रखने के लिए कब्जाधारी की वैयक्तिक उपस्थिति आवश्यक होती है चाहे व्यक्ति शारीरिक रूप से कितना ही दुर्लभ क्यों ना हो।

(3) **गोपनीयता**—कब्जाधारी व्यक्ति किसी वस्तु को इस आशय से छिपाकर रख सकता है कि उस वस्तु पर कोई बाहरी व्यक्ति हस्तक्षेप ना कर पाए।

(4) **आशय की अभिव्यक्ति**—आशय की अभिव्यक्ति से तात्पर्य किसी वस्तु पर कब्जा (**possession**) बनाये रखने के साथ-साथ उस वस्तु को प्राप्त करने का भी आशय होना चाहिए। उदाहरण—यदि कोई व्यक्ति किसी दुकान का कब्जा प्राप्त करना चाहता है तो उसे कब्जा रखने के आशय के साथ साथ उस दुकान में प्रवेश करने तथा उसका उपयोग करने की स्थिति में भी होना चाहिये।

(5) **अन्य वस्तुओं के कब्जे द्वारा प्राप्त संरक्षण**— कभी-कभी एक वस्तु पर कब्जा उससे सम्बद्ध अथवा संलग्न अन्य वस्तुओं पर भी कब्जा दिलाता है। उदाहरण—व्यक्ति का किसी भूमि पर कब्जा उसे उस भूमि पर स्थित अन्य वस्तुओं, पेड़-पौधे आदि पर कब्जा भी दिलाता है। लेकिन इस विषय में विधिक स्थिति पूर्ण स्पष्ट नहीं है। यह सिद्धान्त कब्जे की वजह से व्यक्ति को भूमि पर स्थित सभी वस्तुओं पर कब्जा प्राप्त होगा हमेशा लागू नहीं होता तथा यह वाद की परिस्थितियों पर निर्भर करता है। इसका एक अच्छा उदाहरण— "साउथ स्टेफोर्डशायर वाटर वर्क्स कम्पनी बनाम शर्मन है। जिसमें कम्पनी ने प्रतिवादी को कम्पनी की भूमि पर बने जलाशय (**Pond**) की सफाई के लिए नियोजित किया। सफाई करते समय प्रतिवादी को जलाशय की तह में कुछ सोने की अंगुठियाँ पड़ी मिलीं। कंपनी ने इन अंगुठियों पर अपना कब्जा बताते हुए प्रतिवादी के विरुद्ध वाद संस्थित किया। न्यायालय ने विनिश्चित किया कि कंपनी को ही उन अंगुठियों पर प्रथम कब्जा (**possession**) प्राप्त है न कि प्रतिवादी को।

(6) **कब्जे के काय (corpus)**—सम्बन्धी एक तत्व यह भी है कि कब्जाधारी को वस्तु पर कब्जा रखना चाहिये। परन्तु इसका यह आशय नहीं कि उस वस्तु पर कब्जाधारी का पूर्ण नियंत्रण हो। यह नियंत्रण वस्तु के अनुसार न्यूनाधिक भी हो सकता है। उदाहरण के लिए— यदि कोई व्यक्ति मछली पकड़ने के लिए जाल फेंकता है तो उस व्यक्ति का मछलियों पर कब्जा तब तक नहीं होता जब तक कि वे उसके जाल में नहीं फँसती।

कब्जे का मानसिक तत्व—कब्जे (**possession**) का दूसरा मुख्य तत्व धारणाशय (**animus**) है। इसे कब्जे का मानसिक तत्व भी कहा जाता है इसका आशय कब्जाधारी की कब्जाधीन वस्तु पर अपना कब्जा बनाये रखने की इच्छा से है। सामण्ड के अनुसार— अन्य व्यक्तियों को अपवर्जित (**exclude**) करने का आशय कब्जे का मानसिक अथवा आत्मनिष्ठ तत्व है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि किसी वस्तु पर भौतिक कब्जा रखने वाले व्यक्ति की इच्छा उस वस्तु का उपयोग उपभोग करने की हो या ना हो लेकिन उस पर कब्जा बनाये रखने की इच्छा होनी अत्यन्त आवश्यक है।

कब्जे (**possession**) सम्बन्धी मानसिक इच्छा के विषय में निम्न बातें उल्लेखनीय हैं—

(1) यह आवश्यक नहीं है कि कब्जा धारण किये रहने का आशय न्यायोचित ही होए वह सदोष भी हो सकता है।

(2) किसी वस्तु पर कब्जाधारी का दावा अनन्य (**exclusive**) होना चाहिये अर्थात् उसमें अन्य व्यक्तियों को

अपवर्जित (exclude) करने का आशय होना चाहिये। परन्तु यह आवश्यक नहीं कि अपवर्जन पूर्णतः (absolute) हो।

(3) कब्जा धारण करने वाला व्यक्ति किसी वस्तु को अभिरक्षा के तौर पर भी धारण कर सकता है। जैसे—किसी गिरवी रखी वस्तु पर गिरवीदार का कब्जा होता है यद्यपि उसका मानसिक आशय उस वस्तु को ऋण की अदायगी होने तक अभिरक्षा (custody) में रखने का होता है।

(4) यह आवश्यक नहीं है कि कब्जाधारी ही किसी वस्तु पर कब्जा धारण करे। यह किसी अन्य व्यक्ति के लिए भी हो सकता है। उदाहरण— नौकर, अभिवक्ता, न्यासी तथा उपनिहिती आदि वस्तु को स्वयं के लिए धारण नहीं करते बल्कि अन्य व्यक्ति के लिए करते हैं।

(5) कब्जाधारी का कब्जे सम्बन्धी आशय सामान्य हो सकता है। उसका विनिर्दिष्ट (specific) होना आवश्यक नहीं है।

उदाहरण— यदि किसी व्यक्ति ने जाल में मछलियाँ पकड़ी हों तो उन सब पर उनका कब्जा होगा, भले ही उसे उन मछलियों की निश्चित संख्या ज्ञात न हो। इसी प्रकार व्यक्ति को अपने पुस्तकालय में रखी सभी पुस्तकों पर कब्जा प्राप्त होता है। भले ही उसमें से कुछ के अस्तित्व के बारे में उसे जानकारी न हो। कब्जे के धारणाशय (animus)— के सन्दर्भ में कलकत्ता उच्च न्यायालय द्वारा विनिश्चित एन० एन० मजूमदार बनाम राज्य का वाद उल्लेखनीय है। इस मामले में पुलिस ने अभियुक्त के घर की तलाशी इस उम्मीद से ली कि शायद वहाँ से पिस्तौल बरामद हो जाए परन्तु पिस्तौल नहीं मिली। अभियुक्त ने अपनी पत्नी से कुछ बात की और पत्नी घर से बाहर चली गई। वह तीन चार मिनट बाद एक पिस्तौल और कुछ कारतूसों के साथ घर वापस लौटी।

पुलिस ने दण्ड संहिता की धारा 27 का सहारा लेते हुए यह तर्क प्रस्तुत किया कि यह उपधारणा की जानी चाहिए कि अभियुक्त के कब्जे में पिस्तौल थी। न्यायालय ने निर्णय दिया कि आयुध अधिनियम 1959 ;Arms Act, 1959) विशिष्ट संविधि होने के कारण कब्जे के 'धारणाशय' के तथ्य को साबित किया जाना आवश्यक है। धारणाशय के अभाव में केवल कार्य का होना कब्जा साबित करने के लिए अपर्याप्त है।

कब्जे के तत्व के रूप में निर्णित महत्वपूर्ण वाद—

आर० बनाम हडसन; 1943 के.बी. 458 के मामले में अभियुक्त को एक लिफाफा प्राप्त हुआ जो उसी नाम के किसी अन्य व्यक्ति को संबोधित था। अभियुक्त ने उस लिफाफे को कुछ दिन अपने पास रखा और उसे खोल लिया। उसे लिफाफे के भीतर एक चौक मिला जिसे उसने अपने उपयोग में ले लिया। उसे चोरी के लिए दोषी ठहराया गया। न्यायालय ने इस वाद में कहा कि जब तक लिफाफा खोला नहीं गया था तब तक अभियुक्त का उस पर कब्जा नहीं था क्योंकि उसमें आशय का अभाव था। **मेरी बनाम ग्रीन 1841 एम एण्ड डब्ल्यू 623 के वाद** में किसी बढ़ई ने नीलाम में दराज वाली एक मेज खरीदी। उसे पता चला कि मेज में एक गुप्त दराज था। उसने उस दराज को तोड़कर खोल लिया और उसमें रखा धन ले लिया। यह धन विक्रेता का था जिसने केवल मेज बेची थी। विधि की दृष्टि में गुप्त दराज में रखे धन पर विक्रेता का कब्जा अभी भी बना हुआ था यद्यपि उस पर उसका वास्तविक कब्जा नहीं था।

प्रश्न न० 7— दायित्व से आप क्या है? सिविल दायित्व के निर्धारण के लिए कौन-कौन से आवश्यक तत्व हैं? व्याख्या कीजिए।

उत्तर— जब कोई व्यक्ति कानून तोड़ता है तो दायित्व उत्पन्न होता है। कानून व्यक्तियों के लिए अधिकार और जिम्मेदारियाँ निर्धारित करता है। यह एक व्यक्ति को कानूनी अधिकार प्रदान करता है और दूसरे पर दायित्व डालता है। लोगों को दूसरों के कानूनी अधिकारों का उल्लंघन नहीं करना चाहिए। यदि कोई इन अधिकारों का उल्लंघन करता है, तो उसे कुछ गलत करने वाला माना जाता है और इससे दायित्व उत्पन्न होता है। सभ्य समाजों में, व्यक्ति और राज्य के बीच अधिकांश संबंध राज्य द्वारा बनाए गए या मान्यता प्राप्त नियमों, अर्थात् कानून द्वारा संचालित होते हैं। कानून व्यक्तियों के अधिकार और कर्तव्य निर्धारित करता है। दूसरे शब्दों में, यह निर्धारित करता है कि व्यक्ति को क्या करना है और क्या नहीं करना है और उसे क्या करवाने का अधिकार है। इन नियमों का उल्लंघन गलत कहा जाता है। जब कोई व्यक्ति गलत काम करता है, तो उसे उत्तरदायी कहा जाता है। इस प्रकार, दायित्व उस व्यक्ति की स्थिति है जिसने गलत काम किया है। सैलमंड दायित्व को इस प्रकार परिभाषित करते हैं, गलत काम करने वाले और गलत काम के निवारण के बीच अनिवार्य बंधन। कानून का कार्य केवल अधिकार और कर्तव्य निर्धारित करके ही पूरा नहीं हो जाता। यह उनकी सुरक्षा, प्रवर्तन और निवारण भी सुनिश्चित करता है। इसलिए, दायित्व कानून के अध्ययन का एक बहुत ही महत्वपूर्ण हिस्सा है। दायित्व के प्रकार, कब कोई व्यक्ति उत्तरदायी बनता है या दूसरे शब्दों में, कब दायित्व अस्तित्व में आता है और दायित्व का माप ऐसी चीजें हैं जिन्हें इस संबंध में जानना आवश्यक है।

दायित्व की परिभाषा—

सर जॉन सामंड—सर जॉन सामंड दायित्व को गलत काम करने वाले और गलत काम के लिए उपाय के बीच आवश्यक संबंध के रूप में परिभाषित करते हैं। सरल शब्दों में, यह किसी गलत काम करने वाले और उसे सही करने के समाधान के बीच संबंध है।

मार्कबी के अनुसार, 'दायित्व' शब्द उस स्थिति का वर्णन करता है जब किसी व्यक्ति को कोई कर्तव्य पूरा करना होता है, चाहे वह कर्तव्य उसकी मुख्य जिम्मेदारी हो या कोई द्वितीयक या लागू करने वाला। यह एक काम करने के बारे में है।

ऑस्टिन 'दायित्व' के बजाय 'अनिवार्यता' शब्द का उपयोग करना पसंद करते हैं। उनका कहना है कि कुछ क्रियाएं, चूक या कार्य, उनके परिणामों के साथ, उन लोगों को जिम्मेदार ठहराया जाता है जिन्होंने उन्हें किया या नहीं किया। दूसरे शब्दों में, यह लोगों को उनके कार्यों या निष्क्रियताओं के लिए जिम्मेदार ठहराने के बारे में है।

सिविल दायित्व—सिविल दायित्व से तात्पर्य गैर-आपराधिक मुद्दों से संबंधित मामलों में एक व्यक्ति या संस्था द्वारा दूसरे के प्रति की जाने वाली कानूनी जिम्मेदारी से है। यह नागरिक कानूनों या विनियमों के उल्लंघन से उत्पन्न होता है, जिसमें आम तौर पर अनुबंधों, संपत्ति के अधिकार, व्यक्तिगत चोट या पारिवारिक मामलों जैसे मुद्दों पर व्यक्तियों या संस्थाओं के बीच विवाद शामिल होते हैं।

जब किसी को नागरिक रूप से उत्तरदायी पाया जाता है, तो उन्हें मौद्रिक क्षति या विशिष्ट प्रदर्शन (अनुबंध संबंधी दायित्व को पूरा करना) जैसे उपायों के माध्यम से घायल पक्ष को मुआवजा देने की आवश्यकता हो सकती है। नागरिक दायित्व के मामले आम तौर पर निजी व्यक्तियों या संगठनों द्वारा मुआवजे या विवाद के समाधान की मांग करते हुए शुरू किए जाते हैं।

आपराधिक दायित्व—आपराधिक दायित्व सरकार द्वारा स्थापित आपराधिक कानूनों और विनियमों का उल्लंघन करने वाले कार्यों के लिए एक व्यक्ति या संस्था द्वारा वहन की जाने वाली कानूनी जिम्मेदारी से संबंधित है। अपराध आम तौर पर पूरे समाज के खिलाफ अपराध होते हैं और अभियोजकों द्वारा प्रतिनिधित्व की जाने वाली सरकार आपराधिक कार्यवाही शुरू करती है। यदि कोई व्यक्ति आपराधिक रूप से उत्तरदायी पाया जाता है, तो उसे जुर्माना, कारावास, परीक्षा या अन्य दंडात्मक उपायों जैसे दंड का सामना करना पड़ सकता है। आपराधिक दायित्व का उद्देश्य सार्वजनिक सुरक्षा और व्यवस्था की रक्षा के लिए बनाए गए कानूनों का उल्लंघन करने के लिए गलत काम करने वाले को दंडित करना है।

सिविल और आपराधिक दायित्व के बीच अंतर

विभिन्न न्यायविदों ने सिविल और आपराधिक दायित्व के बीच अंतर पर अलग-अलग दृष्टिकोण प्रदान किए हैं।

इनमें से कुछ दृष्टिकोण इस प्रकार हैं—

ऑस्टिन का दृष्टिकोण— ऑस्टिन का कहना है कि घायल पक्ष या उनके प्रतिनिधियों के विवेक पर किया गया अपराध सिविल चोट माना जाता है। दूसरी ओर, संप्रभु या उसके अधीनस्थों द्वारा किए गए अपराध अपराध हैं। सभी पूर्ण दायित्वों को आपराधिक साधनों के माध्यम से लागू किया जाता है।

सामण्ड का दृष्टिकोण— सामण्ड का दृष्टिकोण है कि आपराधिक और सिविल गलत के बीच का अंतर उल्लंघन किए गए अधिकार की प्रकृति पर आधारित नहीं है, बल्कि लागू किए गए उपाय की प्रकृति पर आधारित है। वह दोनों के बीच चार प्रमुख अंतरों की पहचान करता है—

गलत की प्रकृति; अपराध को समाज के खिलाफ गलत माना जाता है, जबकि सिविल गलत को किसी व्यक्ति या व्यक्तियों के खिलाफ गलत माना जाता है।

उपाय: आपराधिक अपराधों को दंड के माध्यम से सुधारा जाता है, जबकि सिविल गलत को हर्जाने के माध्यम से सुधारा जाता है।

प्रक्रिया; आपराधिक कार्यवाही का उपयोग अपराधों के लिए किया जाता है, जबकि सिविल कार्यवाही का उपयोग सिविल गलत के लिए किया जाता है और वे अलग-अलग न्यायालयों में होती हैं।

दायित्व मापन— किसी अपराध में, दायित्व को गलत करने वाले के इरादे से मापा जाता है, जबकि किसी दीवानी गलत काम में, दायित्व गलत काम पर आधारित होता है, इरादे पर नहीं। न्यायशास्त्र में उपचारात्मक और दंडात्मक दायित्व दायित्व को आगे दो श्रेणियों में वर्गीकृत किया जा सकता है— दंडात्मक दायित्व जब गलत काम करने वाले को सफल कार्यवाही के बाद जुर्माना या कारावास जैसी सजा दी जाती है, तो इसे न्यायशास्त्र में दंडात्मक दायित्व कहा जाता है। आपराधिक दायित्व इस श्रेणी में आता है। उपचारात्मक दायित्व न्यायशास्त्र में इस प्रकार के दायित्व में ऐसे उपाय शामिल होते हैं जो दंडात्मक प्रकृति के नहीं होते हैं। सफल कार्यवाही के बाद, प्रतिवादी को हर्जाना देने, ऋण चुकाने या कोई विशिष्ट कार्रवाई करने का आदेश दिया जा सकता है। दीवानी दायित्व आम तौर पर इसी श्रेणी में आता है। उपचारात्मक दायित्व की व्याख्या उपचारात्मक दायित्व "यूबी जूस इबी रेमेडियम" सिद्धांत पर आधारित है, जिसका अर्थ है कि जहाँ अधिकार है, वहाँ उपाय भी होना चाहिए। जब कानून कोई कर्तव्य स्थापित करता है, तो यह यह भी सुनिश्चित करता है कि इसे लागू करने का कोई साधन हो। अधिकांश मामलों में, कानून किसी कर्तव्य का उल्लंघन करने के लिए एक उपाय निर्धारित करता है और यह उपाय कानूनी प्रणाली द्वारा लागू किया जाता है।

इस नियम के अपवादों में शामिल हैं—

अपूर्ण दायित्व के कर्तव्यरू कुछ कर्तव्य कानून में मौजूद हैं, लेकिन लागू करने योग्य नहीं हैं। उदाहरण के लिए, एक समय-बाधित ऋण, हालांकि कानूनी रूप से मान्यता प्राप्त है, भुगतान के लिए मजबूर नहीं किया जा सकता है। कर्तव्य जो विशेष रूप से लागू नहीं किए जा सकते हैं ऐसे कर्तव्य हैं, जिन्हें एक बार तोड़ने के बाद, विशेष रूप से लागू नहीं किया जा सकता है। उदाहरण के लिए, पूर्ण हमले के मामलों में, प्रतिवादी को कृत्य को पूर्ववत

करने के लिए मजबूर नहीं किया जा सकता है। ऐसे मामले जहाँ हर्जाना दिया जाता है, कुछ मामलों में, हालाँकि किसी कर्तव्य का विशिष्ट प्रदर्शन संभव है, कानून, विभिन्न कारणों से, विशिष्ट प्रदर्शन को लागू करने के बजाय वादी को हर्जाना देने का विकल्प चुन सकता है। उदाहरण के लिए, जब किसी अनुबंध में व्यक्तिगत सेवाएं शामिल होती हैं, तो कानून प्रदर्शन को बाध्य नहीं कर सकता है, बल्कि इसके बजाय हर्जाना दे सकता है (विशिष्ट राहत अधिनियम के अनुसार)।

दंडात्मक दायित्व—कानूनी सिद्धांत 'एक्टस नॉन फैसिट रीम, निसी मेन्स सिट री' (केवल कार्य अपराध नहीं है, इसके साथ दोषी मन भी होना चाहिए) दंडात्मक दायित्व को समझने के लिए मौलिक है, जो आपराधिक अपराधों के लिए दायित्व है।

दंडात्मक दायित्व की दो आवश्यक शर्तें

किसी व्यक्ति को आपराधिक रूप से उत्तरदायी ठहराए जाने के लिए दो मुख्य शर्तें हैं: एक्टस रीस और मेन्स रीस। कार्य (एक्टस रीस) कार्य को स्वैच्छिक शारीरिक गति माना जाता है, जो व्यक्ति की इच्छा या इच्छा के कारण होता है। इसमें व्यक्ति के इरादे से होने वाली शारीरिक गति शामिल होती है, बशर्ते कि शामिल शरीर का अंग सामान्य स्थिति में हो।

प्रश्न न० 8— सम्पत्ति से आप क्या समझते हैं, सम्पत्ति की अवधारणा की उत्पत्ति से सम्बन्धित विभिन्न सिद्धान्तों की व्याख्या कीजिए।

उत्तर— उत्पत्ति—शब्द —संपत्ति लैटिन शब्द प्रोप्राइटी और फ्रेंच समकक्ष प्रॉपर्टीज से लिया गया है, जिसका अर्थ है स्वामित्व वाली वस्तु। संपत्ति और स्वामित्व की अवधारणा एक दूसरे से बहुत मिलती-जुलती है। हालाँकि, एक महीन रेखा है जो दोनों शब्दों को अलग करती है। यह कहना गलत नहीं होगा कि मनुष्य लंबे समय से अपने अधिकारों के बारे में जानते हैं कि उनके पास जो कुछ भी है, उसका अधिकार है। संपत्ति शब्द की व्याख्या सामण्ड, बेंथम और ऑस्टिन जैसे विभिन्न न्यायविदों द्वारा व्यापक रूप से की गई है। उनके द्वारा दी गई परिभाषाओं का बारीकी से अवलोकन हमें अवधारणा को बेहतर तरीके से समझने में मदद करेगा। संपत्ति शब्द कला से संबंधित शब्द नहीं है। इसका उपयोग विभिन्न अर्थों में किया गया है। व्यापकतम संभव अर्थ में, संपत्ति में किसी व्यक्ति के सभी कानूनी अधिकार शामिल हैं, चाहे उसका वर्णन कुछ भी हो। किसी व्यक्ति की संपत्ति वह सब है जो कानून के अनुसार उसका है। हालाँकि यह अब एक फैशन बन गया है, लेकिन पुरानी किताबों में इस शब्द का ऐसा उपयोग आम है।

ब्लैकस्टोन के अनुसार— “अवर व्यक्ति के पास वरिष्ठ व्यक्ति की संगति, देखभाल या सहायता में किसी भी प्रकार की संपत्ति नहीं होती है, जैसा कि वरिष्ठ व्यक्ति के पास अवर व्यक्ति की संपत्ति होती है।”

लॉक के अनुसार— “प्रत्येक व्यक्ति के पास अपने व्यक्तित्व में एक संपत्ति होती है। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी संपत्ति, यानी अपनी पत्नी, स्वतंत्रता और संपदा को सुरक्षित रखने का अधिकार है।”

एक संकीर्ण अर्थ में, संपत्ति में किसी व्यक्ति के स्वामित्व अधिकार शामिल होते हैं, न कि उसके अधिकार। स्वामित्व अधिकार उसकी संपत्ति या संपदा का गठन करते हैं, जबकि व्यक्तिगत अधिकारों में उसकी स्थिति या व्यक्तिगत स्थिति शामिल होती है। यदि संकीर्ण अर्थ के लेंस से देखा जाए, तो केवल भूमि, संपत्ति, शेयर और ऋण ही व्यक्तिगत संपत्ति हैं, न कि उसका जीवन, स्वतंत्रता या प्रतिष्ठा। आधुनिक समय में संपत्ति की यह सबसे अधिक इस्तेमाल की जाने वाली व्याख्या है। हालाँकि, संपत्ति की एक अन्य व्याख्या और अर्थ में केवल वे अधिकार शामिल हैं जो मालिकाना और वास्तविक दोनों हैं। संपत्ति का कानून मालिकाना अधिकारों का कानून है। इस व्याख्या के अनुसार, एक फ्रीहोल्ड या लीजहोल्ड एस्टेट या कॉपीराइट में संपत्ति का अर्थ भी शामिल है। संक्षिप्ततम संभव अर्थ में, संपत्ति में भौतिक संपत्ति या भौतिक चीजों के स्वामित्व के अधिकार से अधिक कुछ भी शामिल नहीं है।

ऑस्टिन का मानना था कि संपत्ति के अलग-अलग समय पर अलग-अलग अर्थ हो सकते हैं। इसका उपयोग दासता को छोड़कर कानून द्वारा ज्ञात सबसे बड़े आनंद के अधिकारों को दर्शाने के लिए किया जा सकता है या यह जीवन हित या कभी-कभी दासता भी हो सकती है। यह किसी व्यक्ति के स्वामित्व वाली संपत्तियों का पूरा समूह हो सकता है जिसमें इन-रेम और व्यक्तिगत अधिकार दोनों शामिल हैं। आज, बौद्धिक या अमूर्त संपत्ति बहुत महत्वपूर्ण हो गई है। उदाहरण के लिए कॉपीराइट, ट्रेडमार्क, डिजाइन में संपत्ति और पेटेंट।

संपत्ति के सिद्धांत— संपत्ति की उत्पत्ति और उसके औचित्य को समझने के लिए कई सिद्धांत सामने रखे गए हैं।

प्राकृतिक सिद्धांत— इस सिद्धांत के अनुसार, संपत्ति वस्तुओं की प्रकृति से प्राप्त प्राकृतिक कारण के सिद्धांत पर आधारित है। संपत्ति किसी मालिक रहित वस्तु पर कब्जा करके और व्यक्तिगत श्रम के परिणामस्वरूप अर्जित की गई थी। ग्रोटियस के अनुसार, सभी चीजें मूल रूप से बिना मालिक की थीं और जिसने भी इसे हासिल किया या कब्जा किया, वह इसका मालिक बन गया। पुफेंडोर्फ के अनुसार, मूल रूप से चीजें लोगों की थीं। व्यक्तिगत स्वामित्व की कोई अवधारणा नहीं थी। समय और मानव जाति के विकास के साथ ही स्वामित्व और कब्जे की आवश्यकता पैदा हुई। इस प्रकार कब्जे का सिद्धांत सभी संपत्तियों का आधार और नींव बन गया।

आध्यात्मिक सिद्धांत—यह सिद्धांत कांट और हेगेल द्वारा प्रतिपादित किया गया था। कोई विशेष वस्तु सही मायने में मालिक की होती है जब वह उससे इतना जुड़ा होता है कि कोई भी व्यक्ति जो उसकी सहमति के बिना उसका उपयोग करता है, वह उसे नुकसान पहुंचाता है। लेकिन संपत्ति के कानून पर बेहतर औचित्य प्राप्त करने के लिए हमें कब्जे के मामलों से परे जाना होगा जहाँ वस्तु से वास्तविक भौतिक संबंध होता है और हस्तक्षेप व्यक्तित्व पर

आक्रमण होता है। सरल शब्दों में कहें तो संपत्ति वह वस्तु है जिस पर व्यक्ति को अपनी इच्छा निर्देशित करने की स्वतंत्रता होती है।

ऐतिहासिक सिद्धांत—इस सिद्धांत के अनुसार, निजी संपत्ति में धीमी और स्थिर वृद्धि हुई है। यह सामूहिक समूह या संयुक्त संपत्ति से विकसित हुई है। निजी संपत्ति के विकास में कई चरण थे। प्राकृतिक कब्जे का पहला चरण कानून से स्वतंत्र रूप से अस्तित्व में था। न्यायिक कब्जे का दूसरा चरण तथ्य और कानून दोनों की अवधारणा थी। विकास चक्र में अंतिम चरण स्वामित्व का था। स्वामित्व एक विशुद्ध कानूनी अवधारणा बन गया। डीन रोस्को पाउंड के अनुसार, संपत्ति का सबसे प्रारंभिक रूप एक समूह संपत्ति थी। यह समय की बात थी कि परिवार विभाजित हो गए और व्यक्तिगत संपत्ति अस्तित्व में आई।

सकारात्मक सिद्धांत—इस सिद्धांत के संस्थापक स्पेंसर थे। उन्होंने अपने सिद्धांत को समान स्वतंत्रता के मौलिक कानून पर आधारित किया। उनके अनुसार, संपत्ति व्यक्तिगत श्रम का परिणाम थी। किसी भी व्यक्ति को उस संपत्ति पर कोई नैतिक अधिकार नहीं है जिसे उसने अपने व्यक्तिगत श्रम और प्रयास से अर्जित नहीं किया है।

मनोवैज्ञानिक सिद्धांत—इस सिद्धांत के अनुसार, संपत्ति मनुष्य की अधिग्रहण प्रवृत्ति से अस्तित्व में आई। हर व्यक्ति चीजों का मालिक बनना चाहता है और इसी से संपत्ति अस्तित्व में आती है। बेंथम ने सही कहा है, संपत्ति किसी तर्कपूर्ण चीज से भविष्य में कुछ लाभ प्राप्त करने की एक निश्चित उम्मीद के आधार से अधिक कुछ नहीं है।¹⁸ समाजशास्त्रीय सिद्धांत इस सिद्धांत के अनुसार, संपत्ति को निजी अधिकारों के संदर्भ में नहीं बल्कि सामाजिक कार्यों के संदर्भ में माना जाना चाहिए। यह एक ऐसी संस्था है जो अधिकतम हित सुरक्षित करती है।

प्रश्न न० 9—निम्नलिखित में से छः पर टिप्पणी लिखिए।

उत्तर— (1) सम्पत्ति अर्जित करने के विभिन्न तरीके— सामण्ड के अनुसार सम्पत्ति कई तरीके से अर्जित की जा सकती है। सम्पत्ति अर्जित करने के लिए निम्नलिखित चार प्रमुख तरीके हैं।

कब्जा— यह स्वामित्व की वस्तुगत प्राप्ति है। किसी भौतिक वस्तु का कब्जा उसके स्वामित्व का अधिकार है। व्यक्ति और वस्तु के बीच वास्तविक संबंध अपने साथ-साथ वैधानिक संबंध भी लाता है। जो व्यक्ति किसी जमीन के टुकड़े को अपना होने का दावा करता है और उस पर कब्जा भी रखता है, वह स्वामित्व के माध्यम से उसे कानूनी तौर पर भी वैध बनाता है। अगर कोई व्यक्ति किसी चीज पर कब्जा रखता है, तो वह ऐसा जबरदस्ती नहीं कर सकता। उसे अपने अधिकार को साबित करने के लिए कानून की मदद भी लेनी पड़ती है। लेकिन अगर कोई संपत्ति किसी की नहीं है, तो उस पर कब्जा करने वाले और उस पर कब्जा करने वाले व्यक्ति का पूरी दुनिया पर एक अच्छा अधिकार होता है। यह उसी तरह है जैसे हवा में उड़ने वाले पक्षी और पानी में मछलियाँ उस व्यक्ति की होती हैं जो उन्हें पकड़ता है।

प्रिस्क्रिप्शन—सामण्ड के अनुसार, “प्रिस्क्रिप्शन को अधिकारों को बनाने और नष्ट करने वाले समय के बीतने के प्रभाव के रूप में परिभाषित किया जा सकता है यह एक बहुमुखी प्रभाव के रूप में समय का संचालन है।” प्रिस्क्रिप्शन दो प्रकार के होते हैं— सकारात्मक अर्जनात्मक प्रिस्क्रिप्शन और नकारात्मक या विलुप्त प्रिस्क्रिप्शन। प्रिस्क्रिप्शन केवल रेम में अधिकारों तक सीमित नहीं है। यह दायित्वों और संपत्ति के दायरे में पाया जाता है। सकारात्मक प्रिस्क्रिप्शन केवल उन अधिकारों के मामलों में संभव है जो कब्जे को स्वीकार करते हैं। इस प्रकृति के अधिकांश अधिकार रेम में अधिकार हैं। व्यक्तिगत अधिकार आमतौर पर उनके प्रयोग से समाप्त हो जाते हैं और प्रिस्क्रिप्शन द्वारा उन्हें प्राप्त या प्राप्त नहीं किया जा सकता है। नकारात्मक प्रिस्क्रिप्शन संपत्ति और दायित्वों के कानून के लिए आम है। अधिकांश दायित्व समय बीतने के साथ नष्ट हो जाते हैं। उनके स्वामित्व के साथ उनका कब्जा नहीं हो सकता है।

समझौता— पैटन के अनुसार, एक समझौता दो या दो से अधिक व्यक्तियों द्वारा एक दूसरे को उनके बीच कानूनी संबंधों को प्रभावित करने के एक सामान्य इरादे की अभिव्यक्ति है। यह एक द्विपक्षीय अधिनियम का परिणाम है। यह असाइनमेंट या अनुदान की प्रकृति में हो सकता है। असाइनमेंट मौजूदा अधिकारों को एक मालिक से दूसरे मालिक को हस्तांतरित करता है। अनुदान संपत्ति के स्वामित्व के आश्वासन या हस्तांतरण को दर्शाता है जो संपत्ति के वितरण से अलग है। कुछ समझौते ऐसे होते हैं जिनके लिए विलेख के सत्यापन और पंजीकरण की आवश्यकता होती है। एक सामान्य नियम है कि समझौते द्वारा हस्तांतरिती का शीर्षक हस्तांतरक के शीर्षक से बेहतर नहीं हो सकता। यह मुख्य रूप से इस तथ्य के कारण है कि कोई भी व्यक्ति अपने पास मौजूद शीर्षक से बेहतर शीर्षक हस्तांतरित नहीं कर सकता।

विरासत— संपत्ति प्राप्त करने का एक और तरीका विरासत के माध्यम से है। जब कोई व्यक्ति मर जाता है, तो कुछ अधिकार उसके बाद भी उसके उत्तराधिकारियों और उत्तराधिकारियों को मिल जाते हैं। वे अधिकार जो किसी व्यक्ति के पास बचे रहते हैं उन्हें विरासत में मिलने वाले अधिकार कहा जाता है। मालिकाना अधिकार विरासत में मिलने वाले अधिकार होते हैं। जबकि, आम तौर पर व्यक्तिगत अधिकार विरासत में नहीं मिलते हैं, लेकिन इस सामान्य नियम के अपवाद भी हैं। किसी व्यक्ति की संपत्ति का उत्तराधिकार वसीयत या बिना वसीयत के हो सकता है। यह वसीयत के जरिए या बिना वसीयत के हो सकता है। अगर वसीयत है, तो उत्तराधिकार कानून के अनुसार होता है। अगर कोई वारिस नहीं है, तो संपत्ति राज्य को जाती है।

(2) अजन्मा व्यक्ति की विधिक स्थिति— जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है, एक व्यक्ति को उसके जन्म से लेकर उसकी मृत्यु तक एक प्राकृतिक व्यक्ति माना जाता है। ऐसा प्राकृतिक व्यक्ति अधिकारों और कर्तव्यों को वहन करने

में सक्षम होता है, इस प्रकार उसका एक कानूनी व्यक्तित्व होता है। आम तौर पर, जन्म से पहले और मृत्यु के बाद एक प्राकृतिक व्यक्ति के पास कोई कानूनी व्यक्तित्व नहीं होता है। इसलिए, एक प्राकृतिक व्यक्ति के पास अधिकार और कर्तव्य होने के लिए, उसका जीवित होना जरूरी है। हालाँकि, जब अजन्मे बच्चे का मामला आता है तो कानून को एक समस्या का सामना करना पड़ता है। चिकित्सा और धर्मशास्त्र जैसे विषय यह स्थापित करते हैं कि एक अजन्मा बच्चा एक जीवित इकाई है। कानूनी कथाओं के अनुसार, अपनी माँ के गर्भ में पल रहे बच्चे को पहले से ही जन्मा हुआ माना जाता है। जब वह जीवित पैदा होता है, तो उसे कानूनी दर्जा प्राप्त होता है। सामान्य शब्दों में, कानून केवल जीवित प्राकृतिक व्यक्तियों पर ध्यान देता है, लेकिन एक शिशु वेन्ट्रे सा मेरे (अपनी माँ के गर्भ में पल रहे बच्चे) के मामले में, कानून एक अपवाद बनाता है। अपनी माँ के गर्भ में पल रहा बच्चा कुछ अधिकार प्राप्त करने और संपत्ति प्राप्त करने में सक्षम होता है, लेकिन यह सब इस बात पर निर्भर करता है कि बच्चा जीवित पैदा हुआ है या नहीं। विभाजन के दौरान एक अजन्मे बच्चे को एक व्यक्ति माना जाता है। ऐसे अजन्मे बच्चे द्वारा अपनी माँ के गर्भ में लगी चोट के लिए हर्जाना भी मांगा जा सकता है।

(3) एक मस्जिद की विधिक स्थिति— मस्जिद एक न्यायिक व्यक्ति नहीं है। लाहौर के फैसले (मौला बख्श बनाम हाफिज—उद—दीन , एआईआर 1926 लाहौर. 372) में यह माना गया था कि एक मस्जिद एक न्यायिक व्यक्ति है और उस पर मुकदमा किया जा सकता है और उस पर मुकदमा चलाया जा सकता है, लेकिन मस्जिद शहीद गंज केस (1940, 67 आईए 251) में प्रिवी काउंसिल ने फैसला किया था कि मस्जिदों द्वारा या उनके खिलाफ मुकदमा नहीं लाया जा सकता है, क्योंकि वे कानून की नजर में शकृत्रिम व्यक्ति नहीं हैं। हालाँकि, उन्होंने यह प्रश्न खुला छोड़ दिया कि क्या किसी भी उद्देश्य के लिए मस्जिद को 'न्यायिक' व्यक्ति माना जा सकता है। १ मस्जिद शहीद गंज बनाम शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबंधक कमेटी , (एआईआर 1938 लाह. 369) में उच्च न्यायालय की पूर्ण पीठ ने माना कि एक मस्जिद न्यायिक व्यक्ति है।

(4) भारत के राष्ट्रपति की विधिक स्थिति— भारत के राष्ट्रपति पद एकल निगम के अन्तर्गत रखा जा सकता है, क्योंकि इस पद को धारण करने वाले की मृत्यु हो जाने के पश्चात् दूसरा व्यक्ति इस पद पर आसीन हो जाता है। किसी पद वास्तविक अधिकारी वही कल्पित व्यक्ति होता है जो भी नहीं मरता है। जीवित पदाधिकारी आते-आते रहते हैं, परन्तु विधि द्वारा निर्मित यह व्यक्ति सदा एक ही रूप में विद्यमान रहता है। भारत का राष्ट्रपति न्यायिक व्यक्ति है।

(5) तथ्यतः कब्जा— जब किसी व्यक्ति द्वारा वस्तु को स्वयं धारण किया जाता है या उस पर भौतिक नियंत्रण स्थापित कर लिया जाता है तब वह तथ्यतः कब्जा कहलाता है। साधारण शब्दों में किसी व्यक्ति और वस्तु के बीच जो सम्बन्ध होता है उसे तथ्यतः कब्जा (**Possession**) कहते हैं। किसी वस्तु पर तथ्यतः कब्जा होना उस पर भौतिक नियंत्रण का प्रतीक होता है। उदाहरण —यदि किसी व्यक्ति ने तोते को पिंजरे में रखा है, तो उस तोते पर उस व्यक्ति का कब्जा होगा किन्तु जैसे ही तोता उड़कर भाग जाता है, तब उस व्यक्ति का तोते पर से कब्जा समाप्त हो जाता है।

तथ्यतः कब्जे के विषय में निम्न बातें महत्वपूर्ण हैं—

(क) ऐसी वस्तुएँ जिन पर मनुष्य का भौतिक नियंत्रण नहीं हो सकता, कब्जे की विषयवस्तु नहीं हो सकती। उदाहरणार्थ, चन्द्रमा, सितारे आदि।

(ख) किसी वस्तु पर वास्तविक कब्जा होने के लिए व्यक्ति का उस पर भौतिक नियंत्रण होना आवश्यक है। लेकिन इसका आशय यह कभी नहीं है कि उस वस्तु को मनुष्य हमेशा ही अपने वास्तविक नियंत्रण में रखे रहे।

(ग) तथ्यतः कब्जे के लिए व्यक्ति का वस्तु पर केवल भौतिक नियंत्रण होना ही पर्याप्त नहीं है, उस व्यक्ति को अन्यो को उस कब्जे से अपवर्जित (**euclude**) करने की सामर्थ्य भी होना चाहिये।

(घ) कब्जे के अर्जन, त्यजन या समाप्ति के निर्धारण के लिए कब्जाधारी की उस वस्तु को धारण किये रहने की इच्छा होना महत्वपूर्ण है। लेकिन अपवाद रूप में कुछ दशाओं में बिना इच्छा या आशय के भी कब्जा (**Possession**) रह सकता है।

(6) विधितः कब्जा— कानून में कब्जा को “डी ज्यूर” कब्जा भी कहा जाता है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि कानून दो स्पष्ट कारणों से कब्जा सुरक्षित करता है, खास तौर पर, जो इस प्रकार हैं।

(1) स्वामी को कुछ कानूनी अधिकार प्रदान करके।

(2) व्यक्ति के रूप में कब्जा करने वाले लोगों को दंडित करके या धारक को हर्जाना देकर।

जब भी कोई व्यक्ति कब्जा करने के लिए मुकदमा दायर करता है, तो सबसे पहले अदालत यह पता लगाती है कि क्या वादी के पास विवादित वस्तु का वास्तविक कब्जा था। तथ्य दर्शाते हैं कि वास्तविक कब्जा के ज्यादातर मामलों में वैध कब्जा होता है, लेकिन कई ऐसे मामले भी होते हैं जब किसी व्यक्ति के पास वस्तु का वास्तविक कब्जा होने के बावजूद कानून में कब्जा नहीं होता।

कानूनी अर्थ में, कब्जा एक सापेक्ष शब्द के रूप में उपयोग किया जाता है। कानून आम तौर पर इस बात से चिंतित नहीं होता कि सबसे अच्छा मालिकाना हक किसके पास है बल्कि, यह इस बात से चिंतित होता है कि उसके पहले के समूहों में से किसका बेहतर मालिकाना हक है।

(1) मेरी बनाम ग्रीन (1847) 7 एम एंड डब्ल्यू 623— इस मामले में , वादी ने नीलामी में एक टेबल खरीदी और उसके एक दर्राज में पर्स पाया। इसके बाद, उसे पता चला कि विक्रेता के गुप्त दर्राज में कुछ पैसे थे, लेकिन उसने

उसे हड़प लिया। यह माना गया कि यह वादी का नहीं बल्कि विक्रेता का था क्योंकि हस्तांतरण की प्रक्रिया के दौरान उस पर्स के लिए इरादे का तत्व गायब था। उस पर्स को बेचने का इरादा विक्रेता का नहीं था और उस पर्स को खरीदना क्रेता का नहीं था।

(2) **हन्नाह बनाम पील (1945) 1 के.बी. 509**— इस मामले में, वादी एक सैनिक था और उसे एक घर में रहने के लिए कहा गया था और उसे वहाँ से एक ब्रोच मिला। प्रतिवादी ने सैनिक के खिलाफ मुकदमा दायर किया लेकिन ब्रोच मालिक को नहीं दिया गया क्योंकि उसने घर को भौतिक रूप से अपने कब्जे में नहीं लिया था और ब्रोच फर्श पर पाया गया था। कॉर्पस तत्व कभी भी घर के मालिक के पक्ष में नहीं था और जिस तरह से ब्रोच पाया गया था, उसमें रेस नुलिस का सिद्धांत लागू था।

(7) स्वामित्व और कब्जे में अन्तर—

आधार	स्वामित्व	कब्जा
अर्थ	कानून द्वारा मान्यता प्राप्त कानूनी अधिकार।	स्वामित्व के बिना भौतिक नियंत्रण.
कानूनी मान्यता	वास्तविक अवधारणा.	वास्तविक अवधारणा.
अधिकारों की सीमा	अधिक व्यापक।	सीमित।
स्थानांतरण	जटिल प्रक्रियाएं.	सरल, प्रायः कोई औपचारिक दस्तावेजीकरण नहीं।
कानूनी उपायों	मालिकाना उपचार उपलब्ध हैं।	सुरक्षा के लिए अधिकारिक उपाय

(8) विधि और नैतिकता में अन्तर—

आधार	कानून	नैति
अर्थ	ये समाज में न्याय करने और मानव व्यवहार को विनियमित करने के लिए नियमों और विनियमों का एक समूह है।	नैतिकता से तात्पर्य उन सभी स्वीकार्य रीति-रिवाजों और प्रथाओं से है जो अनादि काल से चली आ रही हैं।
मूल	किसी देश में कानून विधायकों या विधिनिर्माताओं द्वारा बनाए जाते हैं तथा संसद इस पूरी प्रक्रिया में सक्रिय भूमिका निभाती है।	नैतिकता समाज की उपज है। इसे समाज के धार्मिक नेता या परिवार के सदस्य तैयार करते हैं।
धर्म की भूमिका	कानून बनाने में धर्म की कोई भूमिका नहीं है।	किसी विशेष क्षेत्र में लोगों के धर्म के आधार पर नैतिकता का निर्धारण किया जा सकता है।
वर्दी	पूरे देश में कानून एक समान हैं और सभी लोगों को उनका पालन करना अनिवार्य है।	विभिन्न क्षेत्रों में रहने वाले अलग-अलग लोगों की मान्यताओं के आधार पर नैतिकता क्षेत्र दर क्षेत्र अलग-अलग होती है।
FLEXIBILITY	कानून नैतिकता की तुलना में अधिक लचीले होते हैं क्योंकि उन्हें लोगों की मांग के आधार पर बदला जा सकता है।	समुदाय में लोगों की कठोर मानसिकता के कारण नैतिकता को बदलना बहुत कठिन होता है।
उद्देश्य	कानूनों का उद्देश्य उचित सामाजिक व्यवस्था और शांति के साथ सभ्य समाज का निर्माण करना है।	नैतिकता का उद्देश्य लोगों को सही और गलत के बीच अंतर करना सिखाना तथा दूसरों के नैतिक अधिकारों की रक्षा करना है।
सजा	किसी व्यक्ति को कोई भी गलत कार्य करने पर दंडित किया जा सकता है, जैसे जुर्माना भरना या कारावास।	किसी व्यक्ति को नैतिक मानकों का पालन न करने के लिए दंडित नहीं किया जा सकता क्योंकि वे कानूनी रूप से बाध्यकारी नहीं हैं।
प्रवर्तनीयता	कानून राज्य द्वारा देश के नागरिकों पर लागू किये जाते हैं।	नैतिकता राज्य द्वारा लागू नहीं की जा सकती, तथा व्यक्ति कानूनी रूप से उनका पालन करने के लिए बाध्य नहीं हैं।
उदाहरण	कानून का एक उदाहरण भारतीय दंड संहिता, 1860 के प्रावधान हैं।	नैतिकता का एक उदाहरण अपने माता-पिता का आदर करना और उनकी आज्ञा का पालन करना है।

प्रश्न न० 10—नैतिकता विधि के आधार है। उपरोक्त कथन के प्रकाश में नैतिकता के महत्व की व्याख्या कीजिए।

उत्तर— कानून और नैतिकता— जब से कानून को सामाजिक व्यवस्था के एक प्रभावी साधन के रूप में मान्यता दी गई है, तब से नैतिकता के साथ इसके संबंधों पर बहस जारी है। पैटन के अनुसार, नैतिकता या आचार सर्वोच्च भलाई का अध्ययन है। सामान्य तौर पर, नैतिकता को निम्न के रूप में परिभाषित किया गया है— सभी प्रकार के नियम, मानक, सिद्धांत या मानदंड जिनके द्वारा मनुष्य स्वयं के साथ और दूसरों के साथ अपने संबंधों को विनियमित, निर्देशित और नियंत्रित करते हैं। कानून और नैतिकता दोनों का एक ही उद्गम है। वास्तव में, नैतिकता ने कानूनों को जन्म दिया। राज्य ने नैतिक नियमों के पीछे अपनी स्वीकृति दी और उन्हें लागू किया। इन नियमों को कानून नाम दिया गया। हार्ट के शब्दों में, प्रत्येक आधुनिक राज्य का कानून हजारों बिंदुओं पर स्वीकृत सामाजिक नैतिकता और व्यापक नैतिक आदर्श दोनों के प्रभाव को दर्शाता है। कानून और नैतिकता दोनों का एक ही उद्देश्य या अंत है, क्योंकि दोनों ही मनुष्यों के कार्यों को इस तरह निर्देशित करते हैं कि अधिकतम सामाजिक और व्यक्तिगत भलाई उत्पन्न हो। कानून और नैतिकता दोनों को सामाजिक या बाहरी स्वीकृति का समर्थन प्राप्त है। बेंथम ने कहा कि कानून का नैतिकता के साथ एक ही केंद्र है, लेकिन इसकी परिधि समान नहीं है। नैतिकता आम तौर पर कानून का आधार है, यानी अवैध (हत्या, चोरी, आदि) भी अनैतिक है। लेकिन कई अनैतिक कार्य हैं जैसे दो अविवाहित वयस्कों के बीच यौन संबंध, कठोरता, कृतघ्नता, आदि जो अनैतिक हैं लेकिन अवैध नहीं हैं। इसी तरह, ऐसे कानून भी हो सकते हैं जो नैतिकता पर आधारित नहीं हैं और उनमें से कुछ नैतिकता के विपरीत भी हो सकते हैं, जैसे तकनीकी मामलों पर कानून, यातायात कानून, आदि। कानून की कसौटी के रूप में नैतिकता को कई न्यायविदों ने देखा है कि कानून को नैतिकता के अनुरूप होना चाहिए, और जो कानून नैतिकता के अनुरूप नहीं है, उसका उल्लंघन किया जाना चाहिए और ऐसे कानून बनाने वाली सरकार को उखाड़ फेंकना चाहिए।

पैटन ने कहा कि अगर कानून लोकप्रिय मानक से पीछे रह जाता है, तो यह विवाद में पड़ जाता है, अगर कानूनी मानक बहुत ऊंचे हैं तो प्रवर्तन में बड़ी मुश्किलें आती हैं।

कानून के अंत के रूप में नैतिकता को कुछ न्यायविदों के अनुसार, कानून का उद्देश्य न्याय करना है।

पैटन ने कहा कि न्याय कानून का अंत है। अपने प्रचलित अर्थ में, न्याय शब्द नैतिकता पर आधारित है। इस प्रकार, न्याय का हिस्सा होने के कारण ऐसी नैतिकता न्याय का लक्ष्य बन जाती है। हमारे संविधान की प्रस्तावना जिस लक्ष्य को प्राप्त करने का प्रयास करती है, वह नैतिकता है।

प्रस्तावना—प्राचीन काल में कोई भेद नहीं—समाज के आरंभिक चरणों में कानून और नैतिकता के बीच कोई भेद नहीं था। हिंदू कानून में, जिसके प्रमुख स्रोत वेद और स्मृतियाँ हैं, हमें आरंभ में ऐसा कोई भेद नहीं मिलता। हालाँकि, बाद में मीमांसा ने अनिवार्य और संस्तुति संबंधी आदेशों में अंतर करने के लिए कुछ सिद्धांत निर्धारित किए। पश्चिम में भी स्थिति ऐसी ही थी। यूनानियों ने प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धांत के नाम पर कानून का सैद्धांतिक नैतिक आधार तैयार किया। रोमन न्यायविदों ने 'प्राकृतिक कानून' के नाम पर कुछ नैतिक सिद्धांतों को कानून के आधार के रूप में मान्यता दी। मध्य युग में, यूरोप में चर्च का बोलबाला हो गया। प्राकृतिक कानून को धार्मिक आधार दिया गया और ईसाई नैतिकता को कानून का आधार माना गया।

कानून के आधार के रूप में नैतिकता

पूरे इतिहास में, कानून और नैतिकता के बीच कोई स्पष्ट अंतर नहीं किया गया है। अंतर न होने के कारण, सभी कानूनों की उत्पत्ति समाज में लोगों द्वारा नैतिक रूप से सही माने जाने वाले सिद्धांतों से हुई। आखिरकार, राज्य ने नैतिक रूप से सही चीजों को चुना और उन्हें कानून या नियम और विनियमों का रूप दिया। इसलिए, कानून की उत्पत्ति होती है और यह लोगों के बीच प्रचलित मूल्यों पर आधारित होता है, जिससे दो अवधारणाओं, यानी कानून और नैतिकता के बीच समानता पैदा होती है। उदाहरण के लिए, किसी की हत्या करना या किसी का बलात्कार करना नैतिक रूप से गलत है। इस मूल्य ने कानून का रूप ले लिया है। समय के साथ नैतिकता को कानूनों से अलग कर दिया गया है, लेकिन यह कानूनी विकास का एक अभिन्न अंग बना हुआ है। कानून में अनिवार्य रूप से कुछ बुनियादी सिद्धांत शामिल होते हैं जैसे निष्पक्षता और समानता का सिद्धांत, और ये सिद्धांत नैतिकता और नैतिकता से प्राप्त होते हैं।

कानून की नैतिकता की कसौटी— कानूनों के अस्तित्व का पूरा उद्देश्य समाज में न्याय सुनिश्चित करना और सभी लोगों के कल्याण के लिए सबसे अच्छा काम करना है। चूंकि न्याय का सिद्धांत नैतिकता के दायरे में आता है, इसलिए कई न्यायविदों का मानना है कि कानून और नैतिकता के बीच कोई विरोधाभास नहीं होना चाहिए। कोई भी कानून जो नैतिक मानकों का पालन नहीं करता है, उसे हटा दिया जाना चाहिए और कोई कानून सही है या गलत, इसका मूल्यांकन इस आधार पर किया जा सकता है कि वह नैतिक मूल्यों के अनुरूप है या नहीं।

कानून के उद्देश्य के रूप में नैतिकता— जैसा कि पहले कहा गया है, कानून बनाने का अंतिम लक्ष्य एक ऐसा समाज बनाए रखना है जो न्याय, निष्पक्षता और समानता के सिद्धांतों पर आधारित हो। कुछ नैतिक मानकों का पूरा उद्देश्य समाज में किसी तरह की व्यवस्था बनाए रखना भी है जिससे संघर्ष कम होंगे। इससे पता चलता है कि कमोबेश इन दोनों घटनाओं का उद्देश्य एक ही है। न्यायविदों का मानना है कि अगर कानून को लोगों के जीवन में शामिल रहना है, तो वह नैतिकता को नजरअंदाज नहीं कर सकता। अगर कोई कानून नैतिक मानकों के खिलाफ है, तो लोग उसका पालन करने में हिचकिचा सकते हैं जिससे समाज में और संघर्ष पैदा होंगे।

दार्शनिक विकल्प— कानून के विकास में मोटे तौर पर दो सिद्धांत हैं, जो कानूनी प्रत्यक्षवाद और प्राकृतिक कानून सिद्धांत हैं।

प्राकृतिक कानून सिद्धांत के अनुसार, कोई भी घोर अन्यायपूर्ण कानून, जिससे नैतिकता के मानकों का उल्लंघन होता है, वह कानून नहीं है। इसका मतलब है कि कानून और नैतिकता गहराई से जुड़े हुए हैं। प्राकृतिक कानून शब्द अपने आप में इस विचार से आता है कि मानव नैतिकता प्रकृति से आती है और समाज में नियमों और विनियमों का रूप लेती है। प्राकृतिक कानून सिद्धांत का समर्थन करने वाले कानूनी सिद्धांतकार ऑगस्टीन, एक्विनास, लोन फुलर और अन्य थे।

दूसरी ओर कानूनी प्रत्यक्षवाद कहता है कि कानूनी निकाय नैतिकता के किसी भी मानदंड से रहित होता है। ऐसा कहा जा रहा है, यह सिद्धांत कानूनों पर नैतिकता के प्रभाव को पूरी तरह से नकारता नहीं है। सिद्धांत इस दृष्टिकोण का अनुसरण करता है कि सभी कानून, नियम और विनियम मानव निर्मित हैं और इस प्रकार कानूनों और नैतिकता के पृथक्करण की वकालत करते हैं। कानूनी प्रत्यक्षवाद की वकालत करने वाले कानूनी सिद्धांतकारों में जॉन ऑस्टिन और एच.एल.ए. हार्ट शामिल हैं।

कानून और नैतिकता पर हार्ट-फुलर बहस— हार्ट-फुलर बहस, कानून और नैतिकता के बीच दिलचस्प अंतर-निर्भरता पर लोन फुलर और एच.एल.ए. हार्ट के बीच विचारों और राय के सबसे दिलचस्प आदान-प्रदानों में से एक है। यह 1958 में हार्वर्ड लॉ रिव्यू में प्रकाशित हुआ था और इसमें प्रत्यक्षवादी और प्राकृतिक कानून दर्शन में विचारों के अंतर को उजागर किया गया था। इन दोनों विचारकों द्वारा प्रस्तुत बिंदुओं को समझने के लिए, उनकी मान्यताओं और उनके पीछे के तर्क का अलग-अलग विश्लेषण करना महत्वपूर्ण है।

एच.एल.ए. हार्ट— हार्ट एक प्रत्यक्षवादी हैं और इसलिए उनकी राय है कि कानून और नैतिकता के बीच घनिष्ठ संबंध हो सकता है, लेकिन दोनों निश्चित रूप से एक-दूसरे पर निर्भर नहीं हैं। ऐसा कहने के बाद, हार्ट का मानना है कि कानून समाज में व्याप्त नैतिकता से काफी प्रभावित हुआ है। उनके अनुसार, कानून क्या होना चाहिए और क्या होना चाहिए, इसके बीच एक स्पष्ट अंतर किया जाना चाहिए। यहीं पर हार्ट ने पेनम्बा की समस्या को सामने लाया, जिसका अर्थ है कानून के अस्पष्ट होने पर अर्थ निर्धारित करना। फुलर ने इसके विरोध में कहा कि ऐसी परिस्थितियों में जहां कानून अनिश्चित है, न्यायाधीश नैतिकता के आधार पर निर्णय लेते हैं, मूल रूप से क्या होना चाहिए। इस पर हार्ट ने जवाब देते हुए कहा कि क्या होना चाहिए यह निर्धारित करना कानूनी अर्थ से समझा जाना चाहिए, न कि नैतिक अर्थ से। अनिवार्य रूप से, कानून की व्याख्या कानूनी दुनिया के बाहर से नहीं आ सकती।

कानून और नैतिकता के बीच अंतर्संबंध के कारण चुनौतियाँ— कानून और नैतिकता की दो अवधारणाएँ कई कारणों से अलग हो सकती हैं, लेकिन एक बात जो उनमें समान है वह यह है कि ये दोनों हमारे जीवन जीने के तरीके को प्रभावित करती हैं। नैतिकता और कानून दोनों ही अस्पष्ट अवधारणाएँ हैं जिनका कोई निश्चित अर्थ नहीं है। ये दोनों ही अवधारणाएँ समय के साथ उभरे नए विचारों के साथ विकसित हुई हैं। आजकल, ऐसा प्रतीत होता है कि नैतिकता का विचार एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति में भिन्न होने लगा है। इसका मतलब है कि नैतिकता अपने आप में व्यक्तिपरक हो गई है जो एक के लिए नैतिक रूप से गलत हो सकता है वह दूसरे के लिए नैतिक रूप से सही हो सकता है। जब नैतिक रूप से सही क्या हो सकता है इसका कोई निश्चित मानक नहीं है, तो कानून निर्माता नैतिकता के आधार पर कानून कैसे बना सकते हैं? आधुनिक दुनिया कानून और नैतिकता के बीच टकराव देख रही है और ऐसे कई मुद्दे हैं जहाँ इन दोनों अवधारणाओं को ओवरलैप नहीं किया जाना चाहिए, और नए कानूनों को पूरी तरह से मौजूदा कानूनी ढांचे पर निर्भर होना चाहिए। न्याय सुनिश्चित करने वाले कानून बनाने के लिए एक प्रगतिशील दृष्टिकोण की आवश्यकता होती है, जो पूरी तरह से नैतिकता के अनुरूप नहीं हो सकता है। व्यावहारिक दृष्टिकोण से कानून और नैतिकता के बीच संघर्ष को समझने के लिए निम्नलिखित मुद्दों का विश्लेषण किया जा सकता है।

डडली और स्टीफन केस— आर वी डडली और स्टीफंस (1884) कानून और नैतिकता के बीच सदियों पुरानी बहस से निपटने वाले सबसे प्रसिद्ध मामलों में से एक है। इस मामले में इस बात पर चर्चा की गई थी कि क्या नरभक्षण, जिसे अत्यधिक अनैतिक कार्य माना जाता था, आवश्यकता और असहायता के प्रश्न पर किया जा सकता है। मामले के तथ्यों में चार व्यक्ति शामिल थे जो समुद्र के बीच में, जमीन से बहुत दूर, एक नाव में फंसे हुए थे। पुरुषों के पास किसी भी व्यक्ति से संपर्क करने का कोई तरीका नहीं था और वे बिना किसी भोजन और पानी के नाव में फंसे हुए थे। भोजन और पानी के बिना सात दिनों तक खुद को प्रताड़ित करने के बाद, जहाज के कप्तान थॉमस डडली ने एक अनैतिक समाधान निकाला। उन्होंने सुझाव दिया कि चार लोगों में से एक को बलिदान देना होगा ताकि अन्य तीन उसका मांस खाकर जीवित रह सकें। एडवर्ड स्टीफंस सहमत हो गए जबकि नेड ब्रूक्स ने इस योजना को आगे बढ़ाने से इनकार कर दिया और केबिन बॉय रिचर्ड पार्कर से सलाह नहीं ली गई। आखिरकार, लड़के को डडली और स्टीफन ने मार डाला जिसके बाद तीनों लोगों ने लड़के का मांस खाया।

प्रश्न न0 11—प्रतिनिहित दायित्व से आप क्या समझते हैं? अपने सेवकों के द्वारा कारित किये गये अपकृत्यों के लिए भारत सरकार के दायित्वों का निर्धारण कीजिए।

उत्तर— कानून अपने नागरिकों पर कुछ कर्तव्य लगाता है। इन कर्तव्यों का उल्लंघन एक गलत कार्य है। जब कोई व्यक्ति आपराधिक कानून या अनुबंध के उल्लंघन या विश्वास के उल्लंघन जैसे नागरिक गलत कार्यों के विपरीत नागरिक कानून द्वारा लगाए गए कर्तव्य का उल्लंघन करता है तो वह टोर्ट कानून का उल्लंघन करता है। टोर्ट

मुख्य रूप से एक नागरिक गलत है दूसरे में निहित सामान्य कानूनी अधिकारों का उल्लंघन। कानून के सामान्य क्रम में जो व्यक्ति अपराध करता है वह सजा काटता है। हालाँकि इस सामान्य नियम के कुछ अपवाद हैं जिनमें से एक प्रतिनिधि दायित्व की सामान्य कानून अवधारणा है। प्रतिनिधि शब्द लैटिन शब्द प्वाइसप् से लिया गया है जिसका अर्थ है के स्थान पर। व्युत्पत्ति के अनुसार प्रतिनिधि दायित्व का अर्थ है इसके बजाय दायित्वशायनी एक द्वारा वहन किया गया दायित्व लेकिन दूसरे द्वारा भुगता या चुकाया गया। श्विकरश् शब्द वाइस का समानार्थी है और इसका अर्थ है 'व्यक्ति में' या विकल्प। कानून की दृष्टि में किसी व्यक्ति को दूसरे के कृत्यों के लिए उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता है उसे केवल उसके द्वारा किए गए टोट या गलत कार्यों के लिए उत्तरदायी ठहराया जाएगा। हालाँकि कुछ परिस्थितियों में किसी व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति के दायित्व का निर्वहन करने के लिए उत्तरदायी ठहराया जा सकता है। जब कोई व्यक्ति ऐसी परिस्थितियों में किसी दूसरे व्यक्ति के दायित्व का निर्वहन करता है तो उसे प्रतिनिधि दायित्व कहा जाता है। प्रतिनिधि दायित्व गलत काम करने वाले के अलावा किसी अन्य व्यक्ति पर दायित्व थोपता है जिसे आरोपित दायित्व भी कहा जाता है।

(1) एक व्यक्ति द्वारा गलत/अपराधपूर्ण कार्य या चूक की जाती है

(2) गलत करने वाले और अपकारक के बीच नियंत्रण का संबंध होता है।

(3) जब ऐसा कार्य या चूक सीधे उक्त संबंध से संबंधित हो।

ऐसे 3 प्रकार के संबंध हैं, जिनमें प्रतिनिधि दायित्व की अवधारणा लागू की जा सकती है, अर्थात् एजेंट और

(1) **प्रिसिपल के बीच संबंध**— एजेंट और प्रिसिपल के बीच एक प्रत्ययी संबंध होता है, यानी विश्वास पर आधारित संबंध। इस संबंध में, प्रिसिपल एजेंट को नियुक्त करता है और उसे अपनी ओर से कार्य करने और प्रिसिपल द्वारा उस पर लगाए गए कर्तव्यों का निर्वहन करने के लिए अधिकृत करता है। जिस व्यक्ति को इस तरह कार्य करने के लिए अधिकृत किया जाता है, वह एजेंट होता है। प्रिसिपल का प्राधिकरण व्यक्त या निहित हो सकता है। यदि एजेंट अपने रोजगार के दौरान या अपने कर्तव्यों के निर्वहन में कोई अपकृत्य करता है, तो उस प्रिसिपल पर भी दायित्व लगाया जा सकता है, जिसने पहले स्थान पर ऐसे कार्य को अधिकृत किया था। यहां, प्रिसिपल अपने एजेंट पर शक्ति और नियंत्रण की स्थिति में होता है। इसलिए, एजेंट और प्रिसिपल दोनों संयुक्त अपकृत्यकर्ता हैं और उनका दायित्व संयुक्त और अलग-अलग है। वादी को दोनों या किसी एक पर मुकदमा करने का अधिकार है। स्टेट बैंक ऑफ इंडिया बनाम श्यामा देवी मामले में, वादी के पति ने अपने खाते में जमा किए जाने वाले चेक अपने एक मित्र को दिए थे, जो प्रतिवादी बैंक का कर्मचारी था। जमा की कोई रसीद नहीं ली गई और मित्र ने राशि का दुरुपयोग किया। न्यायालय ने माना कि कर्मचारी बैंक में अपने रोजगार के दायरे में काम नहीं कर रहा था, बल्कि धोखाधड़ी करने के समय जमाकर्ता के मित्र के रूप में काम कर रहा था। इसलिए, प्रतिवादी बैंक को प्रतिनिधि दायित्व के तहत उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता।

(2) **स्वामी और उसके नौकर के बीच संबंध**— यह कानून का एक सामान्य नियम है, कि यदि कोई स्वामी अपने नौकर द्वारा कुछ कार्य किए जाने को अधिकृत करता है या आदेश देता है, तो मालिक को नौकर द्वारा किए गए किसी भी अपकृत्य के लिए उत्तरदायी ठहराया जाना चाहिए। फिर से, यहाँ स्वामी अपने पर्यवेक्षण के तहत काम करने वाले नौकर पर नियंत्रण या अधिकार की स्थिति में है। स्वामी का दायित्व इसलिए उत्पन्न होता है क्योंकि वह अपने नौकर द्वारा किए गए कार्यों का लाभ उठाता है।

हालांकि, मालिक को अपने नौकर के कार्यों के लिए उत्तरदायी बनाने के लिए निम्नलिखित अनिवार्यताओं को पूरा किया जाना चाहिए—

(1) नौकर द्वारा अपकृत्य किया गया था। नौकर वह व्यक्ति है जिसे उसके मालिक द्वारा सौंपे गए सभी कर्तव्यों को पूरा करने के लिए नियुक्त किया जाता है।

(2) नौकर ने रोजगार के दौरान अपकृत्य किया। किसी कार्य को रोजगार के दौरान तब कहा जाता है जब गलत कार्य मालिक द्वारा स्पष्ट रूप से अधिकृत किया जाता है या यदि यह मालिक द्वारा अधिकृत कार्य करने का गलत या अनधिकृत तरीका है।

यह ध्यान रखना उचित है कि यह दायित्व तब भी उत्पन्न होता है जब नौकर ने स्पष्ट निर्देशों के विरुद्ध और अपने मालिक के किसी लाभ के लिए कार्य नहीं किया हो। एजेंट और प्रिसिपल संबंध की तरह, मालिक और नौकर का दायित्व संयुक्त और अलग-अलग होता है और दोनों संयुक्त अपकृत्यकर्ता होते हैं। हालांकि, ऐसे मामलों में जहां नौकर अपने रोजगार के दौरान कार्य करता है, मालिक को उसके कार्यों के लिए केवल इसलिए उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता है क्योंकि उसे ऐसा कार्य करने का अवसर नहीं मिला होता, लेकिन वह मालिक की सेवा में होता। इसी तरह, मालिक को उसके द्वारा नियुक्त किए गए स्वतंत्र ठेकेदार के गलत कार्यों के लिए उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता है। एक नौकर की तरह, एक स्वतंत्र ठेकेदार अपने नियोक्ता के कार्य को पूरा करने का बीड़ा उठाता है, हालांकि, एक नौकर के विपरीत, वह अपने नियोक्ता की देखरेख या नियंत्रण में नहीं होता है और अपने कर्तव्यों के निर्वहन में स्वतंत्र विवेक का उपयोग कर सकता है।

परंपरागत रूप से, एक नौकर और एक स्वतंत्र ठेकेदार के बीच अंतर निर्धारित करने के लिए परीक्षण नियंत्रण परीक्षण हुआ करता था। हालांकि, आधुनिक अधिकारी "नौकरी और आगजनी" परीक्षण लागू करते हैं, यानी यह जाँचने के लिए कि क्या कोई व्यक्ति दूसरे का वेतन स्वामी है और उसे अपने कर्मचारी को नौकरी से निकालने का अधिकार है।

(3) साझेदारों की जिम्मेदारी— भागीदारों के बीच संबंध प्रिंसिपल और एजेंट का होता है और एजेंसी के नियम भी उन पर लागू होते हैं। साझेदारी में सभी अभिनेता एक दूसरे की ओर से काम करते हैं जबकि खुद को सामूहिक रूप से पेश करते हैं। ये साझेदारी फर्म, कंपनी, ट्रस्टी या हिंदू संयुक्त परिवार का प्रतिनिधित्व करने वाले कर्ता के रूप में भी हो सकती है। इसलिए, भारतीय भागीदारी अधिनियम, 1935 में उल्लिखित नियमों के तहत एक भागीदार को दूसरे भागीदार द्वारा गलत या लापरवाही से किए गए कार्य के लिए उत्तरदायी ठहराया जा सकता है।

हैमलिन बनाम ह्यूस्टन एंड कंपनी में, फॉर्म के भागीदारों में से एक ने अपने अधिकार के दायरे में काम करते हुए, वादी के क्लर्क को उसके रोजगार अनुबंध का उल्लंघन करने के लिए प्रेरित करने के लिए रिश्वत देने का प्रयास किया। न्यायालय ने माना कि दूसरे भागीदार को भागीदारों में से किसी एक द्वारा किए गए अपकृत्य के लिए उत्तरदायी ठहराया जा सकता है।

राज्य की जिम्मेदारी— पिछले कई दशकों से, राज्य की शक्तियों और कार्यों में काफी विस्तार हुआ है। पारंपरिक अहस्तक्षेप नीतियों से लेकर कल्याणकारी राज्य के रूप में राज्य की मान्यता तक में काफी बदलाव आया है। यह भी एक प्रचलित कहावत है कि “सत्ता भ्रष्ट करती है और पूर्ण सत्ता पूर्ण रूप से भ्रष्ट करती है।” इसलिए, राज्य द्वारा नियोजित व्यक्तियों द्वारा नागरिकों के सामान्य कानूनी अधिकारों के उल्लंघन की परिस्थितियों में अपनी जवाबदेही सुनिश्चित करने के लिए राज्य की शक्तियों पर नियंत्रण एक आवश्यक आवश्यकता है। यह आवश्यकता भारतीय संविधान के अनुच्छेद 300 द्वारा पूरी की गई है, जो यह प्रावधान करती है कि भारत संघ और राज्य किसी भी मुकदमे या कार्यवाही के उद्देश्य के लिए न्यायिक व्यक्ति हैं और इस प्रकार उनके नाम पर मुकदमा चलाया जा सकता है या उन पर मुकदमा चलाया जा सकता है। वर्तमान में भारतीय संविधान के आने से पहले, भारत सरकार अधिनियम, 1858 की धारा 65 के तहत राज्य के दायित्व का संक्षिप्त उल्लेख था। राज्य पर प्रतिनिधि दायित्व के आरोपण की अवधारणा अपने नागरिकों की सुरक्षा के अपने मूल कर्तव्य के प्रदर्शन के लिए आवश्यक है। यदि ऐसे प्रावधान न होते, तो सरकारी अस्पताल में कोई भी डॉक्टर या कोई भी पुलिस अधिकारी किसी भी दुर्भावनापूर्ण या गलत कार्य के लिए उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता था। प्रतिनिधि दायित्व की अवधारणा का आधार और औचित्य।

प्रतिनिधि दायित्व की अवधारणा की जड़ें निम्नलिखित लैटिन कहावतों में पाई जाती हैं — “क्विट फैंसिट पर एलियमफैंसिट पर से” शाब्दिक अर्थ है, “जो कोई दूसरे के माध्यम से कोई कार्य करता है, उसे कानून में स्वयं करने वाला माना जाता है।” यह कहावत स्वामी-सेवक और प्रधान-एजेंट संबंधों में लागू होती है क्योंकि इस संबंध में एक अभिनेता को दूसरे द्वारा विशेष रूप से उनकी ओर से कार्य करने या कुछ निर्दिष्ट कार्य करने के लिए नियुक्त किया जाता है। चूंकि वे दूसरे के कार्यों का लाभ उठाते हैं, इसलिए वे ऐसे कार्यों के निष्पादन में होने वाली किसी भी देनदारी को स्वीकार करे के लिए भी उत्तरदायी होते हैं।

रेस्पोंडेन्ट सुपीरियर—शाब्दिक अर्थ है, “वरिष्ठ को उत्तरदायी होने दें।” यहाँ भी, स्वामी और प्रधान को शक्ति और नियंत्रण की स्थिति प्राप्त है जिसके द्वारा वे किसी कार्य के निष्पादन को निर्देशित या अधिकृत कर सकते हैं। इन मामलों में, चूंकि वे श्रेष्ठता की स्थिति रखते हैं, इसलिए उन्हें अपने कर्मचारियों के कार्यों के लिए प्रतिनिधि रूप से उत्तरदायी ठहराया जा सकता है।

इस सिद्धांत को निम्नलिखित कारणों से भी उचित ठहराया जाता है—

(1) यह धारणा कि कोई भी व्यक्ति जो अपनी ओर से किसी दूसरे को काम पर रखता है, उसके पास “बहुत ज्यादा पैसे” होते हैं और इसलिए, उसे वास्तविक अपराधी के विकल्प के रूप में उस व्यक्ति के दावों को पूरा करने के लिए उत्तरदायी ठहराया जा सकता है, जिसके साथ गलत व्यवहार किया गया है। उदाहरण के लिए, एक मालिक-सेवक संबंध में, मालिक अपनी बड़ी जेब या बीमा में अपने दावे के कारण दावे को पूरा करने में सक्षम हो सकता है।

(2) चूंकि मालिक के पास संभावित वित्तीय चिंता है, इसलिए वह अपने कर्मचारियों और दूसरों के लिए पूर्ण सुरक्षा और देखभाल सुनिश्चित करेगा।

(3) चूंकि एक व्यक्ति दूसरे के श्रम का फल भोगता है, इसलिए उसे किसी भी नुकसान के लिए भी उत्तरदायी ठहराया जाना चाहिए। उसे लाभ स्वीकार करने और अपने श्रम के बोझ को अस्वीकार करने की अनुमति नहीं दी जा सकती।

प्रश्न न0 12—विधि न्याय प्राप्त करने का एक साधन है। उपरोक्त कथन के प्रकाश में विधि के उद्देश्यों की व्याख्या कीजिए।

उत्तर— ‘कानून’ शब्द के तीन प्राथमिक अर्थ हैं। सबसे पहले, यह कानूनी व्यवस्था की अवधारणा को दर्शाता है। यह एक संरचित प्रणाली को संदर्भित करता है जो राजनीतिक समाज के संगठित और आधिकारिक प्रभाव के माध्यम से संबंधों को नियंत्रित करता है और उचित आचरण को निर्देशित करता है। यह शासकीय निकाय के विनियमित बल का उपयोग करके संघर्षों को हल करने और व्यवस्था बनाए रखने के लिए एक रूपरेखा स्थापित करता है।

दूसरा, ‘कानून’ एक राजनीतिक रूप से संगठित समुदाय के भीतर मौजूद कानूनी उपदेशों की संपूर्णता को समाहित करता है। इसमें नियमों, विनियमों और सिद्धांतों का एक व्यापक संग्रह शामिल है जो व्यक्तियों और संस्थानों के व्यवहार का मार्गदर्शन करते हैं, एक कार्यशील और व्यवस्थित समाज सुनिश्चित करते हैं। कानूनी सिद्धांतों का यह समूह वह आधार बनाता है जिस पर समाज के संचालन और अंतःक्रियाएँ निर्मित होती हैं।

तीसरा, 'कानून' शब्द एक राजनीतिक रूप से संरचित समाज के भीतर संचालित होने वाले आधिकारिक नियंत्रण के सभी रूपों को समाहित करता है। इसमें न केवल कानून के सैद्धांतिक निर्माण शामिल हैं, बल्कि न्याय का व्यावहारिक अनुप्रयोग भी शामिल है। इसमें विवादों को हल करने और समाज में निष्पक्षता बनाए रखने के लिए स्थापित कानूनी सिद्धांतों का कार्यान्वयन शामिल है। कानून का यह पहलू कानूनी रूपरेखाओं द्वारा प्रदान किए गए सैद्धांतिक मार्गदर्शन और अधिकारियों द्वारा न्याय के सक्रिय निष्पादन के बीच अंतर करता है। एक संकीर्ण अर्थ में, 'कानून' विशेष रूप से नागरिक कानून या किसी विशेष भौगोलिक क्षेत्र को नियंत्रित करने वाले कानूनी नियमों को संदर्भित कर सकता है। यह परिभाषा कानूनी प्रणाली के मूर्त और परिचालन पहलुओं पर जोर देती है जो दैनिक बातचीत, विवादों और सामाजिक महत्व के मामलों को नियंत्रित करती है।

कानून का उद्देश्य— कानून कई उद्देश्यों को पूरा करता है, जिनमें से चार मुख्य हैं—

(1) व्यवस्था बनाए रखना

कानून सामाजिक मानदंडों को स्थापित करने के व्युत्पन्न के रूप में कार्य करता है। जिस तरह एक सभ्य समाज साझा मूल्यों की आवश्यकता रखता है, उसी तरह कानून एक सुसंगत ढांचा प्रदान करता है। लागू कानून समाज के दिशा-निर्देशों के साथ संरेखण सुनिश्चित करता है। उदाहरण के लिए, वन्यजीव प्रबंधन कानून भविष्य की पीढ़ियों के लिए खेल की सुरक्षा और संरक्षण करते हैं।

(2) मानक स्थापित करना— कानून समाज के भीतर स्वीकार्य आचरण के लिए एक बेंचमार्क निर्धारित करता है। यह उन कार्यों को निर्दिष्ट करता है जिन्हें अपराधिक माना जाता है, जो व्यक्तियों या उनके सामान को नुकसान पहुंचाने वाले व्यवहारों पर समाज के रुख को दर्शाता है। उदाहरण के लिए, किसी अन्य व्यक्ति को अनुचित नुकसान पहुंचाना एक अपराध है, जो हमला है।

(3) विवादों का समाधान— विविध इच्छाओं, आवश्यकताओं और मूल्यों को शामिल करने वाले समाजों में, विवाद अपरिहार्य हैं। कानून इन विवादों को सुलझाने के लिए एक औपचारिक रास्ता प्रदान करता है, अक्सर न्यायालय प्रणाली के माध्यम से।

(4) स्वतंत्रता और अधिकारों की रक्षा— संविधान और कानून व्यक्तियों को उनके संबंधित अधिकार क्षेत्र में विभिन्न अधिकार और स्वतंत्रता प्रदान करते हैं। कानून के महत्वपूर्ण कार्यों में से एक इन अधिकारों को सरकारों या व्यक्तियों जैसी संस्थाओं द्वारा अन्यायपूर्ण उल्लंघन से सुरक्षित रखना है। अगर किसी को लगता है कि सरकार द्वारा उनके अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के अधिकार का उल्लंघन किया गया है, तो अदालती कार्यवाही के माध्यम से कानूनी सहारा उपलब्ध है। कानून के ये प्रमुख उद्देश्य सामूहिक रूप से सामाजिक व्यवस्था को बनाए रखने, स्वीकार्य आचरण को परिभाषित करने, असहमति को निपटाने और व्यक्तिगत स्वतंत्रता और अधिकारों की रक्षा करने में कानून की भूमिका को रेखांकित करते हैं।

न्यायशास्त्र में कानून के कार्य— न्यायशास्त्र में कानून के कार्य न्यायविदों के बीच विविध दृष्टिकोणों का विषय रहे हैं। कानून को एक गतिशील अवधारणा के रूप में पहचाना जाता है जो समय और स्थान के साथ विकसित होती है, सामाजिक परिवर्तनों के अनुकूल होती है। इसकी समकालीन व्याख्या कानून को न केवल एक लक्ष्य के रूप में बल्कि एक लक्ष्य को प्राप्त करने के साधन के रूप में रखती है — सामाजिक न्याय की प्राप्ति। सिद्धांतकारों के बीच आम सहमति यह है कि कानून न्याय सुनिश्चित करने के लिए एक प्रमुख साधन के रूप में कार्य करता है। कानून के कार्यों पर हॉलैंड द्वारा व्यक्त एक दृष्टिकोण यह दावा करता है कि कानून समाज के अधिक से अधिक कल्याण की सेवा करता है, जो व्यक्तिगत अधिकारों के लिए मात्र सुरक्षा की भूमिका से परे है।

रोस्को पाउंड ने कानून के चार प्रमुख कार्यों की पहचान की: कानून और व्यवस्था का संरक्षण, सामाजिक संतुलन को बनाए रखना, व्यक्तिगत स्वतंत्रता की सुविधा और मौलिक मानवीय आवश्यकताओं की संतुष्टि। उन्होंने कानून को सामाजिक इंजीनियरिंग के एक रूप के रूप में माना, जिसका निर्माण व्यक्तियों और राज्य दोनों के कल्याण को अनुकूलित करने के लिए किया गया है। यथार्थवादियों का प्रस्ताव है कि न्यायशास्त्र में कानून के कार्य व्यक्तियों और राज्य के सर्वोत्तम हितों को आगे बढ़ाते हैं, एक नियामक शक्ति के रूप में कार्य करते हैं। कानून के सार पर सैल्मंड का दृष्टिकोण तार्किक है। 'कानून' शब्द में नियमों और सिद्धांतों की एक विस्तृत श्रृंखला शामिल है। यह समाज के ढांचे के भीतर न्याय, नैतिकता, तर्क, संरचना और अधिकार को दर्शाते हुए मानव व्यवहार को विनियमित करने वाले तंत्र के रूप में कार्य करता है। यह कानून, अधिनियम, नियम, विनियम, आदेश और अध्यादेश जैसे विधायी घटकों से भी संबंधित है। न्यायिक दृष्टिकोण से, इसमें न्यायालय के निर्णय, डिक्री, निर्णय, न्यायालय के आदेश और निषेधाज्ञा शामिल हैं। इस विस्तृत परिभाषा में अधिनियम, कानून, नियम, विनियम, आदेश, नैतिकता, न्याय, तर्क, निष्पक्षता, न्यायालय प्रक्रिया, आदेश, निर्णय, निषेधाज्ञा, कानूनी गलतियाँ, कानूनी दर्शन और सिद्धांत शामिल हैं।

LL.B.-4th Sem. Paper-II Law of Insurance

प्रश्न न० 1— बीमा को परिभाषा कीजिए। क्या आप सहमत हैं कि बीमा एक संविदा है? बीमा के मूलभूत सिद्धान्तों को संक्षेप में स्पष्ट कीजिए।

उत्तर— बीमा के सिद्धान्तों को समझना बीमाकर्ताओं और बीमित व्यक्तियों दोनों के लिए महत्वपूर्ण है, क्योंकि वे यह सुनिश्चित करने में मदद करते हैं कि बीमा पॉलिसियाँ निष्पक्ष और प्रभावी हों। इन सिद्धान्तों का पालन करके, बीमाकर्ता अपने ग्राहकों को वित्तीय सुरक्षा प्रदान कर सकते हैं, जबकि बीमित व्यक्तियों को भरोसा हो सकता है कि नुकसान या क्षति की स्थिति में उन्हें मुआवजा दिया जाएगा।

ऐसे सात सिद्धान्त हैं और इनमें शामिल हैं—

(1) सर्वोच्च सद्भावना का सिद्धान्त— सर्वोच्च सद्भावना का सिद्धान्त बीमा के मूलभूत सिद्धान्तों में से एक है। इसके लिए बीमाकर्ता और बीमित व्यक्ति दोनों को सद्भावना से कार्य करने और उन सभी भौतिक तथ्यों का खुलासा करने की आवश्यकता होती है जो बीमा करने के निर्णय या बीमा पॉलिसी की शर्तों को प्रभावित कर सकते हैं। यह सिद्धान्त इस विश्वास पर आधारित है कि बीमा अनुबंध बीमाकर्ता और बीमित व्यक्ति के बीच विश्वास और आपसी विश्वास पर आधारित होते हैं। यदि कोई भी पक्ष भौतिक तथ्यों का खुलासा करने में विफल रहता है, तो इससे एक पक्ष को दूसरे पर अनुचित लाभ हो सकता है।

सर्वोच्च सद्भावना का सिद्धान्त जीवन बीमा, स्वास्थ्य बीमा, संपत्ति बीमा और देयता बीमा सहित सभी प्रकार के बीमा अनुबंधों पर लागू होता है। यह सुनिश्चित करना बीमाकर्ता और बीमित व्यक्ति दोनों की जिम्मेदारी है कि अनुबंध के समय सभी भौतिक तथ्यों का खुलासा किया जाए। भौतिक तथ्य वे होते हैं जो बीमा करने के निर्णय या बीमा पॉलिसी की शर्तों को प्रभावित कर सकते हैं। उदाहरण के लिए, यदि किसी बीमित व्यक्ति को पहले से कोई बीमारी है, तो यह उसकी जिम्मेदारी है कि वह बीमाकर्ता को इसके बारे में बताए। ऐसा न करने पर बीमाकर्ता भविष्य में दावे को अस्वीकार कर सकता है। भौतिक तथ्यों को प्रकट करने के कर्तव्य के अलावा, सर्वोच्च सद्भावना के सिद्धान्त के तहत दोनों पक्षों को बीमा अनुबंध के दौरान ईमानदारी और निष्पक्षता से काम करना भी आवश्यक है। इसका मतलब है कि दावों का आकलन करते समय बीमाकर्ता को सद्भावना से काम करना चाहिए और बीमाधारक को बीमाकर्ता को जानकारी प्रदान करते समय सद्भावना से काम करना चाहिए। सर्वोच्च सद्भावना का सिद्धान्त बीमा में एक आवश्यक सिद्धान्त है। यह सुनिश्चित करता है कि बीमा अनुबंध बीमाकर्ता और बीमाधारक के बीच विश्वास और आपसी भरोसे पर आधारित हों। सभी भौतिक तथ्यों का खुलासा करके और ईमानदारी और निष्पक्षता से काम करके, दोनों पक्ष यह सुनिश्चित कर सकते हैं कि बीमा अनुबंध वैध और लागू करने योग्य है। मिनटों में मुफ्त कोटेशन पाएँ

(1) आपकी कंपनी का नाम (2) आपकी कंपनी का नाम ' (3) आपका नाम (4) आपका नाम ' (5) आपका फोन नंबर (6) आपका फोन नंबर ' (7) आपका कार्य ईमेल पता (8) आपका कार्य ईमेल पता '

(2) बीमा योग्य हित का सिद्धान्त— बीमा योग्य हित किसी व्यक्ति के किसी विशेष वस्तु या व्यक्ति का बीमा करने के कानूनी अधिकार को संदर्भित करता है। यह बीमा का एक मूलभूत सिद्धान्त है जो सुनिश्चित करता है कि पॉलिसीधारक का बीमा की जा रही संपत्ति या व्यक्ति में वित्तीय हित हो। यह सिद्धान्त आवश्यक है क्योंकि यह व्यक्तियों को उन वस्तुओं या लोगों पर बीमा पॉलिसी लेने से रोकता है जिनमें उनका वित्तीय हित नहीं है।

संपत्ति बीमा के मामले में, पॉलिसीधारक का बीमा की जा रही संपत्ति में बीमा योग्य हित होना चाहिए। उदाहरण के लिए, एक गृहस्वामी का अपने घर में बीमा योग्य हित होता है क्योंकि संपत्ति में उनका वित्तीय हित होता है। यदि संपत्ति क्षतिग्रस्त या नष्ट हो जाती है, तो गृहस्वामी को वित्तीय नुकसान होगा। इसलिए, उन्हें वित्तीय नुकसान से खुद को बचाने के लिए संपत्ति का बीमा करने का अधिकार है।

इसी तरह, जीवन बीमा के मामले में, पॉलिसीधारक का बीमा किए जा रहे व्यक्ति में बीमा योग्य हित होना चाहिए। इसका मतलब है कि पॉलिसीधारक का बीमाधारक के जीवन में वित्तीय हित होना चाहिए। उदाहरण के लिए, कोई व्यक्ति अपने जीवनसाथी के लिए जीवन बीमा पॉलिसी ले सकता है, क्योंकि अगर उसके जीवनसाथी की मृत्यु हो जाती है तो उसे वित्तीय नुकसान होगा। बीमा योग्य हित का सिद्धान्त आवश्यक है क्योंकि यह सुनिश्चित करता है कि बीमा पॉलिसियाँ सट्टेबाजी के उद्देश्य से नहीं ली जाती हैं। यह व्यक्तियों को ऐसी वस्तुओं या लोगों पर बीमा पॉलिसी लेने से रोकता है जिनमें उनका वित्तीय हित नहीं है। यह बीमा प्रणाली के साथ धोखाधड़ी और दुरुपयोग को रोकने में मदद करता है।

(3) क्षतिपूर्ति का सिद्धान्त— क्षतिपूर्ति का सिद्धान्त बीमा का एक मूलभूत सिद्धान्त है जिसका उद्देश्य बीमाधारक को बिना कोई वित्तीय लाभ दिए वास्तविक नुकसान की भरपाई करना है। यह इस सिद्धान्त पर आधारित है कि बीमा बीमाधारक को उसी वित्तीय स्थिति में वापस लाने का एक साधन है जिसमें वह नुकसान होने से पहले था। सरल शब्दों में, क्षतिपूर्ति का अर्थ है कि बीमाधारक को वास्तविक नुकसान के लिए मुआवजा पाने का अधिकार है, लेकिन नुकसान की राशि से अधिक नहीं। यह सिद्धान्त संपत्ति, देयता और मोटर बीमा सहित अधिकांश प्रकार की बीमा

पॉलिसियों पर लागू होता है। उदाहरण के लिए, अगर किसी कार का बीमा 3,00,000 रुपये का है और दुर्घटना में क्षतिग्रस्त हो जाती है, तो बीमाकर्ता बीमाधारक को पॉलिसी की सीमा तक मरम्मत की वास्तविक लागत का मुआवजा देगा। अगर मरम्मत की लागत बीमा राशि से कम है, तो बीमाकर्ता केवल मरम्मत की वास्तविक लागत का भुगतान करेगा। अगर मरम्मत की लागत बीमा राशि से अधिक है, तो बीमाकर्ता केवल सीमा तक ही भुगतान करेगा।

(4) प्रतिस्थापन का सिद्धांत— प्रतिस्थापन का सिद्धांत बीमा का एक आवश्यक सिद्धांत है जो बीमाकर्ता को दावा भुगतान करने के बाद बीमित व्यक्ति के अधिकारों को ग्रहण करने की अनुमति देता है। दूसरे शब्दों में, यह बीमाकर्ता को उस तीसरे पक्ष को आगे बढ़ाने का अधिकार देता है जिसने बीमाधारक को नुकसान पहुंचाया है। बीमाकर्ता बीमाधारक को भुगतान की गई राशि को वसूलने के लिए तीसरे पक्ष के खिलाफ कानूनी कार्रवाई करके ऐसा कर सकता है। प्रतिस्थापन का सिद्धांत इस विचार पर आधारित है कि बीमाधारक को एक ही नुकसान के लिए दो बार भुगतान नहीं किया जाना चाहिए। यदि कोई तीसरा पक्ष नुकसान के लिए जिम्मेदार है, तो बीमाकर्ता को तीसरे पक्ष से बीमाधारक को भुगतान की गई राशि वसूलने का अधिकार है। यह सिद्धांत विशेष रूप से उन मामलों में प्रासंगिक है जहां बीमाधारक के पास देयता नीति है। **उदाहरण के लिए,** यदि कोई ड्राइवर दुर्घटना का कारण बनता है जिसके परिणामस्वरूप किसी अन्य व्यक्ति की कार को नुकसान होता है, तो ड्राइवर की बीमा कंपनी नुकसान की भरपाई करेगी। हालांकि, अगर ड्राइवर की कोई गलती नहीं थी, तो बीमा कंपनी बीमाधारक को भुगतान की गई राशि वसूलने के लिए दूसरे ड्राइवर की बीमा कंपनी से संपर्क कर सकती है। प्रतिस्थापन का सिद्धांत क्षतिपूर्ति के सिद्धांत से निकटता से संबंधित है, जिसके अनुसार बीमाधारक को वास्तविक नुकसान की राशि के लिए मुआवजा दिया जाना चाहिए। बीमाकर्ता को बीमाधारक को भुगतान की गई राशि वसूलने की अनुमति देकर, प्रतिस्थापन का सिद्धांत यह सुनिश्चित करने में मदद करता है कि बीमाधारक को उसके नुकसान के लिए पर्याप्त रूप से मुआवजा दिया जाए।

(6) योगदान का सिद्धांत— योगदान का सिद्धांत बीमा का एक मूलभूत सिद्धांत है जो बताता है कि कोई व्यक्ति वास्तविक नुकसान की राशि से अधिक का दावा नहीं कर सकता है। दूसरे शब्दों में, यदि किसी व्यक्ति ने किसी संपत्ति का बीमा उसके वास्तविक मूल्य से अधिक राशि के लिए किया है, तो वह बीमा कंपनी से अतिरिक्त राशि का दावा नहीं कर सकता है। योगदान का सिद्धांत तब लागू होता है जब किसी व्यक्ति ने एक ही संपत्ति के लिए एक से अधिक बीमा पॉलिसी ली हों। ऐसे मामलों में, व्यक्ति को दोनों बीमा कंपनियों से नुकसान की पूरी राशि का दावा करने की अनुमति नहीं है। इसके बजाय, प्रत्येक बीमा कंपनी अपनी पॉलिसी द्वारा बीमित राशि के आधार पर नुकसान की आनुपातिक राशि का भुगतान करेगी। **उदाहरण के लिए,** यदि किसी व्यक्ति ने अपनी कार का बीमा दो अलग-अलग बीमा कंपनियों से 1,00,000 रुपये में कराया है, और कार दुर्घटना में शामिल है, जिससे 80,000 रुपये का नुकसान होता है, तो वे दोनों बीमा कंपनियों से 80,000 रुपये की पूरी राशि का दावा नहीं कर सकते। इसके बजाय, प्रत्येक बीमा कंपनी अपनी पॉलिसी द्वारा बीमित राशि के आधार पर नुकसान की आनुपातिक राशि का भुगतान करेगी। यदि एक बीमा पॉलिसी कार के मूल्य का 60: कवर करती है और दूसरी 40: कवर करती है, तो पहली बीमा कंपनी 48,000 रुपये और दूसरी बीमा कंपनी 32,000 रुपये का भुगतान करेगी। योगदान का सिद्धांत व्यक्तियों को बीमा दावे से लाभ उठाने से रोकने के लिए बनाया गया है। यह सुनिश्चित करता है कि कोई व्यक्ति वास्तविक नुकसान की राशि से अधिक नहीं वसूल सकता है और बीमा कंपनियों को नुकसान के अपने उचित हिस्से से अधिक का भुगतान करने की आवश्यकता नहीं है।

(6) हानि न्यूनीकरण का सिद्धांत— हानि न्यूनीकरण का सिद्धांत बीमा का एक आवश्यक सिद्धांत है। यह बीमाधारक द्वारा बीमित संपत्ति को होने वाले नुकसान या क्षति को कम करने के लिए उठाए गए कदमों को संदर्भित करता है। यह सिद्धांत इस आधार पर आधारित है कि बीमाधारक की जिम्मेदारी है कि वह बीमित संपत्ति को होने वाले नुकसान या क्षति को रोकने या कम करने के लिए उचित और आवश्यक कदम उठाए। नुकसान कम करने का सिद्धांत सभी प्रकार की बीमा पॉलिसियों पर लागू होता है, जिसमें संपत्ति बीमा, देयता बीमा और जीवन बीमा शामिल हैं। संपत्ति बीमा में, बीमाधारक से बीमित संपत्ति को नुकसान या हानि से बचाने के लिए सावधानी बरतने की अपेक्षा की जाती है। उदाहरण के लिए, बीमाधारक आग या चोरी के जोखिम को कम करने के लिए फायर अलार्म, स्प्रिंकलर सिस्टम और सुरक्षा उपकरण लगा सकता है। देयता बीमा में, बीमाधारक से दुर्घटनाओं या चोटों को रोकने के लिए उपाय करने की अपेक्षा की जाती है, जो उनके खिलाफ दावों का कारण बन सकती हैं। उदाहरण के लिए, एक व्यवसाय स्वामी दुर्घटनाओं के जोखिम को कम करने के लिए सुरक्षा प्रक्रियाओं को लागू कर सकता है और कर्मचारियों को प्रशिक्षण प्रदान कर सकता है। जीवन बीमा में, बीमाधारक से अच्छे स्वास्थ्य को बनाए रखने और जोखिम भरे व्यवहार से बचने के लिए उपाय करने की अपेक्षा की जाती है, जो समय से पहले मृत्यु का कारण बन सकते हैं। उदाहरण के लिए, एक व्यक्ति धूम्रपान छोड़ सकता है, नियमित रूप से व्यायाम कर सकता है और पुरानी बीमारियों के विकास के जोखिम को कम करने के लिए स्वस्थ आहार बनाए रख सकता है। नुकसान कम करने का सिद्धांत दावा प्रक्रिया में भी प्रासंगिक है। यदि बीमाधारक बीमित संपत्ति को होने वाले नुकसान या क्षति को रोकने या कम करने के लिए उचित कदम उठाने में विफल रहता है, तो बीमाकर्ता दावे की राशि कम कर सकता है या इसे पूरी तरह से अस्वीकार कर सकता है।

(7) **कारण प्रॉक्सिमा का सिद्धांत**— कारण प्रॉक्सिमा का सिद्धांत, जिसे प्रॉक्सिमेट कारण सिद्धांत के रूप में भी जाना जाता है, बीमा के सात सिद्धांतों में से एक है। यह बताता है कि बीमाकर्ता नुकसान या क्षति के कारण पर विचार करेगा, और केवल तभी नुकसान को कवर करेगा जब यह किसी बीमाकृत जोखिम के कारण हुआ हो। सरल शब्दों में, इस सिद्धांत का अर्थ है कि बीमा कंपनी केवल तभी दावे के लिए भुगतान करेगी जब नुकसान या क्षति का निकटतम या निकटतम कारण हो।

प्रश्न न0 2— दोहरा बीमा से आप क्या समझते हैं? इसके आवश्यक तत्व हैं?

उत्तर— जब भी कोई सम्पत्ति या दायित्व एक ही जोखिम के लिये विधिपूर्ण ढंग से लागू किया जाने योग्य अलग-अलग पॉलिसी द्वारा आवतरित किया जाता है तो इसे दोहरा बीमा कहते हैं। कहने के तात्पर्य यह है कि जब कोई बीमाधारक एक ही विषय-वस्तु के एक ही जोखिम के लिये कई बीमाकर्ताओं से बीमा कराता है या एक ही बीमाकर्ता से अनेक बीमा पॉलिसी लेता है तब इसे दोहरा बीमा कहते हैं। 'दोहरा बीमा' सभी प्रकार के बीमाओं में किया जा सकता है चाहे वह जीवन बीमा हो या साधारण बीमा। बीमित घटना के घटित होने पर जीवन बीमा में तो प्रत्येक बीमा पॉलिसी से पूर्ण राशि वसूल की जा सकती है परन्तु अन्य प्रकार के बीमाओं में हानि पर समस्त पॉलिसियों पर कुल मिलाकर वास्तविक हानि से अधिक रकम प्राप्त नहीं की जा सकती है क्योंकि इनमें क्षतिपूर्ति का सिद्धान्त लागू होता है।

दोहरा बीमा के आवश्यक लक्षण—दोहरा बीमा तभी माना जायेगा जब उसमें निम्नलिखित लक्षण मौजूद हों—

(क) **भिन्न क्षेत्रों के साथ पॉलिसी**—दोहरा बीमा के लिये आवश्यक नहीं है कि पॉलिसी का क्षेत्र एक ही हो। पॉलिसी का क्षेत्र अलग-अलग भी हो सकता है। उदाहरणार्थ— **एलबिसन इंड्योरेंस कम्पनी बनाम गवर्नमेंट इंड्योरेंस आफिस आफ यू साउथ वेल्स** के वाद में माना गया कि मोटर पॉलिसी और नियोक्ता के दायित्व की पॉलिसी के द्वारा दोहरा बीमा हो सकता है। इसी तरह से एक हाउस होल्ड पॉलिसी किसी बीमाधारक की ऐसी सम्पत्ति को भी आवृत्त कर सकती है जो घर के बाहर हो जैसे कि घेरलू पॉलिसी किसी बीमाधारक की टी.वी. को आवृत्त करती है और उस वक्त भी आवृत्त की जा सकती है जब वह मरम्मत कराने के लिये ले जायी जाती है। अतः मरम्मतकर्ता की दुकान पर पहुँचने के बाद यह टी.वी. मरम्मतकर्ता द्वारा ली गयी पॉलिसी द्वारा भी आवृत्त हो जाती है, उस समय यह टी.वी. दोहरी पॉलिसी के अधीन हो जाती है।

(ख) **एक ही जोखिम**—दोहरा बीमा के लिये यह आवश्यक है कि 'एक ही जोखिम' हो। एक ही जोखिम का अर्थ यह है कि दोनों पॉलिसी में एक ही बीमाधारक का एक ही हित आवृत्त होना चाहिये। उदाहरणार्थ— **नार्थ ब्रिटिश एण्ड मरकेन्टाइल इंड्योरेंस कम्पनी बनाम लन्दन लिवरपूल एण्ड ग्लोब इंड्योरेंस कम्पनी** के वाद में उपनिधाता का अनाज उपनिहितियों के कब्जे में था जो घाटवाल थे और अनाज ऐसी परिस्थितियों में खोया था जिसके द्वारा उपनिहिती विधिक रूप से हानि के लिये जिम्मेदार थे। यह अनाज दोनों पक्षकारों द्वारा बीमित था। उपनिधाता ने एक साधारण सम्पत्ति पॉलिसी के अन्तर्गत बीमा कराया था, जबकि उपनिहितियों ने प्लवमान पॉलिसी ले रखी थी। उपनिहितियों ने अपने बीमाकर्ताओं से अपनी क्षतिपूर्ति कर ली थी। तत्पश्चात् उन बीमाकर्ताओं ने उपनिधाता के बीमाकर्ता से अभिदाय माँगा। कोर्ट ऑफ अपील ने यह निर्णय दिया कि अभिदाय का कोई अधिकार नहीं बनता था क्योंकि दोनों पॉलिसी अलग-अलग हितों को आवृत्त करती थी। चूँकि उक्त परिस्थितियों में उपनिहितियों को क्षति हुई थी और इस कारण उनके बीमाकर्ता की हानि हुई थी इसलिये यदि उपनिधाता के बीमाकर्ता ने उपनिधाता को बीमित राशि दे दी होती है तब उपनिधाता के द्वारा उपनिहितियों पर दावा करने का अधिकार पर वह प्रत्यास्थापन कर सकता था। अतः जहाँ अभिदाय नहीं है, वहाँ जब कभी भी विधिक रूप में हानि हो तब उसे केवल एक बीमाधारक हो ही वहन किया जान चाहिए।

(ग) **एक ही बीमाधारक**—'दोहरा बीमा' के लिए यह भी आवश्यक है कि सभी बीमा पॉलिसियाँ एक ही बीमाधारक से सम्बन्धित हो। यदि किसी सम्पत्ति में दो व्यक्तियों के पृथक-पृथक हित हों जिसके लिये प्रत्येक ने अलग-अलग बीमा कराया हो तब यह दोहरा बीमा नहीं हाग। जैसाकि नार्थ ब्रिटिश के वाद के निर्णय से स्पष्ट है कि न केवल एक ही हित दोबारा बीमित होना चाहिये बल्कि वास्तव में बीमाधारक भी एक ही हो। परन्तु जॉन बर्ड के मतानुसार ऐसी विधि होनी चाहिये कि अभिदाय का लाभ प्राप्त करने के लिये एक बीमाधारक होने की आवश्यकता नहीं हो। ऐसी स्थिति में भी अभिदाय का लाभ मिलना चाहिये जहाँ कि एक बीमाधारक को किसी दूसरी पॉलिसी से लाभ मिलने का अधिकार हो भले ही उस पॉलिसी के अन्तर्गत वो बीमाधारक बीमित न हो और इसलिये किसी प्रकार का वाद दायर करने के लिए उस पॉलिसी के आधार पर अधिकृत न हों।

दोहरा बीमा से सम्बन्धित शर्तें— क्षतिपूर्ति की पॉलिसियों में दोहरा बीमा सम्बन्धित कुछ शर्तें होती हैं जिसका काफी महत्व होता है दो वर्ग में रख सकते हैं।

(क) दायित्व से मुक्त करने वाली शर्तें— ऐसी शर्तें निम्न तरह की हो सकती हैं—

(1) यदि बीमाधारक की किसी दूसरी बीमा पॉलिसी द्वारा क्षतिपूर्ति हो तो इस बीमाकर्ता कर उस सीमा तक कोई दायित्व न होगा।

(2) यदि बीमाधारक किसी और पॉलिसी द्वारा अपना दावा पाने के लिये अधिकृत है तो उस दावे के लिये बीमाकर्ता का कोई दायित्व न होगा।

स्पष्ट है कि एक बीमाकर्ता की पॉलिसी में ऐसा क्लॉज है, दूसरे बीमाकर्ता की पॉलिसी में ऐसा क्लॉज नहीं है, तो बीमाधारक के लिये कोई समस्या न होगी और एक तरह से यह दोहरा बीमा की ऐसी स्थिति न होगी जिससे कुछ

भी परेशानी हो। परन्तु यदि दोनों बीमाकर्ता अपनी पॉलिसियों में इसका उल्लेख कर देते हैं तब बीमाधारक के लिये समस्या होगी। **गेल बनाम मोटर मोटर यूनिजन इश्योरेंस कम्पनी** में दुर्घटना के समय क ख की कार चला रहा था। क के पास अपनी बीमा पॉलिसी थी और इसके द्वारा ऐसी स्थिति में भी क्षतिपूर्ति होनी थी जब कि वह किसी दूसरे की गाड़ी उसकी आज्ञा/सहमति से चला रहा हो। इसके साथ ही क की ख की मोटर पॉलिसी के द्वारा भी क्षतिपूर्ति होनी थी जिसके द्वारा ख की गाड़ी किसी भी अधिकृत ड्राइवर द्वारा चलाये जाने की स्थिति में बीमित थी एवं ऐसा अधिकृत ड्राइवर भी क्षतिपूर्ति का अधिकारी था। लेकिन दोनों की पॉलिसियों में यह लिखा हुआ था कि किसी दूसरे बीमा की स्थिति में बीमाकर्ता का कोई दायित्व न होगा। साथ ही साथ दोनों की पॉलिसियों में अनुपातिक भाग की शर्त भी लिखी हुई थी। ऐसी स्थिति में न्यायमूर्ति रोचे ने यह तय किया कि दोनों पॉलिसियों में दायित्व के समाप्त करने की शर्त स्पष्ट नहीं थी और उनको ऐसी स्थिति के लिये अर्थपूर्ण माना जा सकता था जब कि दूसरी पॉलिसी पूर्णतः सुरक्षा प्रदान करती हो। परन्तु यहाँ अनुपातिक भाग क्लैज क्योंकि दोनों पॉलिसियों में ही था, दोनों में से कोई भी पूर्णतः सुरक्षा नहीं देती है, अतः दोनों पॉलिसियों की ही दायित्व समाप्त करने वाली शर्त उक्त स्थिति में लागू नहीं होती थी और दोनों बीमाकर्ता अनुपातिक भाग के क्लैज के आधार पर दायी थे।

बेडेल बनाम रोड ट्रांसपोर्ट एण्ड जनरल इश्योरेंस कम्पनी ऐसा हर मामले में नहीं होता कि इन अलग-अलग योगदान खंडों का अस्तित्व योगदान दावों को जन्म देता है क्योंकि कुछ मामलों में खंड लागू नहीं हो सकते हैं, या संघर्ष में हो सकते हैं, या एक दूसरे को रद्द कर सकते हैं। न्यायिक प्राधिकरण से पता चलता है कि अदालतें आम तौर पर ऐसे योगदान खंडों से घृणा करती हैं जो अन्य बीमाकर्ताओं से देयता से बचने की कोशिश करते हैं और आमतौर पर यह मानेंगे कि ऐसे अन्य बीमा खंड एक दूसरे को रद्द कर देंगे और दोनों बीमाकर्ता नुकसान में योगदान करने के लिए उत्तरदायी होंगे। **वेडेल बनाम रोड ट्रांसपोर्ट एंड जनरल इश्योरेंस कंपनी लिमिटेड (1932)**, ट्रायल जज ने माना कि, “उचित निर्माण सह-अस्तित्व वाले कवर की श्रेणी से बाहर करना है, कोई भी कवर जो इस तरह के सह-अस्तित्व द्वारा खुद को रद्द करने के लिए व्यक्त किया जाता है, और ऐसे मामलों में यह मानना है कि दोनों कंपनियाँ उत्तरदायी हैं, निश्चित रूप से दोनों मामलों में किसी भी दर योग्य अनुपात खंड के अधीन जो हो सकता है।” नॉर्थब्रिज जनरल इश्योरेंस बनाम अवीवा इश्योरेंस (2022) के कनाडाई मामले में, ऑंटारियो अपील न्यायालय ने माना कि जहाँ दो पॉलिसियों में से प्रत्येक में एक खंड शामिल है जो उन्हें अतिरिक्त बनाता है यदि कोई अन्य बीमा मौजूद है, तो दो अतिरिक्त खंड असंगत और स्व-रद्द होते हैं और भुगतान करने वाले बीमाकर्ता द्वारा योगदान का दावा किया जा सकता है। मॉडर्न इश्योरेंस लॉ के जॉन बर्ड्स ने कहा कि, एब कमर्शियल यूनिजन इश्योरेंस बनाम हेडन (1977) में यह निर्णायक रूप से तय हो चुका है कि स्वतंत्र दायित्व दृष्टिकोण ही देयता बीमा का कानूनी आधार है।¹⁵ उस मामले में बीमाधारक ने कमर्शियल यूनिजन सीयू के साथ £100,000 की अधिकतम सीमा के साथ एक सार्वजनिक दायित्व पॉलिसी ली थी। बीमाधारक ने हेडन के साथ एक अन्य सार्वजनिक दायित्व कवर भी लिया, जो लॉयड का अंडरराइटर था, जिसकी अधिकतम सीमा £10,000 थी। दावे का निपटारा £4,425 पर हुआ और सीयू द्वारा भुगतान किया गया, जिसने 50: योगदान के लिए स्वतंत्र दायित्व पद्धति पर हेडन से योगदान का दावा किया। हेडन ने तर्क दिया कि अधिकतम दायित्व पद्धति लागू की जानी चाहिए और वे नुकसान के केवल 1/11वें हिस्से के लिए उत्तरदायी थे और योगदान क्रमशः £4,023 और £402 होना चाहिए। उच्च न्यायालय ने हेडन के पक्ष में अधिकतम दायित्व पद्धति लागू की, लेकिन अपील पर अपील न्यायालय सीयू से सहमत हुआ और स्वतंत्र दायित्व पद्धति लागू की।

(ग) सूचना देने की शर्त— दोहरे बीमा की स्थिति में अपने का निष्प्रभावी बनाने के अलावा ऐसी भी शर्तें कुछ पॉलिसियों में रखी जाती हैं जिनमें दोहरे बीमा की बीमाधारक द्वारा सूचना न दिए जाए की स्थिति में पॉलिसी को निष्प्रभावी मान लिया जाता है। ऐसी पॉलिसियों प्रायः अग्नि या सम्पत्ति से सम्बन्ध रखती हैं। परन्तु ऐसी स्थिति में भी न्यायालय न्यायिक सिद्धान्तों के आधार पर ही निर्णय देते हैं न कि शब्द रचना के तकनीकी अर्थ के आधार पर। निम्न वादों द्वारा इस स्थिति को स्पष्ट किया जा सकता है।

आस्ट्रेलियन एग्रीकल्चरल कम्पनी बनाम सॉन्डर्स के वाद में ये धाराएँ यह प्रावधान करती हैं कि जब तक बीमाधारक बीमाकर्ता को उसी जोखिम को कवर करने वाले दूसरे बीमा के अस्तित्व के बारे में लिखित सूचना नहीं देता, तब तक पॉलिसी शून्य होगी। आम तौर पर इसका मतलब यह होगा कि यदि बीमाकृत संपत्ति पहले या बाद में कहीं और बीमाकृत है, तो दावा वसूली योग्य होगा, जब तक कि ऐसे बीमा के विवरण कंपनी को लिखित रूप में अधिसूचित न किए गए हों।

प्रश्न न0 3— बीमा किसी विशिष्ट जोखिम को उसके प्रभावित व्यक्तियों के समूह में वितरित करने का एक सहकारी ढंग मात्र है। इस कथन को समझाइए।

उत्तर— बीमा के कार्यों के दृष्टिकोण से बीमा का अर्थ— “बीमा किसी विशिष्ट जोखिम को उसके प्रभावित व्यक्तियों के समूह से वितरित करने का एक सहकारी ढंग मात्र है।” यदि इस कथन की व्याख्या करें तो आर.एस. शर्मा के शब्दों में “ बीमा का कार्य सहयोग की प्रक्रिया के द्वारा असंख्य लोगों के बीच हानि को बांटना है, उन लोगों ने एक विशेष प्रकार का जोखिम संवृत्त करते थे, सहयोग किया, जिसमें वे लोग जब किसी उस जोखिम के कारण कोई हानि हो तो आपस में बाँट लें।”

मैकलीन भी कहते हैं—“बीमा किसी व्यक्ति द्वारा आसानी से वहन न की जा सकने वाली सम्भावित आर्थिक हानि को बड़ी संख्या में व्यक्तियों को बाँटने का एक तरीका है।”

अतः इन परिभाषाओं को देखने के पश्चात् यह स्पष्ट है कि बीमा का ऐसा सामाजिक कार्य, जिसमें द्वारा बीमाधारक के सन्दर्भ में मुख्यतः निम्न उद्देश्यों की पूर्ति होती है—

- (1) व्यक्तिगत आर्थिक सुरक्षा प्रदान करना,
- (2) मानसिक शक्ति तथा सुरक्षा प्रदान करना,
- (3) व्यापार में सहायता प्रदान करता,
- (4) वाणिज्य, उद्योग और समुदाय को आर्थिक स्थिरता प्रदान करना,
- (5) साख के आधार के रूप में सेवा करना,
- (6) हानियों को कम करने में योगदान देना।

बीमा की प्राचीन व्यवस्था जिसका उद्देश्य सामाजिक/आर्थिक सुरक्षा प्रदान करना था, धीरे-धीरे व्यवसाय के रूप में परिवर्तित होता गया, जिससे सम्बद्ध दो पूर्व निर्धारित पक्षकार होते थे— एक ऐसा पक्षकार जो किसी जोखिमके घटित होने पर, दूसरे पक्षकार को हानि होने पर उसकी क्षतिपूर्ति करने की जिम्मेदारी लेता था और दूसरा ऐसा पक्षकार, जिसकी होने पर पहले पक्षकार द्वारा क्षतिपूर्ति की जाती थी। जो पक्षकार क्षतिपूर्ति करने की जिम्मेदारी लेता था, उसे बीमाकर्ता कहा गया और जिस पक्षकार की क्षतिपूर्ति की जाती थी, उसे बीमा कराने वाला बीमाधारक कहा गया। इस प्रकार अब बीमा व्यवस्था एक संविदा के रूप में परिवर्तित हो गयी है। अतः वर्तमान समय में 'बीमा' को 'बीमा की संविदा' के रूप में परिभाषित किया जाता है।

प्रश्न न० 4— पुनर्बीमा की प्रकृति तथा पुनर्बीमा और मूल बीमा में समानता और अन्तर समझाए। उनके प्रकार एवं पुनर्बीमा करने का ढंग स्पष्ट कीजिए।

उत्तर— बीमाकर्ता इस सिद्धान्त पर विश्वास करता है कि बीमा संविदा द्वारा दिये गये समय में, अनेक जोखिमों के दायित्वों का पूरा करने के लिए लिया जाने वाला प्रीमियम पर्याप्त होगा। परन्तु बड़ी-बड़ी रकमों के बीमों की स्वीकृति जिसकी व्यापार के अनुक्रम में आवश्यकता होती है, इस सिद्धान्त को खतरे में डाल देती है और ऐसे मामले में यह बीमा के लिये स्वाभाविक होता है कि वह जोखिम के दायित्व के एक भाग का दूसरी बीमा कम्पनी में पुनः बीमा करा दे। इसी को पुनर्बीमा कहा जाता है।

पुनर्बीमा, जिसे पक्षीमा कंपनियों के लिए बीमा के रूप में भी जाना जाता है, एक बीमा कंपनी (अधिग्रहणकर्ता) और एक पुनर्बीमा कंपनी के बीच एक अनुबंध है, जहाँ अधिग्रहणकर्ता अपने जोखिम का कुछ हिस्सा पुनर्बीमाकर्ता को हस्तांतरित करता है। इसके बाद पुनर्बीमाकर्ता अधिग्रहणकर्ता की एक या अधिक बीमा पॉलिसियों का पूरा या आंशिक हिस्सा अपने ऊपर ले लेता है।

पुनर्बीमा की प्रकृति— पुनर्बीमा एक बीमा कंपनी (सेडिंग कंपनी) और एक विशेष कंपनी (पुनर्बीमाकर्ता) के बीच एक अनुबंध है जो सेडिंग कंपनी को अपने जोखिम का कुछ हिस्सा पुनर्बीमाकर्ता को हस्तांतरित करने की अनुमति देता है। फिर पुनर्बीमाकर्ता प्रीमियम के बदले में एक या अधिक सेडिंग कंपनी की बीमा पॉलिसियों के लिए कुछ या सभी जोखिम उठाता है। पुनर्बीमा को 'बीमा कंपनियों के लिए बीमा' के रूप में भी जाना जाता है।

पुनर्बीमा बीमा बाजार को स्थिर करने और कवरेज को अधिक किफायती और उपलब्ध बनाने में मदद कर सकता है। यह बीमाकर्ताओं की भी मदद कर सकता है—

- (1) विलयशील बने रहेंरू दावेदारों को भुगतान की गई कुछ या सभी राशियों को वसूल करके।
- (2) जोखिम कम करेंरू प्राथमिक बीमाकर्ता के लिए जोखिम कम करके और नई पॉलिसियाँ जारी करने के लिए पूंजी मुक्त करके।

“पुनर्बीमा की संविदा के अन्तर्गत पुनर्बीमा एक निश्चित प्रीमियम के प्रतिफल में मूल बीमाधारी को पुनर्बीमित जोखिम के दायित्व के प्रति क्षतिपूर्ति करने का वचन देता है।”

पुनर्बीमा और मूल बीमा में समानता और अन्तर

(क) समानता—

(1) पुनर्बीमा की पॉलिसी साधारणतः उन्ही नियमों से शासित होती है जिनसे मूल बीमा की पॉलिसी शासित होती है। उदाहरणार्थ—यदि समुद्री बीमा की पॉलिसी में केवल अग्नि का पुनर्बीमा किया गया है तो वह समुद्री बीमा के नियमों से ही शासित किया जायेगा। इसी प्रकार इस प्रश्न का कि “क्या कम्पनी को पुनर्बीमा की संविदा करने का अधिकार है,” उत्तर इस पर निर्भर करता है कि क्या उसे उसी विषय-वस्तु के सम्बन्ध में बीमा की संविदा करने का अधिकार है।

(2) बीमा और पुनर्बीमा की संविदा दोनों सद्विश्वास की संविदा होती है।

(3) मिथ्याव्यपदेशन तथा अप्रकटन के सम्बन्ध में एक समान नियम बीमा तथा पुनर्बीमा की संविदा में लागू होते हैं।

(4) वारण्टी का भी पुनर्बीमा की संविदा में वही प्रभाव होता है जैसा जैसा कि मूल बीमा की संविदा में होता है।

(5) पुनर्बीमा की संविदा में भी बीमायोग्यहित का सिद्धान्त लागू होता है। बीमा की संविदा बीमाकर्ता को बीमायोग्य हित प्रदान करती है जिससे वह मूल पॉलिसी में अपने दायित्व की पूर्ण राशि तक पुनर्बीमा कराने में समर्थ होता है। फ्रेंच अधिकारियों ने माना था कि यदि बीमाधारक के पास कोई बीमायोग्यहित नहीं है तो उसके बीमाकर्ता के पास भी ऐसा कुछ नहीं होता है जिसका वह पुनर्बीमा करा सके।

(ख) अन्तर— इस सीमा तक तो बीमा और पुनर्बीमा के बीच समानता बहुत नजदीकी है, लेकिन कुछ ऐसे निश्चित, उपबन्ध मूल सीमा में होते हैं जो पुनर्बीमा में लागू करने योग्य नहीं होते हैं। जैसा कि **होम इश्योरेंस ऑफ न्यूयार्क**

बनाम विक्टोरिया—मोक्ट्रीयल फायर के वाद में माना गया है। इस वाद में फायर पॉलिसी की पुनर्बीमा की संविदा हुई और उसमें पुनर्बीमा की कुछ विशेष शर्तें जोड़ दी गयी थी। प्रिवी कौंसिल ने माना कि मूल पॉलिसी में उन लोगों के दावे को सीमित करने वाली शर्तें जो अग्नि के 12 महीने के अन्दर ही प्रारम्भ होती थी, पुनर्बीमा की संविदा में लागू नहीं होती क्योंकि मूल बीमाकर्ता तब तक पुनर्बीमाकर्ता के यहाँ दावा नहीं कर सकता जब तक कि वास्तविक हानि दोनों पक्षकारों (बीमाधारक और मूल बीमाकर्ता) के बीच निश्चित नहीं हो जाती है जिसके ऊपर पुनर्बीमाकर्ता का कोई नियंत्रण नहीं है और न ही उन कार्यवाहियों में वह हस्तक्षेप कर सकता है।

(1) मूल बीमा तथा पुनर्बीमा में क्षतिपूर्ति निश्चित करने की तारीख अलग-अलग होती है। वास्तव में, जब भौतिक हानि पुनर्बीमा पॉलिसी की नियत अवधि घटित होती है, तब इसके अन्तर्गत कोई दायित्व तब तक उत्पन्न नहीं होता है। जब तक कि मूल पॉलिसी के अन्तर्गत बीमाधारक के प्रति नियत राशि नहीं कर निश्चित नहीं कर दिया जाता है। बीमाधारक के प्रति नियत राशि को निश्चित करने के बाद ही पुनर्बीमा के अन्तर्गत क्षतिपूर्ति को निश्चित किया जाना चाहिये न कि हानि की तारीख पर जैसा कि क्षतिपूर्ति की दूसरी पॉलिसियों के दावे में होता है।

(2) मूल बीमा और पुनर्बीमा में एक अन्तर यह है भी है कि यदि मूल बीमाकर्ता दिवालिया हो जाता है तब भी वह पुनर्बीमाकर्ता से क्षतिपूर्ति पाने का अधिकार रखता है भले ही उसे मूल बीमाधारक को भुगतान न करना पड़े। उस उस समय भी जहाँ मूल पॉलिसी पर यह दायित्व अभिव्यक्त हो कि वह उतना ही देगा जितना उसे मिलेगा।

(3) मूल बीमाकर्ता के दिवालिया होने पर पुनर्बीमाकर्ता को पूर्ण भुगतान करना पड़ता है न कि केवल उस राशि तक जिसे बीमाधारक मूल बीमाकर्ता से प्राप्त से प्राप्त करने का हकदार होता है।

(4) मूल पॉलिसी की शर्तों में परिवर्तन पुनर्बीमाकर्ता को अपनी पॉलिसी के दायित्व से मुक्ति प्रदान कर देती है।

(5) हो सकता है कि बीमाधारक अपनी बीमाकर्ता को अपनी कमियों के बारे में बताने के लिये बाध्य न हो, परन्तु पुनर्बीमाकर्ता को अपनी पुनर्बीमाकर्ता को वह सब बताने के लिये बाध्य हो सकता है जो वह उसके (प्रथम बीमाधारक) बारे में जानता है।

(6) पुनर्बीमाधारक को यह सुविधा प्राप्त नहीं है कि वह यह नहीं जानता था कि तात्त्विक व्यपदेशन सही नहीं थे। इसीलिये जहाँ बीमाधारक जीवन पॉलिसी में अपने आप को 'एक सभ्य व्यक्ति' के रूप में वर्णित करता है और उसके बीमाकर्ता इसी सूचना पर उसके जीवन पत्रका दुर्घटना के विरुद्ध पुनर्बीमा कर देते हैं, वहाँ उसके दावे को विनाशक माना गया क्यों कि प्रथम बीमाधारक वास्तव में एक मोटर कार का ड्राइवर था।

पुनर्बीमा के प्रकार— साधारणतः पुनर्बीमा दो प्रकार के होते हैं—

(क) सह बीमा या मूल प्रतिबन्ध बीमा— सह-बीमा तब होता है जब दो या दो से अधिक शीर्षक बीमा कंपनियों (जिन्हें सह-बीमाकर्ता कहा जाता है) अलग-अलग शीर्षक नीतियों या सह-बीमा समर्थन के साथ एकल शीर्षक पॉलिसी का उपयोग करके दिए गए लेनदेन का आनुपातिक रूप से बीमा करती हैं। जोखिम की राशि उनकी आवंटित बीमा राशि के अनुपात में साझा की जाती है।

(ख) जोखिम प्रीमियम या वार्षिक नवीकरणयोग्य अवधि योजना— नवीनीकरण प्रीमियम बाद के प्रीमियम हैं जो पॉलिसी को चालू रखने और तदनुसार पॉलिसी का लाभ उठाने के लिए बीमाधारक द्वारा बीमाकर्ता को भुगतान किया जाता है। विवरणरु यदि कोई पॉलिसी धारक प्रीमियम का भुगतान करने में विफल रहता है, तो उसकी पॉलिसी अनुग्रह अवधि के बाद समाप्त हो जाती है।

पुनर्बीमा करने का ढंग— यद्यपि पुनर्बीमा करने के दो प्रमुख ढंग हैं—

(क) फैंकलेटेटिव पद्धति— फैंकलेटेटिव पुनर्बीमा एक प्राथमिक बीमाकर्ता द्वारा एक जोखिम को कवर करने के लिए खरीदा गया कवरेज है — या जोखिमों का एक समूह — जो प्राथमिक बीमाकर्ता की व्यवसाय पुस्तक में रखा गया है। फैंकलेटेटिव पुनर्बीमा दो प्रकार के पुनर्बीमा में से एक है (दूसरे प्रकार के पुनर्बीमा को संधि पुनर्बीमा कहा जाता है)। फैंकलेटेटिव पुनर्बीमा को एक बार के लेन-देन वाले सौदे के रूप में अधिक माना जाता है, जबकि संधि

(ख) ट्रीटी पद्धति— पुनर्बीमा आम तौर पर दो पक्षों के बीच कवरेज की दीर्घकालिक व्यवस्था का हिस्सा होता है।

अन्तरराष्ट्रीय विधि के अन्तर्गत दो या अधिक देशों या अन्य अन्तरराष्ट्रीय संगठनों के बीच हुए करार (greement) या समझौते को सन्धि (treaty) कहते हैं। जिनका स्वरूप अनुबंध के समान होता है तथा जिनके अनुसार संबंधित पक्षों के प्रति कुछ में परस्पर विधिवत् अधिकारकर्तव्य के दायित्व की सृष्टि होती है।

प्रश्न न० 5— किन रीतियों से बीमा संविदा का उन्मोचन हो सकता है? बीमाधारी की मृत्यु पर बीमाधन के दावे का निपटारा कैसे किया जाता है?

उत्तर— निम्न प्रकार से कोई बीमा संविदा उन्मोदित की जा सकती है—

(1) करार द्वारा— बीमाकर्ता और बीमाधारी या पॉलिसीधारक के बीच आपसी करार से दोनों के बीच विद्यमान संविदा का उन्मोचन कई प्रकार से हो सकता है तथा पॉलिसीधारक पॉलिसी को पेडअप करा सकता है या उसका समर्पित मूल्य स्वीकार सकता है, या सम्पूर्ण जीवन पॉलिसी का धर्मस्व पॉलिसी की धर्मस्व पॉलिसी में परिवर्तित किया जा सकता है। ऐसी परिवर्तित संविदा का नवीनीकरण होगा। पेड-अप और समर्पित मूल्य स्वीकार ने में संविदा का पॉलिसीधारक द्वारा किसी समाश्वसन-भंग किया जाने का अभित्याग करके प्रीमियम स्वीकार कर सकता है। किन्तु उसी समाश्वसन भंग के आधार पर वाद में बीमा संविदा को रद्द नहीं कर सकेगा।

(2) संविदा के परिपालन की असम्भाव्यता द्वारा— जब परिस्थितियाँ ऐसी हों जो पक्षकारों की शक्ति से परे हों। और वे संविदा के अपने पक्ष का परिपालन न कर सकते हैं अर्थात् संविदा का परिपालन किया जाना असम्भव हो गया

हो, जैसे बीमाकर्ता और बीमाधारी के देशों के बीच युद्ध छिड़ जाना, उनके देशों के किसी कानून के अन्तर्गत संविदा का शून्य हो जाना, तब संविदा का उन्मोचन हो जाता है।

(3) संविदा-भंग द्वारा- जब संविदा का एक पक्षकार संविदा भंग करता है। तब दूसरा पक्षकार संविदा को रद्द कर सकता है। जब बीमाधारी प्रीमियम का भुगतान नहीं करता है, तब बीमाकर्ता जोखिम उठाने का इन्कार कर सकता है। पॉलिसी के पेड-अप की स्थिति तक न पहुँचने पर उसके समर्पित मूल्य का मूल्यांकन करने से बीमाकर्ता इन्कार कर सकता है, क्योंकि उस दशा में पॉलिसी डूब जाती है।

(4) संविदा के परिपालन द्वारा- दोनों पक्षों द्वारा संविदा का परिपालन किया जाना संविदा के उन्मोचन का सकारात्मक पहलू है अर्थात् संविदा का वास्तविक आशय और उद्देश्य उसका परिपालन ही रहता है। समस्त प्रीमियमों का भुगतान पॉलिसीधारी द्वारा किया जाना और बीमाकर्ता द्वारा बीमा अवधि की समाप्ति पर नियम बीमाधन का भुगतान किया जाना या पॉलिसीधारी की मृत्यु पर उसके नाम निर्देशित व्यक्ति या उत्तराधिकारी को ऐसा भुगतान किया जाना संविदा का परिपालन द्वारा उन्मोचन है।

बीमाधारी की मृत्यु पर बीमाधन के दावा को निपटारा- ऐसे दावे के निपटारा में बीमाकर्ता निम्न साक्ष्य की अपेक्षा करता है-

(1) मृत्यु का प्रमाण- दावेदार को मृत्यु के प्रमाण के लिये बीमाकर्ता के निम्न चार प्रकार के फार्म भरने पड़ते हैं-

फार्म 'ए'-दावेदार का व्यवसाय, मृतक से उसका सम्बन्ध, बीमाधारी मृतक की मृत्यु का स्थान और दिनांक, अन्तिम बीमारी की अवधि, बीमाधारी की अन्य पॉलिसी का यदि कोई हो तो विवरण, अन्तिम तीन सालों के दरम्यान मृतक ने किन-किन चिकित्सकों से सलाह लिया।

फार्म 'बी'- अन्तिम चिकित्सक के उत्तर जो बीमाधारी के मृत्यु से सम्बन्धित प्रश्नों के होते हैं और चिकित्सक द्वारा दी गयी कोई अन्य सूचना।

फार्म 'सी'- दफनाने या अग्नि संस्कार का प्रमाण पत्र।

फार्म 'डी'-पहचान का प्रमाण पत्र।

फार्म 'ई'-यदि मृतक मृत्यु के समय नौकरी में था, तो अन्तिम नियोजक का प्रमाण।

अधिनियम की धारा 108 के तहत मृत्यु की अवधारण भी की जा सकती है। युद्ध के समय जवान की मृत्यु का प्रमाण सैन्य अधिकारी जारी करता है।

(2) स्वत्व या हक का प्रमाण- बीमाधारी की मृत्यु पर आदि पॉलिसी में नाम-निर्देशन किया जाता है तो नाम-निर्देशित व्यक्ति, यदि पॉलिसी का समनुदेश किया गया है तो समनुदेशित बीमाधन पाने के हकदार है। इसके अभाव में कोई भी विधिक प्रतिनिधि हकदार होगा। कई प्रतिद्वन्द्वी दावेदारों की दशा में बीमाकर्ता बीमाधन की उस स्थान के न्यायालय में जमा कर देगा जहाँ पर उसका भुगतान किया जाना है।

(3) उम्र का प्रमाण-पॉलिसी जारी करते समय या उसके तत्काल पश्चात् उम्र के प्रमाण में बीमाकर्ता पॉलिसीधारी सबूत की माँग करता है। यदि ऐसे सबूत पर उम्र स्वीकार की जा चुकी है तब मृत्यु के दावे के समय उम्र के प्रमाण की आवश्यकतन नहीं रहती है। यदि मृत्यु के पहले तक उम्र स्वीकार नहीं की गयी है, तब उम्र का प्रमाण प्रस्तुत करना अनिवार्य होगा। तब निम्न साक्ष्य स्वीकार किये जा सकते हैं-

(1) जन्म-मृत्यु पंजीपन विभाग का प्रमाण-पत्र,

(2) जन्म कुण्डली,

(3) धर्म परिवर्तन प्रमाण पत्र, यदि उसमें जन्म तारीख हैं,

(4) स्कूल या कॉलेज का प्रमाण पत्र,

(5) नौकरी की दशा में, सर्विस बुक के सार-अंश की प्रति निवास प्रमाण पत्र,

प्रश्न न0 6- इस कथन की व्याख्या कीजिए कि "अग्नि बीमा क्षतिपूर्ति संविदा है, साथ ही व्यक्तिगत संविदा भी।

उत्तर- बीमा अधिनियम, 1938 की धारा-2 (6-बी) के अन्तर्गत दी गई परिभाषा के अधीन सामान्य बीमा व्यवसाय के अन्तर्गत समुन्द्री बीमा, अग्नि बीमा तथा विविध बीमा व्यवसाय आते हैं।

अधिनियम की धारा-2 की उपधारा (6-ए) के अन्तर्गत अग्नि बीमा की परिभाषा न देकर अग्नि बीमा व्यवसाय की परिभाषा दी गई है, इसके अनुसार अग्नि बीमा व्यवसाय से तात्पर्य, अग्नि के द्वारा या उससे सम्बन्धित या अन्य घटनाओं, जोकि उन जोखिमों में शामिल रहती है, जिनके विरुद्ध अग्नि बीमा पॉलिसियों में प्रायः बीमा किया जाता है; के द्वारा उत्पन्न क्षति के विरुद्ध बीमा संविदायें करने के व्यापार से अन्य वर्ग के बीमा व्यवसाय के आनुषंगिक के अतिरिक्त है।

उपर्युक्त परिभाषा में अन्य वर्ग के बीमा व्यवसाय के आनुषंगिक के अतिरिक्त वाक्यांश का अर्थ यह है कि अगर किसी अन्य वर्ग का बीमा व्यवसाय हो (जैसे समुद्री बीमा या मोटर बीमा) अग्नि बीमा व्यवसाय नहीं माना जायेगा।

अग्नि बीमा प्रमुखतः क्षतिपूर्ति की संविदा होती है। जिसका उद्देश्य बीमाधारक की सम्पत्ति को अग्नि द्वारा हुई हानि को बीमाधारक को क्षतिपूर्ति करने का होता है। समुद्री बीमा के समरूप अग्नि बीमा के लिये कोई अलग से अधिनियम भारत में नहीं बनाया गया है और अग्नि बीमा से सम्बन्धित विधि आंग्ल एवं भारतीय न्यायालयों द्वारा निर्धारित विधि के सिद्धान्तों एवं अग्नि बीमा के सन्दर्भ में जारी की गयी विभिन्न प्रकार की पॉलिसियों में दी गयी शर्तों के आधार पर निर्धारित होती है। इसके साथ ही चूँकि अग्नि बीमा से सम्बन्धित पॉलिसी को मानक संविदा भी

माना जाता है। अतः इससे सम्बन्धित भारतीय संविदा अधिनियम, 1832 में वर्णित संविदा के सामान्य सिद्धान्त द्वारा भी निर्धारित होती है।

अग्नि बीमा के प्रकार— अग्नि बीमा से सम्बन्धित जारी की जाने वाली पॉलिसियों की शर्तें प्रशुल्क सलाहाकार समिति द्वारा बनाये गये प्रशुल्कों (टैरिफ) के आधार पर बनायी जाती है और सामान्य प्रचलन में अधोवर्णित तीन प्रकार की पॉलिसियाँ पायी जाती हैं—

(1) अग्नि बीमा पॉलिसी 'ए' (2) अग्नि बीमा पॉलिसी 'बी' (3) अग्नि बीमा पॉलिसी 'सी'

उपर्युक्त वर्णित पॉलिसियों के वर्गीकरण उनके द्वारा आवरित किये गये जोखिमों के अनुसार किया गया है, इनके अतिरिक्त बीमाधारक की विशेष आवश्यकताओं के अनुसार विभिन्न प्रकार की पॉलिसियाँ जारी की जाती है जिन्हें विशेष पॉलिसी कहा जाता है, ऐसी प्रमुख विशेष पॉलिसियाँ निम्न हैं—

(1) **पुनःस्थापन मूल्य पॉलिसी—** पुनःस्थापना मूल्य खंड के तहत क्षतिग्रस्त संपत्ति को उसी प्रकार की नई संपत्ति से बदल दिया जाएगा। इस प्रकार के बीमा व्यवसायों को अपने संसाधनों पर कोई वित्तीय दबाव डाले बिना क्षतिग्रस्त संपत्ति को बदलने के लिए सशक्त बनाते हैं और भवन मालिकों और उद्योगपतियों के बीच काफी लोकप्रिय हैं।

(2) **सूचनापेक्षी पॉलिसी—** उस स्टाक के लिये जारी की जाती है, जिसकी मात्रा मात्रा में भारी उताव-चढ़ाव होता हो। इस पॉलिसी को टैरिफ में विहित विशेष विनियमों और बीमाकर्ता के प्रादेशिक कार्यालय की अनुमति से जारी किया जाता है।

(3) **अस्थाई पॉलिसी—** एक ही बीमा राशि के लिये एक से अधिक विहित भवनों में स्थित जोखिम के लिये जारी की जाती है।

(4) **निर्माणधीन भवन से सम्बन्धित विशेष पॉलिसी—** ऐसी पॉलिसी केवल भवन निर्माण के दौरान और नवनिर्मित भवन में मशीनरी, प्लांट और सम्पन्न स्थापित करने के दौरान निम्न किसी भी आधार पर ली जा सकता है—

(1) प्रीमियम के भुगतान के बदलें पॉलिसी जारी की जाती हैं।

(2) भवन के अनुमानित पूरे मूल्य के लिये पॉलिसी जारी की जाती हैं।

(5) **परिणामी क्षति विशेष पॉलिसियाँ—** ऐसी पॉलिसी लाभ या हानि की पॉलिसी भी कहलाती है और केवल आधारभूत अग्नि बीमा के संयोजन में जारी होती है।

प्रश्न न0 7— पॉलिसी का समनुदेशन क्या है? व्याख्या कीजिये। यह कैसे पूरा किया जाता है?

उत्तर— समनुदेशन— समनुदेशन बीमाकर्ता का वैधानिक अधिकार है, जिसके अन्तर्गत बीमाकर्ता अपनी भी व्यक्ति को उचित रीति से अपनी जीवन बीमा पॉलिसी अन्तरित करता है।

जो व्यक्ति पॉलिसी में निहित अपने हित में, स्वत्व और अधिकारों को अन्तरित करता है उसे 'समनुदेशक' और जिसके पक्ष में पॉलिसी में निहित स्वत्व और अधिकारों को अन्तरित किया जाता है, उसे समनुदेशिनी तथा सम्बन्धवहार को 'समनुदेशन' कहते हैं।

बीमा अधिनियम, 1938 की धारा 38 द्वारा जीवन पॉलिसियों के सभी समनुदेशन विनियमित किये जाते हैं। धारा 38 समनुदेशन के लिये निम्नलिखित नियम उपलब्ध करती है—

(1) समनुदेशक वयस्क और संविदीय सक्षमता के युक्त होना चाहिये।

(2) समनुदेशन जिस पॉलिसी का समनुदेशन कर रहा है, उसमें उसका पूर्ण अधिकार एवं हित होना चाहिये।

(3) समनुदेशन में विधिसम्मत प्रतिफल होना चाहिये।

(4) समनुदेशन लिखित, हस्ताक्षरित एवं एक साक्षी द्वारा साक्षीकृत होना चाहिये।

(5) समनुदेशन पृष्ठांकन द्वारा या पृथक लिखित द्वारा किया जा सकता है। पृथक लिखित की दशा में स्टाम्प शुल्क भी लगा होना चाहिये।

(6) समनुदेशन की सूचना देना आवश्यक है, सूचना समनुदेशन द्वारा उसके द्वारा स्वयं दी जा सकती हैं।

(7) बीमाकर्ता सूचना की लिखित स्वीकृति देता है और वह समनुदेशन के तथ्यों को अपनी पुस्तक में दर्ज कर लेता है।

(8) समनुदेशन की तिथि से पॉलिसी के अन्तर्गत सभी अधिकार और दायित्व समनुदेशिनी में निहित हो जाता है। समनुदेशक निष्पादित समनुदेशन को न तो रद्द कर सकता है और न ही परिवर्तित कर सकता है।

प्रश्न न0 8— समुद्री बीमा संविदा की परिभाषा दीजिए। इस संविदा बीमा योग्य हित सम्बन्धी नियम समझाइए। हानि हुई या नहीं, से क्या आशय है?

उत्तर— समुद्री बीमा प्रमुख रूप से दो प्रकार का होता है,

(1) कॉर्गो माल बीमा (2) पोतकाय बीमा

इन दोनों के बीमा की मानक शर्तों का निर्धारण इंस्टीट्यूट ऑफ लंदन अण्डरराइटर्स द्वारा बनाये गये और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर स्वीकार किये गये मानक निबन्धनों द्वारा होता है, जिनको इंस्टीट्यूट क्लॉजेज के नाम से जाना जाता है और जिनको समुद्री बीमा की पॉलिसी के साथ संलग्न करके बीमा की संविदा का अभिन्न बना दिया गया है।

भारत में समुद्री बीमा का संचालन 'समुद्री बीमा अधिनियम 1963' के प्रावधानों के अधीन होता है।

परिभाषा— बीमा अधिनियम, 1938 की धारा(13ए) 'समुद्री बीमा व्यवसाय' को अलग से परिभाषित करती है और इस परिभाषा के अनुसार—“समुद्री बीमा व्यवसाय से अभिप्राय ऐसी समस्त बीमा संविदाये करने के व्यापार से हैं—

- (1) जो जहाज माल, भाड़े या अन्य किसी बीमायोग्य हित के लिये की गयी हो, या
- (2) जिनके द्वारा, माल के अभिवहन से सम्बन्धित जोखिमों को आवरित किया गया हो, चाहे उस माल का परिवहन स्थल मार्ग से होता हो या जल मार्ग से होता हो या जिनमें गोदाम तथा अभिवहन से सम्बन्धित अन्य जोखिमों को आवरित किया गया हो, या
- (3) जिनमें ऐसे अन्य जोखिम भरी आवरित किये गये हों, जो प्रथानुसार समुद्री बीमा पॉलिसियों द्वारा आवरित किये जाते हों।”

वर्ष 1963 तक समुद्री बीमा से सम्बन्धित विधि कॉमन लॉ पर आधारित थी और इससे सम्बन्धित व्यवसाय (मैरीन इंश्योरेंस एक्ट, 1906, एवं (भारतीय) बीमा अधिनियम, 1938 द्वारा शासित होता था, परन्तु समुद्री बीमा अधिनियम, 1963 अधिनियमित होने के बाद से अब भारत में समुद्री बीमा इस अधिनियम द्वारा ही शासित होता है। अस अधिनियम की धारा 3 ‘समुद्री बीमा की संविदा’ को निम्न रूप में परिभाषित करती हैं—

“समुद्री बीमा की संविदा एक करार है, जिसके द्वारा बीमाकर्ता, बीमाधारक की उस ढंग से और उस सीमा तक जहाँ तक सहमति हुई है” समुद्री हानियों के विरुद्ध अर्थात् वे हानियाँ जो समुद्री जोखिम की आनुषंगिक हानियाँ हैं, क्षतिपूर्ति करने का वचन देता है।”

‘समुद्री बीमा संविदा के निम्न आवश्यक तत्व होते हैं—

- (1) ‘समुद्री बीमा संविदा’ बीमाधारक की क्षतिपूर्ति करने के प्रयोजनार्थ होती है।
- (2) ऐसी क्षतिपूर्ति समुद्री हानियों के विरुद्ध की जाती है।
- (3) ऐसी संविदा में क्षतिपूर्ति किये जाने की रीति एवं सीमायें वर्णित होती हैं, जिसको पूरा करने की बीमाकर्ता जिम्मेदारी लेता है।

समुद्री बीमा संविदा के अन्तर्गत बीमायोग्य हित से सम्बन्धित शर्त— बीमायोग्य हित के सम्बन्ध में इंस्टीट्यूट कार्गो क्लार्जेज ‘ए’, ‘बी’, ‘सी’ की शर्त संख्या—11 निम्न अनुबन्धन करती है—

- (1) इसी बीमा के अन्तर्गत वसूली हेतु बीमाधारक का हानि के समय बीमित वस्तु में बीमायोग्य हित होना चाहिये।
- (2) उपर्युक्त शर्त के अधीन बीमाधारक इस बीमा द्वारा आवरित अवधि के दौरान होने वाली बीमित हानि को वसूल करने का अधिकारी होगा, इसके बावजूद कि हानि—संविदा से पूर्व घटित हुई हो, सिवाय उन परिस्थितियों के जब इसका ज्ञान बीमाधारक को हो और बीमाकर्ता को न हो।

अतः स्पष्ट है कि सामान्य बीमाओं में बीमाधारक हित दोनों समय—बीमा कराते समय एवं हानि के समय—होना चाहिये, परन्तु उपर्युक्त वर्णित शर्त (1) से स्पष्ट है कि बीमायोग्य हित केवल हानि के समय ही होना आवश्यक है। दूसरी शर्त दोनों (बीमाधारक तथा बीमाकर्ता) पर ही दायित्व डालती है कि यदि ‘हानि हुई या नहीं हुयी है’ के आधार पर पॉलिसी ली गई है तब यदि बीमाधारक को ज्ञात है कि हानि को चुकी है तब संविदा शून्य हो जायेगी और भारतीय समुद्री बीमा अधिनियम, 1963 की धारा 8 में बीमाधारक के बीमायोग्य हित को हानि के समय होना आवश्यक बताया गया है। अतः समुद्री बीमा के सम्बन्ध में निम्न नियम हैं—

- (1) बीमाधारक का हानि के समय सम्पत्ति में हित होना चाहिये।
- (2) बीमाधारक का बीमा कराते समय सम्पत्ति में हित होना आवश्यक नहीं है।
- (3) यदि बीमाधारक ‘हानि हुयी है या नहीं’ के अन्तर्गत बीमा कराता है तब यह भी आवश्यक नहीं है कि हानि के समय बीमायोग्य हित हो बशर्ते कि बीमा की संविदा को लागू करते समय हानि से अवगत न हो।
- (4) यदि बीमाधारक का हानि के समय तक बीमायोग्य हित उत्पन्न नहीं होता है तब वह अब बीमा का लाभ करने हेतु हानि होने के बाद किसी भी तरीके से बीमायोग्य हित प्राप्त नहीं कर सकता।

प्रश्न न० 9—इरडा की संरचना एवं कार्यों की विवेचना कीजिए। इसके कार्यप्रणाली का मूल्यांकन भी कीजिए।

उत्तर— बीमा नियामक व विकास प्राधिकरण (इरडा) की स्थापना— बीमा नियामक एवं विकास प्राधिकरण अधिनियम, 1999 की धारा 3 अनुसार केन्द्र सरकार ने 1 जुलाई 2000 से एक प्राधिकरण की स्थापना की जिसमें, ‘बीमा नियामक एवं विकास प्राधिकरण’ कहा जाता है। यह एक निगमित संस्था है जिसका शाश्वत उत्तराधिकार होगा। इसे चल और अचल सम्पत्ति खरीदने, रखने तथा बेचने का अधिकार होगा। इसकी स्वयं की सील मुहर होगी। इसे सविदा करने तथा इसे इस पर वाद करने का अधिकार होगा। इसका मुख्य कार्यालय नयी दिल्ली में स्थापित किया गया है। प्राधिकरण अपने कार्यालय भारत में कहीं भी स्थापित कर सकता है।

इस अधिनियम का मुख्य उद्देश्य बीमा कारोबार को विनियमित करना, प्रोन्नत करना और उसकी वृद्धि को सुनिश्चित करना है एवं उससे सम्बन्धित या आनुषंगिक मामलों को देखना है।

धारा 4 प्राधिकार की रचना— प्राधिकरण में एक सभापति होगा तथा अधिक से अधिक 5 पूर्णकालिक सदस्य और अधिक से अधिक चार अंशकालिक सदस्य होंगे।

इनकी नियुक्ति केन्द्र सरकार द्वारा उन व्यक्तियों में से होगा, जिन्हें जीवन बीमा, साधारण बीमा, बीमांकित साइंस, वित्तीय, आर्थिक, कानून एकाउन्टेन्सी, प्रशासन या किसी और विद्या विशेष जो केन्द्र सरकार के विचार में प्राधिकरण के लिये लाभकारी होगा का अनुभव या ज्ञान होगा।

बीमा नियामक एवं विकास प्राधिकरण के उद्देश्य— मल्होत्रा समिति के अनुसार इस प्राधिकरण के उद्देश्य निम्न थे—

- (1) बीमा व्यवसाय का संचालन सुनिश्चित करना।

(2) बीमा उत्पादों को प्रोत्साहित करना और विभिन्न प्रकार के बीमा उत्पादों और बीमाकर्ताओं में चयन करने की सुविधा सुनिश्चित करना और प्रोत्साहित करना।

(3) कमजोर वर्ग के लिये एवं ग्रामीण वर्ग के लिये कम कीमत वाले आवश्यकता पर आधारित बीमा उत्पादों को सुनिश्चित करना।

(4) घरेलू व्यवसाय को देना और विदेशी मुद्रा की निकास में कमी लाना हैं।

(5) पॉलिसीधारकों को विधिसम्मत अधिकारों एवं विशेषाधिकारों को सुरक्षित करना है।

बीमा नियामक एवं विकास प्राधिकरण के कार्य और शक्तियाँ— निम्न हैं—

(1) बीमाधारक के हितों को सुरक्षित रखना,

(2) बीमा व्यवसाय के संचालन में कार्यक्षमता को उन्नत करना।

(3) इस अधिनियम के उद्देश्य को पूरा करने के लिये शुल्क और दूसरे भारों का उद्ग्रहण करना। बीमाकर्ताओं और बिचौलियों के मध्य विवादों का निराकरण करना।

(4) प्रशुल्क सलाहकार समिति के कार्यों का पर्यवेक्षण करना।

अतः जो संस्था बीमा व्यवसाय चलाना चाहती है, उसे प्राधिकरण से रजिस्ट्रेशन का प्रमाण पत्र प्राप्त करना अनिवार्य है, क्योंकि यह प्रमाण पत्र पाये बिना कोई संस्था बीमा-व्यवसाय नहीं कर सकती (धारा 3)। परन्तु कोई व्यक्ति या बीमाकर्ता, बीमा नियामक और विकास प्राधिकरण, 1999 के प्रारम्भ से पहले या होने पर भारत में बीमा व्यवसाय कर रहा है, जिसके लिये कोई रजिस्ट्रेशन प्रमाण पत्र इसके प्रारम्भ के पूर्व आवश्यक नहीं या परन्तु अब उसने ऐसे प्रारम्भ से तीन माह तक या यदि उसने ऐसी तीन महीने के अन्दर ऐसे रजिस्ट्रेशन के लिये प्रार्थना पत्र दे दिया है, तब वह प्रार्थना पत्र के तय हो जाने तक जारी रख सकता है। यदि किसी ने रजिस्ट्रेशन का प्रमाण-पत्र, तब वह इस अधिनियम के उपबन्धों के अनुसार प्राधिकरण से प्राप्त किया हुआ सुरक्षा जयेगा।

बिना रजिस्ट्रेशन के बीमा व्यवसाय करने वाली कम्पनी पर अधिक से अधिक ₹ 5,00,000 तक जर्माना और अधिक से अधिक तीन वर्ष तक की सजा हो सकती है।

प्रश्न न० 10—सामाजिक बीमा की आवश्यकता एवं महत्व पर विस्तार से लिखिए।

उत्तर— सामाजिक बीमा की प्रकृति एवं परिभाषा— सामाजिक बीमा सामाजिक कल्याण का एक रूप है जो आर्थिक जोखिमों के विरुद्ध बीमा प्रदान करता है। बीमा सार्वजनिक रूप से या निजी बीमा को सब्सिडी देकर प्रदान किया जा सकता है। सामाजिक सहायता के अन्य रूपों के विपरीत, व्यक्तियों के दावे आंशिक रूप से उनके योगदान पर निर्भर होते हैं, जिन्हें एक सामान्य निधि बनाने के लिए बीमा प्रीमियम माना जा सकता है, जिसमें से व्यक्तियों को भविष्य में लाभ का भुगतान किया जाता है।

इस प्रकार सामाजिक बीमा के लिये किये गये अंशदान को समाज करे गतिशील एवं स्पंदनशील बनाये रखने के लिये समाज के सदस्यों द्वारा चुकाई गयी कीमत के रूप में भी देखा जा सकता है।

अर्थशास्त्री एडम स्मिथ ने भी कहा है कि “आमतौर पर दूसरों हितों को यथोचित ध्यान देने के साथ अपने हितों के अनुसार कार्य करके हम सामान्यजन के हितों में अंशदान करते हैं।”

परन्तु हेनरी रोजर्स सीजर, जो कोलाम्बिया विश्वविद्यालय के अर्थशास्त्री थे, उन्होंने सन् हितों के अलावा भी कई कार्य पुस्तक सामाजिक बीमा में लिखा था कि व्यक्तिगत हितों के अलावा की कई कार्य होते हैं जो सामूहिक और सहयोगी भावना की अपेक्षा करते हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका में सामाजिक सुरक्षा अधिनियम 1935 पारित हुआ। अमेरिका में सामाजिक बीमा अत्यन्त सफल रहा एवं अन्य देश, जैसे स्वीडन में भी यह अत्यन्त सफल हुआ।

सामाजिक बीमा की आवश्यकता को रेखांकित करते हुए जॉर्ज सारोस प्रसिद्ध अन्तर्राष्ट्रीय निवेशक ने सहकारिता को प्रतिस्पर्द्धा जितना ही आवश्यक बताया है और इसके न होने पर समाज के विखण्डन की सम्भाव्यता व्यक्त की है।

10 दिसम्बर 1948 को यू.एन.ओ. की सामान्य सभा द्वारा घोषित मानव अधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा में सामाजिक सुरक्षा का अधिकार एक महत्वपूर्ण मानव अधिकार उल्लिखित किया गया है। इस घोषणा के अनुसार, समाज के प्रत्येक सदस्य का सामाजिक सुरक्षा का अधिकार है और वह उसे सम्बन्धित राज्य के स्त्रोतों के अनुसार प्राप्त करने के लिये अधिकृत है।

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन द्वारा भी सामाजिक सुरक्षा लाभों की आवश्यकता का आरम्भ 1919 से ही माना गया है। इसके द्वारा सामाजिक सुरक्षा के क्षेत्र में विश्व को राह दिखाने के लिये सार्वभौमिक रूप से स्वीकार्य सिद्धान्त प्रतिपादित किये गये थे। इसमें से सामाजिक सुरक्षा के न्यूनतम स्तर निर्धारित करने वाला सिद्धान्त सर्वाधिक महत्व बीमारी, बेरोजगारी, वृद्धावस्था, मृत्यु, कार्य के दौरान चोट लगना, अपंगता आदि की स्थिति में लाभ के न्यूनतम स्तर निर्धारित किये गये हैं।

अतः उपर्युक्त अध्ययन से यह स्पष्ट है कि सामाजिक बीमा से हमें सामाजिक सुरक्षा प्राप्त होती है। विशेष प्रयोजन के लिये किया गया बीमा विशेष सुरक्षा प्रदान करता है। यह सुरक्षा आर्थिक सहायता के रूप में तो होती ही है, साथ ही सदस्यों का समाज के साथ भावात्मक सम्बन्ध भी प्रगाढ़ बनाये रखती है जिसके होते वे समाज के लिये आवश्यक जोखिम उठाने में हिचकते नहीं हैं और इस प्रकार समाज की प्रगति में विशिष्ट एवं आवश्यक योगदान देते हैं।

प्रश्न न० 11— निम्नलिखित में से चार पर टिप्पणी लिखिए।

उत्तर— (1) नामांकन— नामांकन बीमाधारक की मृत्यु के उपरान्त बीमित राशि को पाने का बहुत ही सामान्य एवं अद्वितीय तरीका है।

बीमा अधिनियम, 1938 की धारा-39 नामांकन के बारे में प्रावधान करती है। धारा-39 बीमाधारक को यह अधिकार प्रदान करती है कि अपने जीवन पर बीमा पॉलिसी लेते समय या पॉलिसी के भुगतान हेतु परिपक्व होने से पहले भी एक या अधिक व्यक्तियों का नामांकन इस उद्देश्य से कर सकता है कि बीमाधारक की मृत्यु होने की स्थिति में पॉलिसी के अन्तर्गत उपलब्ध बीमा धन प्राप्त कर लें।

नामांकित बीमाधारक का विधि प्रतिनिधि होता है। बीमाधारक की मृत्यु के बाद बीमाकर्ता द्वारा नामांकित को बीमा धन का भुगतान किये जाने पर बीमाकर्ता का विधिमान्य उन्मांचन हो जाता है। नामांकन दो प्रकार से किया जा सकता है—

(क) प्रस्ताव पत्र में नाम लिखकर।

(ख) पृष्ठांकन द्वारा बशर्ते पृष्ठांकन की सूचना बीमाकर्ता को दे दी जाये और बीमाकर्ता नामांकित को पंजीकृत कर ले।

बीमाधारक को यह अधिकार प्राप्त रहता है कि कभी भी पूर्ववर्ती नामांकन को रद्द कर दे या परिवर्तित कर दे। जबतक बीमाधारक जीवित रहता है, तब तक नामांकित को बीमा पॉलिसी में कोई अधिकार नहीं प्राप्त होता है।

(2) कर्मकार प्रतिकर बीमा— वर्तमान समय में कर्मकार प्रतिकर बीमा कर्मचारियों की क्षतिपूर्ति करने में महती भूमिका निभा रहा है। इस बीमा अधिनियम एक व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति से होने वाली क्षति के लिये क्षतिपूर्ति करने का विधिक दायित्व का प्रावधान किया गया है। कर्मकार प्रतिकर बीमा योजना की टैरिफ में तीन प्रकार की पॉलिसी का उपबन्ध किया गया है जो निम्नलिखित हैं—

(क) टेबल 'ए' पॉलिसी

(ख) टेबल 'बी' पॉलिसी

(ग) टेबल 'सी' पॉलिसी

टेबल 'ए' पॉलिसी के अन्तर्गत बीमाधारी को निम्नलिखित अधिनियमों के तहत कमकारों के विधिक दायित्व की जाती हैं—

(1) कर्मकार क्षतिपूर्ति अधिनियम 1923

(2) घातक दुर्घटना अधिनियम 1855

(3) सामान्य विधि

टेबल 'बी' पॉलिसी के अन्तर्गत बीमाधारी को निम्नलिखित अधिनियमों के तहत कमकारों के विधिक दायित्व की जाती हैं—

(1) घातक दुर्घटना अधिनियम 1855

(2) सामान्य विधि के अन्तर्गत

(3) प्रत्यासन— प्रत्यासन का सिद्धान्त सामान्यतः क्षतिपूर्ति की पुष्टि करता है यह उसका उपसिद्धान्त है। प्रत्यासन (Subrogation) से तात्पर्य दूसरे का आसन (स्थान) ग्रहण करने से है। प्रत्यासन सिद्धान्त के अनुसार क्षतिपूर्ति करने के पश्चात् बीमादाता बीमादार का स्थान ग्रहण कर लेता है अर्थात् यदि उस हानि के लिये बीमादार को अन्य पक्षकारों से कोई प्रतिकर प्राप्त करने का अधिकार हो तब यह अधिकार बीमादाता को मिल जाता है। प्रत्यासन सिद्धान्त का उद्देश्य बीमादार अपने विधिक अधिकारों का प्रयोग करके बीमित करके बीमित विषय की वास्तविक हानि से अधिक रकम किसी भी दशा में न प्राप्त कर सकें। क्षतिपूर्ति सिद्धान्त की भांति प्रत्यासन सिद्धान्त भी जीवन बीमा या वैयक्तिक दुर्घटना बीमा पर लागू नहीं होता, यह केवल क्षतिपूर्ति संविदाओं पर ही लागू रहता है।

ओबेरॉय फॉरवर्डिंग एजेन्सी बनाम न्यू इण्डिया एंश्योरेंस कं.लि. के वाद में यह कहा जाता गया कि प्रत्यासन एवं व्यक्ति के स्थान पर दूसरे व्यक्ति को प्रतिस्थापित करना है।

इसलिए जहाँ बीमाकर्ता को बीमित व्यक्ति के अधिकारों और उपचारों में शामिल किया जाता है वहाँ बीमाकर्ता को तीसरे पक्ष के संबंध में बीमाकर्ता के समान ही स्थिति में होना चाहिए और मोटर दुर्घटनाओं के मामलों में उनके विरुद्ध उसके दावे अपकृत्य दायित्व पर आधारित होने चाहिए। लेकिन यह ध्यान दिया जाना चाहिए कि यह तथ्य कि बीमाकर्ता को बीमित व्यक्ति के अधिकारों और उपचारों में शामिल किया गया है, उसे अपने नाम से तीसरे पक्ष पर मुकदमा चलाने के लिए स्वतः सक्षम नहीं बनाता है। यह बीमाकर्ता को केवल बीमित व्यक्ति के नाम पर मुकदमा चलाने का अधिकार देगा, क्योंकि ऐसी कार्रवाई में अपना नाम और सहायता देना बीमित व्यक्ति का दायित्व है। प्रतिस्थापन द्वारा, बीमाकर्ता को बीमित व्यक्ति की तुलना में कोई बेहतर अधिकार या कोई भिन्न उपचार नहीं मिलता है। इसलिए प्रतिस्थापन और उसके प्रभाव को बीमाकर्ता को अपने अधिकारों और उपचारों के बीमाकर्ता द्वारा हस्तांतरण या असाइनमेंट के साथ नहीं मिलाया जाना चाहिए।

भारतीय समुदी बीमा अधिनियम, 1963 की धारा 79 में प्रत्यासन के बारे में प्रावधान दिये गये हैं। **केस्टनलेन बनाम प्रेस्टन** के वाद में जे ब्रेट्स ने भी कहा है कि "एक व्यक्ति जो पूरे नुकसान के लिये क्षतिपूर्ति जा जाता है, त

बवह दोनों प्रकार के लाभ पाने का अधिकारी नहीं है। यदि उसके पास कोई ऐसा साधन है जिसमें उसकी हानि कम हो सकती है तो इस साधन को प्रयुक्त करने का अधिकार बीमाकर्ता का होगा।

(4) आसन्न-कारण सिद्धान्त- बीमा संविदा में विशिष्ट प्रकार की जोखिमों का बीमा कराया जाता है अग्नि बीमा पॉलिसी से बीमादाता उन्ही हानियों की पूर्ति करने के लिये दायी होगा जो पॉलिसी में बतायी गयी आपदाओं के कारण होती है यदि हानि ऐसी किसी आपदा के कारण हुयी जो पॉलिसी में वर्जित है अर्थात् जिसका बीमा नहीं हुआ है तब उस हानि के लिये बीमा दाता दायी नहीं हो सकता है यही बात क्षतिपूर्ति की बीमो में भी लागू होती है जैसे समुद्री बीमा मोटर अन्य प्रकार की दुर्घटना सम्बन्धित बीमों जब कभी भी बीमित विषय वस्तु की होती है, तब यह निर्धारित किया जाता है बीमादाता किस सीमा तक दायी होगा। हानि के प्रत्यक्ष कारण को ज्ञात किया जा सकता है यदि हानि का प्रत्यक्ष कारण बीमित आपदा है यह नहीं हानि का कारण कोई बीमित आपदा हो तब बीमादाता क्षतिपूर्ति के लिये दायी रहेगा। अन्ततः यह कहा जा सकता है कि "आसन्न कारण देखो दूरस्थ कारण मत देखो" इससे तात्पर्य यह है यदि बीमित विषय की हानि होने से बहुत कारण हो तब हमे उन कारणों को छोड़ देना चाहिये जो दूरस्थ या महत्व हानि हो, जो हानि का प्रत्यक्ष प्रभावशाली कारण हो उसी को प्रभावशाली माना जायेगा।

(5) बन्दोबस्ती बीमापत्र (बन्दोस्ती बीमा पॉलिसी)- बीमा संविदा में विशिष्ट प्रकार की जोखिमों का बीमा कराया जाता है अग्नि बीमा पॉलिसी से बीमादाता उन्ही हानियों की पूर्ति करने के लिये दायी होगा जो पॉलिसी में बतायी गयी आपदाओं के कारण होती है यदि हानि ऐसी किसी आपदा के कारण हुयी जो पॉलिसी में वर्जित है अर्थात् जिसका बीमा नहीं हुआ है तब उस हानि के अवधि बीमा की तरह से यह भी एक निश्चित अवधि के लिए निर्गमित किया जाता है, परन्तु इसको अवधि बीमा से ज्यादास समय के लिए निर्गमित करते हैं तथा इसके अन्तर्गत भुगतान होना प्रायः निश्चित होता है। इसके निम्नलिखित प्रकार इस प्रकार हैं—

- (1) साधारण
- (2) सीमित संदाय
- (3) विलम्बित
- (4) दुगुना
- (5) शुद्ध
- (6) संयुक्त

बन्दोबस्ती बीमा पॉलिसी की विशेष पॉलिसियाँ- बन्दोबस्ती बीमा पॉलिसी के आधार पर जीवन निगम ने कई पॉलिसियों को चालू किया है जिनमें से मुख्य निम्न हैं—

- (1) विवाह बन्दोबस्ती पॉलिसी
- (2) बाल विलंबित बन्दोबस्ती पॉलिसी
- (3) नई बाल विलंबित बन्दोबस्ती पॉलिसी
- (4) बाल प्रत्याशित पॉलिसी
- (5) धन वापसी पॉलिसी
- (6) जन रक्षा पॉलिसी
- (7) जीवन साथी पॉलिसी
- (8) जीवन मित्र पॉलिसी
- (9) भविष्य जीवन पॉलिसी
- (10) प्रगति सुरक्षा पॉलिसी

आजीवन बीमा पत्र- आजीवन बीमा में बीमित रकम बीमादार की मृत्यु होने पर ही देय होती है, यह रकम बीमादार स्वयं प्राप्त नहीं कर सकता है। आजीवन पॉलिसी उन लोगों के लिए सही है जो अपनी मृत्यु के उपरान्त पारिवारिक सुरक्षा के लिए सम्पदा कर का भुगतान करने के लिए किसी को उपहार या दान देने के लिए एक निश्चित धनराशि का प्रबन्ध करना चाहते हों। आजीवन पॉलिसी की प्रीमियम दर बन्दोबस्ती बीमों की तुलना में कम होती है, इसीलिए आजीवन पॉलिसी को पारिवारिक सुरक्षा के लिए सबसे सस्ता बीमा माना जाता है। आजीवन बीमा पॉलिसियों मुख्यतः चार की होती हैं—

- (1) साधारण आजीवन पॉलिसी
- (2) सीमित संदाय आजीवन पॉलिसी
- (3) परिवर्तनीय आजीवन पॉलिसी
- (4) प्रत्याशित आजीवन पॉलिसी

(6) बीमा अनुबन्ध- बीमा एक व्यवसाय है संविदा पर आधारित है। इस संविदा के अनुसार एक पक्षकार दूसरे पक्षकार को आकस्मिक घटनाओं के दुष्परिणामों से सुरक्षा प्रदान करने का वचन देता है बीमा संविदा में जोखिम ग्रहण करने वाला पक्षकार बीमादाता (**Insurance**) दूसरो पक्षकार बीमादार (**Insurance**) कहा जाता है बीमादार जो प्रतिफल देता है, उसे प्रीमियम (प्रत्यार्जन) कहते है, जिस दस्तावेज में संविदा की शर्त लिखी जाती है उसे बीमापत्र या पॉलिसी (**Policy**) कहते है। अर्थ—बीमा दो पक्षों के बीच एक ऐसा प्रसंविदा है जिससे एक पक्ष जो बीमा करता है उसे बीमाकर्ता (**Insurance**) कहते हैं, दूसरे पक्ष जो बीमा करवाता है वह बीमादार या बीमित व्यक्ति कहते है। लाभकारी (**Benificiary**) को जो एक निश्चय प्रतिफल देता है उसे प्रीमियम (**Premium**)

कहते हैं के बदले में उल्लिखित आकस्मिक घटना जिसके प्रति बीमा है के घटित होने पर एक निश्चित रकम (Insurance) के भुगतान का वचन देता है।

सामान्य अनुबन्धन— बीमा एक संविदा है और इसमें भारतीय संविदा अधिनियम 1872 की धारा 10 के सभी आवश्यक तत्व निहित हैं। बीमा संविदा में भी दोनों पक्षकारों की स्वतंत्र सहमति एवं बीमा संविदा योग्य होना आवश्यक होता है। बीमा संविदा में भी वैध प्रतिफल एवं विधिपूर्ण उद्देश्य होना आवश्यक होता है, कोई भी ऐसी बीमा संविदा नहीं होगी जो तत्समय किसी विधि द्वारा वर्जित हो। बीमा संविदा में सामान्य संविदा की भांति होता है।

किसी विधिमान्य संविदा के लिये निम्नलिखित तत्व आवश्यक हैं जो भारतीय संविदा की धारा 10 में निहित हैं, विधिमान्य संविदा क्या है यह कैसी निश्चित होती है, कौन से लोग संविदा कर सकते हैं, संविदा का पालन कैसे किया जाता है, संविदा किन दशाओं में भंग होती है, संविदा विखण्डन (भंग) होने के क्या परिणाम होंगे, आदि बीमा संविदा में साधारण संविदा के आधारभूत नियमों का अनुपालन होना आवश्यक होता है। जो इस प्रकार है :—

- (1) प्रस्ताव एवं स्वीकृति
- (2) स्वतन्त्र सहमति
- (3) योग्य पक्षकार
- (4) वैध उद्देश्य
- (5) वैध प्रतिफल
- (6) अनुबन्ध का लिखित होना

LL.B.-4th Sem. Paper-III Transfer of Property Act, 1982 and Indian Easement Act, 1882

प्रश्न न० 1— विक्रय को परिभाषा कीजिए तथा इसके आवश्यक तत्व का वर्णन कीजिए।

उत्तर— सम्पत्ति अन्तरण अधिनियम, 1882 की धारा 54 के अनुसार दृ विक्रय ऐसी कीमत के बदले में स्वामित्व का अन्तरण है जो दी जा चुकी हो या जिसके देने का वचन दिया गया हो या जिसका कोई भाग दे दिया या हो और किसी भाग के देने का वचन दिया गया हो।

विक्रय कैसे किया जाता है— ऐसा अन्तरण एक सौ रुपये उसके अधिक के मूल्य की मूर्ज स्थावर सम्पत्ति की दशा में या किसी उत्तरभोग या अन्य अमूर्त की दशा में केवल रजिस्ट्रीकृत लिखित द्वारा किया जा सकता है।

एक सौ रुपये से कम मूल्य की मूर्त स्थावर सम्पत्ति की दशा में ऐसा अन्तरण या तो रजिस्ट्रीकृत लिखित द्वारा या सम्पत्ति के परिदान द्वारा किया जा सकेगा।

मूर्त स्थावर सम्पत्ति का परिदान तब हो जाता है जब विक्रेता क्रेता का या क्रेता द्वारा निर्दिष्ट व्यक्ति का सम्पत्ति पर कब्जा करा देता है।

विक्रय—संविदा— स्थावर सम्पत्ति की विक्रय संविदा वह संविदा है कि स्थावर सम्पत्ति का विक्रय पक्षकारों के बीच तय हुए निबन्धनों पर होगी। वह स्वतः ऐसी स्वतः ऐसी सम्पत्ति में कोई हित या उस पर कोई भी भार सृष्ट नहीं करती।

जी हमपम्मा बनाम कास्तिगी सज्जीवालदा कालिंगप्पा ए.आई.आर 1990 विक्रय कीमत वे बहुल —स्वामित्व का अन्तरण है। दूसरे शब्दों में विक्रय के लिए स्वामित्व का विनिमय कीमत के बदले होना चाहिए।

खिरियादेवी बनाम रामेश्वर राव ए.आई.आर 1992 नामक वाद में उच्चतम न्यायालय द्वारा यह अभिनिर्धारित किया गया कि प्रतिवादित विक्रय—विलेख के द्वारा विक्रय की संविदा के अन्तर्गत पुनः हस्तान्तरण का अधिकार हस्तान्तरित हो गया।

विक्रय के आवश्यक तत्व— विक्रय की परिभाषा करते हुये धारा 54 कहती है विक्रय ऐसी कीमत के बदले के स्वामित्व का अन्तरण है जो दी जा चुकी हो या जिसके देने का वचन दिया हो या जिसका कोई भाग दे दिया गया हो और किसी भाग के देने का वचन दिया गया है।

विक्रय कीमत के बदले स्वामित्व का अन्तरण है। इस तरह विक्रय के लिए एक व्यक्ति द्वारा दूसरे को स्वामित्व का अन्तरण है। एक व्यक्ति द्वारा स्वामित्व “स्वामित्व का अन्तरण” तात्पर्य है कि वह व्यक्ति सम्पत्ति में के सभी अधिकार और हित पूर्ण रूप से और स्थायी से अन्तरित कर देता है। दूसरे शब्दों में अन्तरण—विक्रेता सम्पत्ति क्रेता का हस्तान्तरित कर देता है।

धारा में दी गई उक्त परिभाषा के विश्लेषण से उसके निम्नलिखित आवश्यक तत्व निकलते हैं—

(1) पक्षकार—विक्रय के संव्यवहार में दो पक्षकार होते हैं वह पक्ष जो अन्तरण करता है विक्रेता (**Seller**) कहलाता है तथा जो इस अन्तरण को स्वीकार करता है क्रेता (**Buyer**) कहलाता है। इन्हें आम भाषा में अन्तरक व अन्तरिती भी कह सकते हैं अर्थात् विक्रेता अन्तरक होता है और क्रेता अन्तरिती। विक्रेता वह व्यक्ति है जो सम्पत्ति का विक्रय अथवा बेचान करता है। विक्रेता का सक्षम व्यक्ति होना भी आवश्यक है।

अधिनियम की धारा 7 के अनुसार सक्षम व्यक्ति वह व्यक्ति है जो—

(क) वयस्क हो, (ख) स्वस्थचित हो, (ग) जिसे सम्पत्ति का विक्रय करने का अधिकार हो यानि वह व्यक्ति सम्पत्ति का स्वामी हो या फिर उसे सम्पत्ति का व्ययन करने का प्राधिकार हो।

इसके अलावा क्रेता ऐसा कोई भी व्यक्ति हो सकता है जो किसी वस्तु या सम्पत्ति को क्रय करने की क्षमता रखता हो तथा धारा 6 (ज) (iii) के अन्तर्गत अयोग्य न हो।

मोहरी बीबी बनाम धर्मदास घोष के मामले में कहा गया है कि — अवयस्क व्यक्ति द्वारा सम्पत्ति का विक्रय नहीं किया जा सकता है, क्योंकि वह संविदा करने के लिए सक्षम नहीं होता। ख(1930) 30 कोलकाता 539, जबकि अवयस्क व्यक्ति अन्तरिती अर्थात् क्रेता हो सकता है।

विक्रेता की स्वस्थचितता के सम्बन्ध में **‘लबान्या सिंह बनाम तपौई सिंह’ (ए.आई.आर. 2003 उड़ीसा 155)** का एक अच्छा मामला है —

इसमें एक अशिक्षित महिला द्वारा विक्रय—विलेख निष्पादित कर उसका रजिस्ट्रीकरण कराया गया। विलेख तैयार करने वाले व्यक्ति तथा साक्षियों अर्थात् अनुप्रमाणित करने वाले व्यक्तियों के अनुसार वह दस्तावेज निष्पादनकर्ता को पढ़कर सुना दिया गया था तथा उसने उसका सही होना स्वीकार करते हुए उस पर अपनी अंगूठा निशानी लगा दी थी। इस प्रकार विक्रय के इस संव्यवहार को विधिमान्य माना गया।

(2) **विक्रय की वस्तु**— विक्रय की विषय वस्तु ऐसी स्थावर सम्पत्ति होती है जो की प्रत्यक्ष रूप से अचल सम्पत्ति, जैसे दृ भूमि, मकान, अथवा ऐसी वस्तु जो भूमि से सलग्न होती है या ऐसी सम्पत्ति अप्रत्यक्ष भी हो सकती है (मछली पकड़ने का अधिकार अथवा बंधक ऋण आदि।)

धारा 54 केवल अचल सम्पत्ति के विक्रय पर ही लागू होती है इसलिए विक्रय की विषय-वस्तु अचल सम्पत्ति होनी चाहिये। चल सम्पत्ति के विक्रय पर, माल विक्रय अधिनियम के उपबन्ध लागू होते हैं।

हाजी सुखान बनाम बोर्ड ऑफ रेवेन्यू (ए.आई.आर. 1979 एस.सी. 310) के मामले में उच्चतम न्यायालय ने नगरपालिका द्वारा जमा किये गये कूड़ा-करकट एवं खाद को गद्दे से निकाल कर ले जाने के अधिकार को भूमिजन्य लाभ माना है।

रामस्वामी बनाम चिन्नन (1901) 24 मद्रास तीसरे विचारधारा के अनुसार जहाँ सम्पत्ति साधारण बन्धक के अधीन के अधीन है, वहाँ मोचन का अधिकार मूर्त स्थावर सम्पत्ति है और जहाँ बन्धक है वहाँ मोचन का अधिकार या मोचन की साम्या अमूर्त अचल सम्पत्ति है।

बन्धक ऋण की अचल सम्पत्ति मानी जाती है। इसका अन्तरण विक्रय, विनिमय या दान के रूप में हो सकता है।

(3) **स्वामित्व का अन्तरण**— स्वामित्व का अन्तरण विक्रय का आवश्यक तत्व है। विक्रय में सम्पत्ति के स्वामित्व का अन्तरण होता है और यह अन्तरण विक्रेता से क्रेता को होता है। स्वामित्व के अन्तरण से अभिप्राय "किसी व्यक्ति द्वारा अपनी उस सम्पत्ति सम्बन्धी सभी अधिकारों और हितों का पूर्ण व स्थाई रूप से अन्तरण से होता है जो सम्पत्ति उस व्यक्ति के अधिकार, हित व स्वत्व की होती है—

निर्णित वाद— "बी. आर. कोटेश्वर राव बनाम जी. रामेश्वरी बाई (ए.आई.आर. 2004 आन्ध्रप्रदेश 34)" के प्रकरण में आन्ध्रप्रदेश उच्च न्यायालय द्वारा कहा गया है कि विक्रय के संव्यवहार में विक्रय पूर्ण होते ही सम्पत्ति में का स्वत्व विक्रेता से क्रेता को अन्तरित हो जाता है और ऐसे अन्तरण का स्वैच्छिक होना आवश्यक है तथा अन्तरण का उद्देश्य एवं प्रतिफल "विधि व अनैतिक एवं लोक नीति के विरुद्ध न हो।

इसके अलावा ऐसे अन्तरण का उद्देश्य एवं प्रतिफल उत्पीड़न, असम्यक् असर, कपट, दुर्व्यपदेशन व भूल के अधीन भी ना हो। विक्रेता को अन्तरण की प्रकृति को अच्छी तरह से समझना चाहिए जैसा कि **'लबान्यासिंह बनाम तपोई सिंह (ए.आई.आर. 2003 उड़ीसा 155)** के प्रकरण में कहा गया है।

(4) **प्रतिफल या कीमत**— एक मूल्य या कीमत के बदले स्वामित्व का अन्तरण विक्रय का आवश्यक तत्व है बिना प्रतिफल के अन्तरण कभी भी विक्रय नहीं हो सकता इस कारण विक्रय में प्रतिफल अर्थात् कीमत का होना आवश्यक है। मूल्य यानि कीमत से तात्पर्य एक ऐसी निर्धारित धन राशि से है जिसका भुगतान विक्रय के अन्तरण को पूर्ण करने के लिए किया जाता है और ऐसी राशि का भुगतान समझौता के अनुसार भविष्य में भी किया जा सकता है और ऐसी राशि का भुगतान आशिकभी हो सकता है।

निर्णित वाद— राजो बनाम लज्जो (1928) 26 ए.एल. जे. 169 के मामले में कीमत का अर्थ सामान्यतरु धनधराशि से लगाया गया है। सम्पत्ति अन्तरण अधिनियम में शब्द 'धन' की परिभाषा नहीं है परन्तु माल विक्रय अधिनियम में दी गई 'धन' की परिभाषा को ही अंगीकृत कर लेने की अनुशंसा की गई है। (**आयकर आयुक्त बनाम मोटर एण्ड जनरल स्टोर्स, ए.आई.आर. 1967 एस.सी. 200**)

स्टेट ऑफ चेन्नई बनाम गेगन डंकरले एण्ड कम्पनी के मामले में उच्चतम न्यायालय द्वारा कहा गया है कि "विक्रय के संव्यवहार में प्रतिफल के रूप में कहीं न कहीं धन का होना आवश्यक है। यदि प्रतिफल धन के रूप में नहीं होकर वस्तु के रूप में होता है तो ऐसा संव्यवहार विक्रय नहीं होकर विनिमय (Exchange) या बार्टर (Barter) आदि होगा। (ए.आई.आर. 1958 एस.सी. 560)

कीमत का संदाय नकद या उधार किसी भी रूप में हो सकता है। आवश्यक मात्र यह है कि कीमत का संदाय किया जाये। (**मोतीलाल बनाम उग्रनारायण, ए.आई.आर 1950 पटना 288**)

के. लक्ष्मण राव बनाम जी. रत्न मणिक्याम्मा (ए.आई.आर. 2003 आन्ध्रप्रदेश 241) के मामले में विक्रय के करार के निष्पादन के लिए व्यवस्थापन को भी प्रतिफल माना गया है। (**Settlement can be considered as a consideration for execution of agreement of sale-**)

प्रश्न न० 2— क्रेता एवं विक्रेता के अधिकार एवं दायित्वों का वर्णन कीजिए।

उत्तर— संपत्ति अंतरण अधिनियम, 1882 धारा 55 विक्रय के पश्चात और उसके पहले क्रेता और विक्रेता के अधिकार तथा दायित्व का उल्लेख करती है। यह धारा एक प्रकार से क्रेता और विक्रेता के अधिकारों तथा उनके एक दूसरे के विरुद्ध दायित्व को स्पष्ट रूप से उल्लिखित कर देती है जिससे किसी भी विक्रय में उसके पूर्व तथा उसके बाद किसी भी प्रकार की कोई कठिनाई नहीं आए।

लेखक इस आलेख के अंतर्गत इन्हीं अधिकारों पर तथा दायित्व पर टीका प्रस्तुत कर रहे हैं। इससे पूर्व के आलेख के अंतर्गत विक्रय की समस्त अवधारणा पर टीका किया गया था जिसके अंतर्गत विक्रय की परिभाषा, विक्रय के तत्व तथा विक्रय के प्रकारों पर प्रकाश डाला गया था।

विक्रय से पूर्व विक्रेता के दायित्व—

(1) **विक्रय की जाने वाली सम्पत्ति एवं विक्रेता के अधिकार के विषय में सारवान एवं महत्वपूर्ण कमियों का प्रकटीकरण—** धारा 55 (1) (क),—विक्रय की जाने वाली सम्पत्ति के विषय में विक्रेता के दो महत्वपूर्ण दायित्व हैं—

(क) सम्पत्ति से सम्बन्धित दायित्व तथा

(ख) स्वामित्व से सम्बन्धित दायित्व।

इन दोनों विषयों के सम्बन्ध में प्रकटीकरण का दायित्व केवल उन तथ्यों तक विस्तारित है जिसका ज्ञान विक्रेता को है। ऐसे तथ्यों, जिनका ज्ञान उसे नहीं है, प्रकटीकरण का दायित्व नहीं है। इसी प्रकार उन कमियों को भी प्रकट करने का दायित्व नहीं है जिनकी जानकारी सहजता से ही क्रेता को हो सकती थी। उदाहरण स्वरूप यदि विक्रय की जाने वाली वस्तु भवन है, तो उसके दरवाजे खिड़कियाँ अच्छी स्थिति में हैं या नहीं, भवन जीर्णवस्था में है या नहीं इत्यादि। इसी प्रकार सम्पत्ति भूमि है तो उस पर कोई पगडंडी बनी है या नहीं, इत्यादि।

स्पष्ट दोषों या कमियों के लिए विक्रेता दायित्वाधीन नहीं होता है, किन्तु यदि निम्नलिखित परिस्थितियाँ विद्यमान हैं तो विक्रेता दायित्वाधीन होगा —

(1) सम्पत्ति में दोष आधारभूत एवं सारवान हो

(2) विक्रेता को उसका ज्ञान हो।

(3) क्रेता को उसका पता न चल पाया हो।

(4) क्रेता के लिए सामान्यतः उसका ज्ञान प्राप्त करना सम्भव न रहा हो।

विक्रेता का प्रकटीकरण का दायित्व उस स्थिति में भी बना रहेगा जबकि विक्रय पक्षभी दोषों के साथ किया गया हो। स्वामित्व के सन्दर्भ में यह अवधारणा रहती है कि विक्रेता दोष रहित स्वामित्व प्रदान करेगा, क्योंकि इस आशय का ज्ञान केवल उसे ही हो सकता है। यदि भूमि अधिग्रहण अधिनियम के अन्तर्गत अधिग्रहीत की गयी है या दी जाने वाली भूमि पर किसी व्यक्ति को सुखाधिकार प्राप्त है, अथवा भूमि पट्टे पर है, इत्यादि तथ्यों की जानकारी देना विक्रेता के लिए आवश्यक है। यदि संव्यवहार के दोनों पक्षकार किसी ऐसी वस्तु के विषय में अनभिज्ञ हैं जो संव्यवहार के लिए सारवान हैं, तो ऐसा संव्यवहार शून्य होगा। इस अधिनियम में पदावलि 'तात्विक त्रुटि' या 'सारवान त्रुटि' को परिभाषित नहीं किया गया है। प्लाइट बनाम बूथी के वाद में इसे निम्नलिखित ढंग से व्यक्त किया—“इसे ऐसी प्रकृति का होना चाहिए जिससे यह अवधारित किया जा सके कि यदि क्रेता को इसका ज्ञान रहा होता तो वह बिल्कुल ही संविदा न करता क्योंकि उस दशा में वह उससे भिन्न वस्तु प्राप्त करेगा जिस के लिए उसने संविदा की थी।” धारा 55 (1) (क) विक्रेता को आबद्ध करती है कि वह उस सम्पत्ति में या विक्रेता के उस सम्पत्ति के हक में किसी ऐसी तात्विक त्रुटि को, जिसे विक्रेता जानता हो और क्रेता नहीं जानता हो और क्रेता जिसका पता मामूली सावधानी से नहीं लगा सकता था, को प्रकट करे।

सुखदेव कौर बनाम गुरदेव सिंह के वाद में यह प्रश्न विवादित था कि यदि किसी भूमि को अधिगृहीत करने हेतु सरकार मात्र विचार कर रही हो एवं अधिग्रहण की अधिसूचना अभी जारी न की गयी हो और यह तथ्य विक्रेता के संज्ञान में हो किन्तु वह इस तथ्य को विक्रेता को प्रकट न करे करार के समय या विक्रय के समय तो क्या यह अन्तरण धारा 55 (1) (क) का उल्लेख करता हुआ समझा जाएगा। क्या यह कहा जा सकेगा कि विक्रेता अपने दायित्व का निर्वहन करने में विफल रहा है। क्या यह कृत्य किसी तात्विक त्रुटि, जिसका साधारण सावधानी से पता न लगाया जा सके, के तुल्य है।

पंजाब एवं हरियाणा उच्च न्यायालय ने यह सुस्पष्ट किया है कि जब तक अधिग्रहण की सूचना जारी नहीं हो जाती है तब तक इस तथ्य को प्रकट करने के लिए विक्रेता आबद्ध नहीं होगा, एवं इस तथ्य का प्रकट न किया जाना धारा 55 (1) (क) का उल्लंघन नहीं माना जाएगा। यदि अधिग्रहण की सूचना जारी की जा चुकी है तो उस सूचना का संज्ञान विक्रेता स्वयं ले सकेगा क्योंकि ऐसी सूचना लोक के लिए होती है और यदि क्रेता उसका पता नहीं लगा पाता है तो यह चूक उसके स्वयं के पक्ष पर होगी। न्यायालय ने यह भी सुस्पष्ट किया है कि इस तथ्य का प्रकट न करना किसी तात्विक त्रुटि का प्रतीक नहीं है या इस त्रुटि को तात्विक त्रुटि नहीं कहा जा सकेगा। इस तथ्य को प्रकट न करने के कारण यह नहीं कहा जा सकेगा कि विक्रेता ने अपने दायित्व का निर्वहन नहीं किया है। यदि इस आधार पर क्रेता यदि संव्यवहार का निष्पादन कराने से मना करता है या संव्यवहार से अपने आप को विरत करता है तो विक्रेता उस अग्रिम रकम को जो उसे इस संव्यवहार को पूर्ण कराने की दिशा में दी गयी, वापस करने से मना कर सकेगा। इस प्रकरण में वादग्रस्त भूमि के अधिग्रहण के सन्दर्भ में सरकार के स्तर पर विचार विमर्श चल रहा था जिसका ज्ञान विक्रेता को था किन्तु उक्त भूमि के अधिग्रहण हेतु औपचारिक राजकीय अधिसूचना जारी उस समय तक नहीं हुई थी जब विक्रेता एवं क्रेता के बीच इसके विक्रय हेतु करार हुआ किन्तु संव्यवहार निष्पादित (पूर्ण) होने से पूर्व ही अधिसूचना जारी कर दी गयी जिस कारण क्रेता ने संव्यवहार पूर्ण करने से मना कर दिया तथा रु० 10,500/- मात्र जो उसने अग्रिम भुगतान के रूप में दिया था, वापस प्राप्त करने हेतु वाद संस्थित किया। न्यायालय ने क्रेता के तर्क को अस्वीकार करते हुए उसकी माँग निरस्त कर दिया।

(2) हक सम्बन्धी दस्तावेजों का प्रस्तुतीकरण धारा 55 (1) (ख) , — यह खण्ड, हक सम्बन्धी दस्तावेजों के प्रस्तुतीकरण के सम्बन्ध में प्रावधान प्रस्तुत करता है। दस्तावेजों का निरीक्षण या तो क्रेता स्वयं या उसके द्वारा प्राधिकृत कोई अन्य व्यक्ति कर सकेगा। दस्तावेजों का निरीक्षण क्रेता के लिए आवश्यक है। यदि वह निरीक्षण नहीं करता है तो वह अवधारणा की जाएगी कि उसे उन तथ्यों को प्रलक्षित सूचना थी जिनकी सूचना उसे हुई होती यदि उसने दस्तावेजों का अध्ययन किया होता। विक्रेता दस्तावेजों को निरीक्षण हेतु प्रस्तुत करने के लिए स्वतः दायित्वाधीन नहीं है। वह केवल क्रेता की माँग पर ही इसे प्रस्तुत करने के दायित्वाधीन है।

प्रस्तुत किया जाने वाला दस्तावेज मूल होना चाहिए न कि उसकी प्रति। मूल प्रति के नष्ट होने की दशा में ही प्रमाणित प्रति प्रस्तुत को जा सकेगी। हक विलेख की मांग किये जाने पर विक्रेता न केवल मूल विलेख प्रस्तुत करेगा, अपितु अन्य सभी विलेख भी प्रस्तुत करेगा जिन्हें वह प्रस्तुत करने की स्थिति में है। विलेख साधारणतया विक्रेता के निवास पर ही प्रस्तुत किये जाते हैं किन्तु यदि क्रेता ने किसी अन्य स्थान पर प्रस्तुत किये जाने की इच्छा व्यक्त की है तो इसे इच्छित स्थान पर ही प्रस्तुत किया जाना चाहिए।

(3) पूछे गये प्रश्नों का उत्तर देना धारा 55 (1) (ग) , — विक्रेता, क्रेता द्वारा पूछ गये सभी सुसंगत प्रश्नों का उत्तर देने के दायित्वाधीन है। पूछे गये प्रश्न सम्पत्ति का हक से सम्बन्धित होने चाहिए। इस प्रक्रिया से क्रेता को सम्पत्ति के विषय में छानबीन करने का समुचित अवसर मिलता है। सम्पत्ति विषयक प्रश्न इस प्रकार के हो सकेंगे—जैसे सम्पत्ति अन्तरणीय भूमिधरी है या अनन्तरणीय भूमि नजूल की है या अन्य प्रकृति की। विक्रेता का सम्पत्ति में किस प्रकार का हित है? विक्रेता पूर्ण हित का स्वामी है अथवा सीमित हित का? सम्पत्ति कब्रिस्तान, श्मशान घाट, हाट या बाजार आदि के लिए उपयोग में लायी जाती है या नहीं इत्यादि। स्वत्व विषयक प्रश्न इस प्रकार के हो सकेंगे रु विक्रेता के पक्ष में सृष्ट विलेख सक्षम व्यक्ति द्वारा निष्पादित किये गये थे अथवा नहीं? विक्रेता सम्पत्ति का स्वामी है या नहीं? यदि नहीं तो क्या उसे सम्पत्ति का विक्रय करने का अधिकार है या नहीं? सम्पत्ति के विलेख वास्तविक हैं या जाली? अनुप्रमाणन प्रभावपूर्ण है या नहीं? इत्यादि। पर यदि विक्रेता चाहे तो वह इस दायित्व से मुक्त कर सकता है। वह क्रेता स्पष्ट रूप से यह कह सकता है कि जैसा हित उसके पास है क्रेता को वैसा ही हित प्राप्त होगा। यदि क्रेता को विक्रेता के हित की स्थिति का ज्ञान है और वह सम्पत्ति स्वीकार करता है तो वह विक्रेता को चुनौती नहीं दे सकेगा। पर यदि संविदा में इस तथ्य का स्पष्ट उल्लेख है कि विक्रेता त्रुटिरहित हित अन्तरित करेगा और वह त्रुटिपूर्ण हित अन्तरित करता है, तो वह क्रेता के प्रति जवाब देय होगा। क्रेता, स्वविवेक के आधार पर प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में प्रश्न पूछने के अपने अधिकार का त्याग कर सकता है।

(4) अन्तरण का निष्पादन धारा 55 (1) (घ) , — विक्रय संविदा पूर्ण हो जाने के उपरान्त जब क्रेता अपेक्षा करे विक्रेता सम्पत्ति का परिदान करने के दायित्वाधीन होगा। परिदान के समय क्रेता को उसका मूल्य अदा करना होगा क्योंकि मूल्य की अदायगी, और सम्पत्ति का परिदान दोनों ही पारस्परिक प्रक्रियाएँ हैं। इन प्रक्रियाओं को संविदा द्वारा भिन्न भी किया जा सकता है। सम्पत्ति का परिदान विक्रेता तथा उन सभी व्यक्तियों द्वारा होना चाहिए जिनका हित सम्पत्ति में है। यह खण्ड परिदान के स्थान तथा समय के सम्बन्ध में कोई सिद्धान्त नहीं प्रतिपादित करता है। इस सम्बन्ध में संविदा अधिनियम 1872 की धाराएं 46 से 50 महत्वपूर्ण भूमिका अदा करेंगी।

(5) सम्पत्ति के संरक्षण का दायित्व धारा 55 (1) (ङ) , — विक्रय के लिए संविदा हो जाने तथा सम्पत्ति के परिदान तक विक्रेता सम्पत्ति के संरक्षण और उसकी देखभाल के दायित्वाधीन होता है। विक्रेता इस कालावधि में न्यासी की हैसियत में कार्य करेगा यह दायित्व सांपाश्विक (Collateral) है। यदि विक्रेता अपने इस दायित्व का निर्वाह समुचित रीति से नहीं करता है तो वह क्रेता को क्षतिपूर्ति अदा करने के दायित्वाधीन होगा यदि उसकी असावधानी के फलस्वरूप सम्पत्ति को कोई क्षति पहुँचती है। विक्रेता न केवल सम्पत्ति की देखभाल करने के दायित्वाधीन है अपितु स्वत्व विलेख को भी सुरक्षा के दायित्वाधीन है क्योंकि इसको क्षति से सम्पत्ति का मूल्य घट जाता है।

(6) व्ययों का भुगतान धारा 55 (1) (छ) , — विक्रय के लिए करार हो जाने के उपरान्त भी विक्रेता बैनामें की तिथि तक सभी प्रकार के भाटक मालगुजारी एवं करों का भुगतान करने के दायित्वाधीन होता है। यह दायित्व भी पूर्वोक्त की भांति सांपाश्विक दायित्व है जिसका अनुपालन विक्रय से पूर्व न होने पर विक्रय के बाद भी कराया जा सकेगा। यह दायित्व केवल लोक प्रभारों तक ही सीमित है, किन्तु इसे भी विपरीत संविदा द्वारा समाप्त किया जा सकेगा।

विक्रय पूर्ण होने के पश्चात् विक्रेता के दायित्व :-

(1) कब्जा देने का दायित्व धारा 55 (1) (च) , — विक्रय की कार्यवाही पूर्ण हो जाने के पश्चात् विक्रेता का यह कर्तव्य होता है कि वह सम्पत्ति का कब्जा क्रेता को प्रदान करें और यदि कब्जा उसके पास नहीं है तो कब्जा दिलाने का प्रयास करे। क्रेता को स्वयं कब्जा प्राप्त करने के लिए छोड़ नहीं देना चाहिए। कब्जा देने का समय इस खण्ड में निर्धारित तो नहीं किया गया है किन्तु अवधारणा यह है कि स्वामित्व अंतरण के साथ ही कब्जा दे दिया जाना चाहिए। स्वामित्व का अन्तरण साधारणतया दस्तावेज के निष्पादन के साथ हो होता है। किन्तु इस स्थिति को विपरीत संविदा द्वारा परिवर्तित भी किया जा सकता है। यदि विक्रय की गयी सम्पत्ति का कब्जा विक्रेता प्रदान करने की स्थिति में नहीं है तो क्रेता संविदा को समाप्त कर सकता है और यदि उसने अग्रिम धनराशि का भुगतान विक्रेता को किया है तो उसे वापस ले सकता है कब्जे का परिदान सम्पत्ति को प्रकृति के अनुरूप होना चाहिए।

उदाहरणार्थ, भवन का कब्जा चाभियों के अन्तरण द्वारा पूर्ण होगा। कृषि योग्य भूमि का कब्जा, भूमि पर जाकर उसकी सोमा बताकर पूर्ण होगा इत्यादि। सम्पत्ति का कब्जा स्वयं क्रेता को या उसके द्वारा प्राधिकृत किसी व्यक्ति को दिया जा सकता है।

(2) स्वामित्व की विवक्षित प्रसंविदा धारा 55 (2) , — यह खण्ड उपबन्धित करता है कि विक्रेता क्रेता से यह प्रसंविदा करेगा कि विक्रेता ने क्रेता को जो हित अन्तरित करने को अव्यंजना की है यह हित विद्यमान है तथा उस हित को यह अन्तरित करने के लिए सक्षम है। यह प्रसंविदा प्रत्यक्ष या परोक्ष हो सकेगी। यह खण्ड केवल विवक्षित प्रसंविदा से सम्बद्ध है। यदि सम्पत्ति का विक्रय वैश्वासिक स्तर (थपकनबतंतल बींतंबजमत) के व्यक्ति द्वारा किया गया है। तो उसके सन्दर्भ में यह विवक्षित होगा कि उसने यह प्रसंविदा की है कि विक्रेता ने ऐसा कोई भी कार्य नहीं किया है जिसके कारण सम्पत्ति पर कोई प्रभार आरोपित हुआ है या उसको सम्पत्ति अन्तरित करने की क्षमता प्रतिवाधित हो

गयी है। यह विवक्षित प्रसंविदा अन्तरिती के हित में उपाबद्ध रहेगी और उसी के साथ अन्तरित होगी। इसे ऐसा व्यक्ति प्रवर्तित करा सकेगा जिसमें वह हित समय-समय पर पूर्णतः या अंशतरु निहित हो।

(3) स्वामित्व विलेखों का परिदान धारा 55 (3) , – सम्पत्ति के सम्बन्ध में साधारण नियम यह है कि सम्पत्ति के स्वत्व विलेख को उसी व्यक्ति को अपने पास रखने का अधिकार होता है जिसके पास सम्पत्ति का कब्जा रहता है। यह खण्ड यह प्रतिपादित करता है कि विक्रेता अपने आधिपत्य अथवा नियंत्रण में विद्यमान स्वामित्व विलेखों का परिदान करने के दायित्वाधीन है। स्वामित्व विलेख सम्पत्ति के अनुसंग के रूप में उसी के साथ अन्तरित होता है, किन्तु क्रेता इसे केवल तभी प्राप्त कर सकेगा जबकि उसने सम्पूर्ण विक्रय धनराशि का भुगतान कर दिया हो। जैसे ही वह मूल्य का भुगतान करेगा, विक्रेता तुरन्त विलेख का परिदान करने के दायित्वाधीन हो जाएगा। इसका विभाजन नहीं हो सकता। किन्तु इसके दो अपवाद हैं

(1) यदि विक्रेता, विक्रय विलेख में उल्लिखित सम्पत्ति का एक अंश अपने पास ही रखे रहता है तो वह स्वामित्व विलेख को अपने पास रोक सकेगा। जब क्रेता उससे अपेक्षा करेगा तो वह स्वामित्व विलेख की सत्यप्रति उसे प्रदान करेगा।

(2) यदि सम्पत्ति का विक्रय अनेक खण्डों में किया जा रहा है तो गुरुतर खण्ड का क्रेता उसे अपने पास रखने का अधिकारी होगा।

विक्रय से पूर्व विक्रेता के अधिकार –

(1) किराया तथा लाभ प्राप्त करने का अधिकार धारा 55 (4) (क) , – सम्पत्ति में स्वामित्व के हस्तान्तरण से पूर्व स्वामी सम्पत्ति से उत्पन्न किराये एवं अन्य प्रलाभों को प्राप्त करने का अधिकारी होता है। तत्समय तक वह सम्पत्ति का स्वामी रहता है और बतौर स्वामी उसे उन सब लाभों को पाने का हक होगा जो सम्पत्ति से उद्भूत होते हैं।

किन्तु यदि क्रेता, विक्रय को समस्त कार्यवाही पूर्ण होने से पहले ही सम्पत्ति का कब्जा प्राप्त कर लेता है और सम्पत्ति से उत्पन्न लाभों एवं किराये को प्राप्त करता है तो यह अदत्त मूल्य पर ब्याज देने के दायित्वाधीन होगा।

क्योंकि यह अनुचित होगा कि एक ही व्यक्ति सम्पत्ति के किराये एवं लाभों को भी ले और उस पर व्याज भी प्राप्त करे। किन्तु यदि विक्रेता अन्तरण पूर्ण करने में विलम्ब करता है और परिस्थितियाँ ऐसी हैं जिनमें मूल्य की धनराशि क्रेता के पास बेकार और अनुपयोगी पड़ी रहती है तो विक्रेता ब्याज प्राप्त करने का हकदार नहीं होगा।

विक्रय पूर्ण होने के पश्चात् विक्रेता का दायित्व–

विक्रेता का धारणाधिकार धारा 55 (4) (इ) , – यदि विक्रय की समस्त कार्यवाहियाँ पूर्ण हो चुकी हैं, सम्पत्ति अन्तरित की जा चुकी है किन्तु विक्रय धनराशि या उसके किसी अंश का भुगतान नहीं हुआ है तो विक्रेता की असंदत्त धनराशि पर एक प्रभार प्राप्त होगा। असंदत्त विक्रेता का अधिकार एक धारणाधिकार है। यह अधिकार सम्पत्ति को रोके रखने का अधिकार नहीं है। वह केवल स्वामित्व विलेख को रोकने और असंदत्त मूल्य पर प्रभार का अधिकारी है। यदि क्रेता एक न होकर अनेक हैं तो विक्रेता का इस तथ्य से कोई सरोकार नहीं होगा कि प्रत्येक क्रेता किस अनुपात में भुगतान करेगा, परन्तु जहाँ तक प्रभार का प्रश्न है, वह विक्रेता के पास सम्पूर्ण अदत्त धनराशि के सम्बन्ध में रहेगा। क्रेता उस स्थिति में भी असंदत्त धनराशि का भुगतान करने के दायित्वाधीन रहेगा जबकि उसने उस सम्पत्ति से भिन्न, जिसके लिए संविदा की गयी थी, कोई अन्य व्यक्ति सम्पत्ति स्वीकार किया हो असंदत्त धनराशि पर क्रेता को ब्याज का भी भुगतान करना पड़ता है, किन्तु यदि विक्रेता के पास ही सम्पत्ति का कब्जा है, तो क्रेता ब्याज अदा करने के दायित्वाधीन नहीं होगा क्रेता उस स्थिति में भी ब्याज अदा करने के दायित्वाधीन नहीं होगा जबकि उसने विक्रय धनराशि का एक अंश अपने पास इसलिए रोक रखा हो कि विक्रेता को किसी प्रभार का भुगतान करना है। किन्तु यदि उसने विक्रय धनराशि का एक अंश अपने पास उन प्रभारों का भुगतान स्वयं करने के उद्देश्य से रोक रखा है परन्तु भुगतान करने में विफल रहता है, तो यह ब्याज अदा करने के दायित्वाधीन होगा।

इस खण्ड के अन्तर्गत प्राप्त धारणाधिकार विपरीत संविदा द्वारा विबन्धन द्वारा या त्याग द्वारा, समाप्त किया जा सकता है। स्पष्ट संविदा के अभाव में, इस आशय का निष्कर्ष मामले की परिस्थितियों अथवा विक्रेता के अचरण से निकाला जा सकता है। यह धारणाधिकार उस स्थिति में भी समाप्त हो जाता है जबकि क्रेता, विक्रेता के निर्देश पर किसी तीसरे व्यक्ति के पक्ष में विक्रेता के दायित्व को समाप्त करता हुआ एक प्रोनोट निष्पादित कर दें। ऐसी स्थिति में क्रेता विक्रेता के बजाय तृतीय पक्षकार के दायित्वाधीन हो जाएगा। विक्रय के संव्यवहार को पूर्ण करने हेतु यह आवश्यक होता है कि विक्रय सम्पत्ति में का हित विक्रेता से क्रेता में संक्रान्त हो गया हो। इस सन्दर्भ में एक महत्वपूर्ण प्रथा, जो एक विधिक व्यवस्था प्रतिपादित करती है, जिसे “खुबजुल बदलन” कहा जाता है, बिहार राज्य में प्रचलित है। इसके अनुसार विक्रेता से क्रेता में सम्पत्ति का स्वामित्व तभी संक्रान्त होता है जब उनके बीच समतुल्य का विनिमय हो। अतः यदि विक्रय विलेख में यह उल्लिखित हो कि सम्पूर्ण प्रतिफल का भुगतान हो चुका है तथा सम्पत्ति का कब्जा प्रदान किया जा चुका है, किन्तु रजिस्ट्रीकरण रसीद विक्रेता अपने पास रखता है तथा सम्पत्ति का कब्जा भी उसी के पास रहता है क्योंकि निश्चित प्रतिफल का भुगतान या तो पूर्णतः या अंशतः विक्रेता को प्राप्त नहीं हुआ था भले ही विक्रय विलेख में इससे भिन्न उल्लिखित हुआ था। क्रेता में स्वामित्व का अन्तरण तब तक पूर्ण नहीं माना जाएगा जब तक कि क्रेता सम्पूर्ण विक्रय राशि का भुगतान कर रजिस्ट्रीकरण रसीद न प्राप्त कर ले।

जनक दुलारी देवी एवं अन्य बनाम कपिल देव राय एवं अन्य के वाद में ‘क’ जो सम्पत्ति का स्वामी था, ने अपनी सम्पत्ति रजिस्ट्रीकृत विक्रय विलेख द्वारा श्वशुर के पक्ष में रु० 22,000/ प्रतिफल के एवज में बेच दिया। किन्तु प्रतिफल की कुल रकम में से केवल रु० 17,000/– का भुगतान किया गया तथा यह वचन किया गया कि शेष रु०

5000/- का भुगतान शीघ्र कर दिया जाएगा। किन्तु 'ख' शेष रकम का भुगतान करने में विफल रहाय फलस्वरूप 'क' ने 'ख' के पक्ष में हुए अन्तरण को निरस्त कर सम्पत्ति 'ग' के पक्ष में बेच दिया तथा उसे सम्पत्ति का कब्जा भी संदत्त कर दिया। प्रश्न यह था कि क्या शर्श के पक्ष में किया गया अन्तरण बंध था। न्यायालय ने 'खुबजुल बदलन' के सिद्धान्त के आधार पर शर्श के पक्ष में संव्यवहार को वैध माना तथा शर्श के पक्ष में हुए अन्तरण को रद्द कर दिया।

क्रेता के दायित्व- विक्रय पूर्ण होने से पहले -

(1) सम्पत्ति के मूल्य में सारवान वृद्धि करने वाले तथ्यों को प्रकट करने का दायित्व धारा (55) 5 (क) , -

जिस प्रकार विक्रेता पर इस धारा के अन्तर्गत यह दायित्व है कि वह अन्तर्निहित दोषों को स्पष्ट करे उसी प्रकार इस खण्ड के अन्तर्गत क्रेता पर यह दायित्व है कि वह उन तथ्यों को, जो सम्पत्ति के मूल्य में सारवान वृद्धि करने वाले हैं, विक्रेता को सुस्पष्ट करे, किन्तु क्रेता का दायित्व केवल उन तथ्यों के प्रकटीकरण तक सीमित हैं जिन का ज्ञान उसे तो है किन्तु विक्रेता को नहीं है और जिनसे सम्पत्ति के मूल्य में सारवान वृद्धि हो सकती है।

“प्रत्येक क्रेता से यह अपेक्षित है कि वह जो कुछ भी कहता है या करता है उसमें सद्भावना का अनुपालन करे जिससे संविदा का क्रियान्वयन हो सके और कपट से बचा जा सके कपट, सत्य तथ्य को दबाकर या मिथ्या सुझाव द्वारा अस्तित्व में आ सकता है। साधारणतया क्रेता, विक्रेता को उन तथ्यों को प्रकट करने के पूर्विक दायित्व के अधीन नहीं होता है जो, उसके स्वयं के हितों के लिए संव्यवहार करते समय उसके आचरण एवं निर्णय को प्रभावित करते हों। क्रेता की चुप्पी मात्र से कपट की अवधारणा की जाएगी, यदि वह उन तथ्यों के बगैर कोई अन्य सूचना देता है जो निश्चयतः पर स्वभावतः और संभाव्यतः मिथ्याकारी है।” किन्तु इस नियम के अपवाद भी हैं। साधारणतया यह विक्रेता का दायित्व है कि वह अपने स्वामित्व के विषय में जाने, किन्तु ऐसी भी परिस्थितियाँ हो सकती हैं जिनमें विक्रेता को ज्ञान न हो और क्रेता को हो। ऐसी स्थिति में क्रेता का यह दायित्व होगा कि वह अपने ज्ञान का अनुचित लाभ न ले। अतः ऐसी स्थिति में क्रेता अपने ज्ञान को विक्रेता को प्रकट करने के दायित्वाधीन होता है अन्यथा इस तथ्य की सूचना मिलते ही विक्रेता कपट के आधार पर संव्यवहार को रद्द करा सकेगा। उदाहरणस्वरूप, यदि कोई स्त्री अपनी सम्पत्ति बाजार मूल्य से अत्यधिक कम मूल्य पर बेचती है। क्योंकि वह इस भ्रम में है कि वह उस सम्पत्ति में अच्छा हित अन्तरित नहीं कर सकती है जबकि क्रेता को यह ज्ञान है कि वह अच्छा हित अन्तरित कर सकती है तो ऐसी स्थिति में यह माना जाएगा कि क्रेता ने तथ्यों को दबाया था। इस आधार पर संव्यवहार रद्द किया जा सकेगा।

(2) मूल्य का भुगतान धारा 55 (5) (ख), - यह खण्ड क्रेता से यह अपेक्षा करता है। कि क्रेता मूल्य का भुगतान करे भुगतान उस समय होना चाहिए जब बैनामा लिखा जा रहा हो। ये दोनों ही कार्यवाहियों साथ-साथ पूर्ण होनी चाहिए। विक्रेता तब तक विक्रय विलेख लिखने को बाध्य नहीं है, जब तक कि क्रेता सम्पत्ति का पूरा मूल्य अदा न कर दे या इस आशय का कोई करार न कर लें। यदि मूल्य का वास्तविक भुगतान नहीं किया जा रहा हो तो भुगतान की निविदा पर्याप्त होगी। यह खण्ड, उपधारा 55 (1) (घ) का स्वाभाविक निष्कर्ष जो यह प्रतिपादित करता है कि यदि क्रेता ने उचित मूल्य से अधिक का भुगतान किया है तो यह विक्रेता से अधिक मूल्य वापस पाने का हकदार होगा।

विक्रय के पश्चात् क्रेता के दायित्व -

(1) सम्पत्ति के नुकसान को सहना धारा 55 (5) (ग) , -स्वामित्व क्रेता में साधारणतया विक्रय-विलेख के निष्पादन के साथ ही अन्तरित हो जाता है। उसे विक्रेता के समस्त अधिकार एवं शक्तियाँ प्राप्त हो जाती हैं। अतः उसे सम्पत्ति के सम्बन्ध में होने वाले समस्त नुकसानों को वहन करना पड़ेगा। सम्पत्ति को होने वाले नुकसान आकस्मिक विनाश के कारण हो सकते हैं अथवा हास के कारण नुकसान को सहन करने के लिए यह आवश्यक नहीं है कि सम्पत्ति क्रेता के कब्जे में हो। इतना ही पर्याप्त है कि स्वामित्व क्रेता में निहित हो गया हो।

(2) लोक प्रभारों का भुगतान धारा 55 (5) (घ) , -विक्रय विलेख के निष्पादन की तिथि से क्रेता समस्त लोक प्रभारों का भुगतान करने के दायित्वाधीन हो जाता है। वह मूलधन के साथ ही साथ ब्याज अदा करने के भी दायित्वाधीन रहता है, किन्तु वह ब्याज की अवशिष्ट राशि का भुगतान करने के दायित्वाधीन नहीं है।

यदि एक व्यक्ति किसी कम्पनी, जो कि विघटन के अध्यक्षीन है, की सम्पत्ति क्रय करता है तो उसे उस सम्पत्ति पर सभी भारों एवं विल्लंगमों से मुक्त स्पष्ट स्वत्व प्राप्त होगा भले ही सांविधिक प्राधिकारी द्वारा कुर्की का आदेश दिया गया हो। जब क्रेता 'जैसे है जहाँ है' के आधार पर सम्पत्ति क्रय करता है तो उसकी स्थिति उसी के अनुरूप होती है। विशेष अधिकारी (वाणिज्य) नेस्को एवं अन्य बनाम मेसर्स रघुनाथ पेपर मिल्स प्रा० लि० एवं अन्य के वाद में मेसर्स कोणार्क पेपर्स एण्ड इण्डस्ट्रीज लि० जो कि कम्पनी अधिनियम, 1956 के अन्तर्गत एक निगमित कम्पनी थी के प्जैसे है, जहाँ है के आधार पर विक्रय हेतु शासकीय समापक ने एक विज्ञापन प्रकाशित कराया।

इस विज्ञापन के आधार पर मेसर्स रघुनाथ पेपर्स मिल्स प्रा० लि० ने भी निविदा में अपनी भागीदारी सुनिश्चित किया, उन्हें सबसे अधिक बोली लगाने वाला पाया गया। फलस्वरूप वह कम्पनी मेसर्स रघुनाथ को बेच दी गयी एवं उसका कब्जा भी शासकीय समापक द्वारा सौंप दिया गया।

तत्समय मेसर्स कोणार्क पेपर्स को विद्युत की आपूर्ति नहीं हो रही थी अतः मेसर्स रघुनाथ ने विद्युत आपूर्ति हेतु जनरल मैनेजर (वाणिज्यिक) के समक्ष आवेदन प्रस्तुत किया जिसे जनरल मैनेजर ने अपनी स्वीकृति प्रदान कर दी।

विद्युत आपूर्ति हेतु आवश्यक औपचारिकताएं पूर्ण होने के उपरान्त मेसर्स रघुनाथ को कार्य सम्पादित होने का प्रमाण पत्र भी प्राप्त हो गया।

इसके बाद मेसर्स रघुनाथ ने नेस्को प्रबन्धन के साथ करार कर प्रतिभूति हेतु आवश्यक धनराशि जमा कर दिया। किन्तु विद्युत विभाग ने विद्युत आपूर्ति प्रारम्भ नहीं की अपितु लगभग रु० 79,02,262/- विद्युत मूल्य बकाया होने की बात की और कहा कि जब तक यह रकम जमा नहीं होगी विद्युत आपूर्ति प्रारम्भ नहीं होगी। इन परिस्थितियों में विवाद न्यायालय पहुंचा।

उड़ीसा उच्च न्यायालय ने अभिनिर्णीत किया कि जब कोई व्यक्ति किसी कम्पनी को शासकीय समापन के आदेश के अन्तर्गत क्रय करता है तो उसे सम्पत्ति में स्पष्ट स्वत्व सभी भागों एवं विल्लंगमों से मुक्त मिलता है भले ही एक संविधिक प्राधिकारी द्वारा कुर्की का आदेश हो। जब कोई व्यक्ति 'जैसा है जहाँ है' के आधार पर सम्पत्ति क्रय करता है तो वह पूर्व के बकायों के लिए उत्तरदायी नहीं होता है। इस मामले में कहा गया कि मेसर्स रघुनाथ ने अपने नाम में विद्युत का नया कनेक्शन लेने हेतु आवेदन प्रस्तुत किया था न कि पूर्व संस्थान द्वारा लिए गये विद्युत कनेक्शन को अपने नाम हस्तान्तरित करने हेतु अतः मेसर्स रघुनाथ पूर्व की बकाया रकम का भुगतान करने के दायित्वाधीन नहीं हैं।

विक्रय से पूर्व क्रेता के अधिकार

क्रेता के धारणाधिकार धारा 55 (6) (ख) , —जिस प्रकार विक्रेता को धारणाधिकार प्राप्त है ठीक उसी प्रकार क्रेता को भी इस खण्ड के अन्तर्गत धारणाधिकार प्राप्त है। यह अधिकार तब उत्पन्न होता है जबकि क्रेता ने मूल्य का अग्रिम भुगतान इस उम्मीद से कर दिया हो कि विक्रेता उसे सम्पत्ति अन्तरित करेगा बशर्ते कि उसने अवैध रूप से कब्जा लेने से इन्कार कर दिया हो। धारणाधिकार न केवल उस धनराशि पर प्राप्त होता है जिसका भुगतान उसने किया है, अपितु उससे सृष्ट ब्याज पर भी। ब्याज की गणना उस तिथि को की जाती है जिस तिथि को कब्जे की अदायगी होती है। यदि क्रेता अनुचित ढंग से कब्जे का परिदान लेने से इन्कार कर देता है तो उसका धारणाधिकार समाप्त हो जाएगा, किन्तु इस स्थिति में भी विक्रेता अग्रिम भुगतान को अपने पास रोकने का अधिकारी नहीं होगा है, यदि किसी सम्पत्ति का विक्रय नीलामी के माध्यम से इस आधार पर किया जाता है कि उसका स्वामी बिजली विभाग को देय रकम का भुगतान करने में विफल रहा है तो नीलामी में सम्पत्ति को क्रय करने वाला व्यक्ति उन प्रभागों का भुगतान करने के दायित्वाधीन होगा क्योंकि नीलामी क्रेता समस्त परिस्थितियों को जानते समझते हुए सम्पत्ति क्रय करता है। वह नीलामी की शर्तों से बाध्य होगा। वह बकाया रकम का भुगतान करने के दायित्वाधीन होगा। धारा 55 (6) (ख) उपबन्धित करती है कि सम्पत्ति पर क्रेता का भार प्रवर्तनीय है न केवल विक्रेता के विरुद्ध अपितु उससे व्युत्पन्न अधिकाराधीन दावा करने वाले सभी व्यक्तियों के विरुद्ध भी जब तक क्रेता ने सम्पत्ति का परिदान प्रतिगृहीत करने से अनुचित रूप से इन्कार न कर दिया हो। क्रेता का यह भार सांविधिक भार है तथा यह संविदात्मक भार से पृथक् है। संविदात्मक भार, पक्षकारों के बीच संविदा के फलस्वरूप ही अस्तित्व में आता है।

प्रश्न न० 3— सुखाधिकार की परिभाषा, प्रकृति और क्षेत्र की विवेचना कीजिए।

उत्तर— सुखाधिकार का अर्थ और प्रकृति—सुखभोग की अवधारणा को भारतीय सुखभोग अधिनियम, 1882 की धारा 4 के अंतर्गत परिभाषित किया गया है। धारा 4 के प्रावधानों के अनुसार, सुखभोगी अधिकार किसी अन्य भूमि पर भूमि के स्वामी या अधिभोगी द्वारा प्राप्त अधिकार है, जो उसकी अपनी नहीं है, जिसका उद्देश्य भूमि का लाभकारी उपभोग प्रदान करना है। यह अधिकार इसलिए प्रदान किया जाता है क्योंकि इस अधिकार के अस्तित्व के बिना अधिभोगी या स्वामी अपनी संपत्ति का पूर्ण रूप से आनंद नहीं ले सकता। इसमें अपनी भूमि के उपभोग के लिए किसी अन्य भूमि के संबंध में कुछ करने या करते रहने या कुछ रोकने या रोकते रहने का अधिकार शामिल है, जो उसकी अपनी नहीं है। शब्द 'भूमि' का तात्पर्य पृथ्वी से स्थायी रूप से जुड़ी हर चीज से है और शब्द 'लाभकारी उपभोग' सुविधा, लाभ या किसी सुविधा या किसी आवश्यकता को दर्शाता है। प्रावधान में संदर्भित स्वामी या अधिभोगी को प्रमुख स्वामी के रूप में जाना जाता है और जिस भूमि के लाभ के लिए सुखभोगी अधिकार मौजूद है उसे प्रमुख विरासत कहा जाता है। जबकि जिस मालिक की भूमि पर दायित्व लगाया जाता है, उसे दास स्वामी के रूप में जाना जाता है और जिस भूमि पर ऐसा दायित्व कुछ करने या रोकने के लिए लगाया जाता है, उसे दास विरासत के रूप में जाना जाता है।

उदाहरण—

'पी' किसी निश्चित भूमि या घर का मालिक होने के नाते, सड़क से बाहर निकलने के लिए क्यू के घर, उसके घर से सटे, पर जाने का अधिकार रखता है। इसे सुखभोग का अधिकार कहा जाता है।

'एक्स' द्वारा किसी निश्चित भूमि की सतह पर से गुजरने या फिर से गुजरने के लिए जनता को दिए गए अधिकार का स्वैच्छिक समर्पण सुखभोग का अधिकार नहीं है।

अपने घर के उद्देश्य से कुएं से पानी लाने के लिए अपने पड़ोसी वार्ड के घर पर जाने का एक्स का अधिकार सुखभोग का अधिकार है। यहां, कुएं का रास्ता वार्ड की भूमि से ही होकर जाता है। इसलिए, एक्स के पास वार्ड के घर से गुजरने का सुखभोगी अधिकार है।

महान न्यायविद सैल्मंड के शब्दों में, सुखभोग वह कानूनी सेवा है जिसका प्रयोग किसी अन्य भूमि के टुकड़े पर विशेष रूप से अपनी भूमि के लाभकारी उपभोग के लिए किया जा सकता है। सुखभोग का अधिकार मूलतः

विशेषाधिकार का एक रूप है, जिसका अभिन्न अंग किसी अन्य भूमि पर किसी कार्य को करना या कुछ कार्यों को रोकना है, ताकि वह अपनी भूमि का उपभोग कर सके। सुखभोग के अधिकार के अन्य उदाहरणों में शामिल हैं—

मार्ग का अधिकार

वर्षा जल का निर्वहन करने का अधिकार

सूर्य के प्रकाश का अधिकार आदि

सुखभोग के आवश्यक तत्व

1. प्रमुख और अधीनस्थ विरासत— सुखभोग के अधिकार के उपभोग के लिए, दो संपत्तियों यानी प्रमुख और अधीनस्थ विरासत का होना आवश्यक है। ऐसा इसलिए है क्योंकि परिभाषा के अनुसार, यह एक भूमि के स्वामी या अधिभोगी द्वारा किसी अन्य व्यक्ति की भूमि पर अपनी भूमि के लाभ का आनंद लेने के लिए प्रयोग किया जाने वाला अधिकार है। प्रमुख और अधीनस्थ विरासत एक नहीं हो सकती। इस प्रकार, दो संपत्तियों का अस्तित्व और उनका एक दूसरे से अलग होना आवश्यक है।

2. अलग-अलग मालिक— सुखभोग के अधिकार का प्रयोग करने के लिए, दो संपत्तियों के मालिक अलग-अलग होने चाहिए, न कि एक व्यक्ति।

3. लाभकारी आनंद— सुविधा का उद्देश्य यह है कि प्रमुख स्वामी इसका इस तरह से आनंद ले जिसमें स्पष्ट और निहित लाभ शामिल हों।

4. सकारात्मक या नकारात्मक— सुविधा सकारात्मक या नकारात्मक दोनों हो सकती है। पहला, उस अधिकार को संदर्भित करता है जिसके माध्यम से प्रमुख स्वामी अधीनस्थ स्वामी की भूमि पर अधिकार का प्रयोग करने के लिए कुछ कार्य करता है। जबकि, दूसरा, रोकथाम के कार्य को दर्शाता है। नकारात्मक सुखभोग में प्रमुख स्वामी अधीनस्थ स्वामी को कुछ कार्य या कार्य करने से रोकता या प्रतिबंधित करता है।

सुविधा के अधिकार में प्रमुख विरासत का स्वामी अधीनस्थ स्वामी को कुछ करने से रोक सकता है या कार्य कर सकता है लेकिन वह अधीनस्थ स्वामी को उसके लिए कुछ करने के लिए बाध्य नहीं कर सकता। सुविधा अधिकार केवल तभी मौजूद होता है जब दो विरासतें एक दूसरे से सटी हों। यह एक अधिकार है, जिसका अर्थ है पूरी दुनिया के खिलाफ उपलब्ध अधिकार। अधिकार के रूप में सुखभोग हमेशा प्रमुख किरायेदारी से जुड़ा होता है। यह पुनः—विमुखता का अधिकार है जिसका अर्थ है अधीनस्थ किरायेदारी पर अधिकार और अपनी भूमि पर नहीं।

सुखभोगों का वर्गीकरण

भारतीय सुखभोग अधिनियम, 1882 की धारा 5 सुखभोगों को इस प्रकार वर्गीकृत करती है—

निरंतर या असंतत— निरंतर सुखभोग वे होते हैं जिनका उपभोग किसी व्यक्ति के किसी मानवीय आचरण या कार्य के हस्तक्षेप के बिना जारी रखा जा सकता है। इसमें किसी व्यक्ति का हस्तक्षेप नहीं होता है और यह संपत्ति में विशेष गुण जोड़ता है। जबकि, दूसरी ओर, सुखभोग के अधिकार जिसके लिए किसी व्यक्ति के हस्तक्षेप की आवश्यकता होती है, असंतत कहलाता है। इस प्रकार के सुखभोग में यह आवश्यक है कि किसी मानवीय कार्य को अनुचर विरासत पर किया जाए।

स्पष्ट या अप्रकट— स्पष्ट सुखभोग वह होता है जिसका अस्तित्व स्थायी चिह्न के माध्यम से देखा जा सकता है। इसे सावधानीपूर्वक जांच और उचित दूरदर्शिता से देखा जा सकता है। इसे स्पष्ट सुखभोग भी कहते हैं। किसी अधिकार के अस्तित्व की जांच के लिए निरीक्षण की आवश्यकता होती है। उदाहरण के लिए— A की भूमि से B की भूमि तक एक नाली है और वहां से यह एक खुले प्रांगण में जाती है। यह स्पष्ट निरीक्षण के माध्यम से देखा जा सकता है और एक स्पष्ट सुखभोग है।

प्रश्न नं० 4— बन्धक की परिभाषा दीजिए। वैध बन्धक के क्या-क्या आवश्यक तत्व हैं एवं इसके विभिन्न प्रकारों का वर्णन कीजिए।

उत्तर— सम्पत्ति अंतरण अधिनियम की धारा 58(क) में बंधक को परिभाषित किया गया है जो कि इस प्रकार है—

“बंधक किसी विशिष्ट अचल संपत्ति में के किसी हित का वह अंतरण है जो ऋण के तौर पर दिए गए या दिये जाने वाले धन के भुगतान को या वर्तमान या भावी ऋण के भुगतान को या ऐसे वचनबंध का पालन, जिससे धन संबंधी दायित्व पैदा हो सकता है, ऐसे धन को सुरक्षित रखने के आशय से किया गया संपत्ति का अंतरण बंधक कहलाता है।”

इस धारा के अनुसार, अन्तरक को बंधककर्ता और अंतरीति को बन्धकदार कहते हैं, मूलधन और ब्याज जिनके भुगतान के लिए बंधक द्वारा सुरक्षा की व्यवस्था की गई है, बंधक धन कहलता हैं और वह लिखत जिसके द्वारा अंतरण किया जाता है बंधक विलेख कहलाता हैं।

सरल शब्दों में बन्धक का अर्थ है, ऋण या उधार के रूप में प्राप्त धन के लिए अपनी किसी विशिष्ट संपत्ति या उसके किसी भाग में निहित हित का अंतरण, उस व्यक्ति के पक्ष में करना, जिससे ऋण या उधार लिया गया है, जिससे ऋण देने वाले व्यक्ति का धन सुरक्षित हो सके।

निधि शाह बनाम मुरलीधर, 1903 इस संबंध में महत्वपूर्ण वाद है, जिसमें प्रिवी काउंसिल के द्वारा कहा गया है कि ऋण के भुगतान की गारंटी के लिए ही बंधक में संपत्ति का अंतरण किया जाता है। अतः उधार, ऋण या वचनबंध उपयुक्त तीनों में से किसी की भी वसूली के लिए प्रतिभूति दिया जाना बंधक है।

बन्धक के आवश्यक तत्व (Essential Elements)— बन्धक के महत्वपूर्ण तत्व निम्नलिखित हैं—

(1) **किसी हित का अंतरण**— प्रत्येक बन्धक में किसी ना किसी अचल संपत्ति या उसके किसी भाग में निहित हित का अंतरण होना उसकी प्रथम आवश्यक शर्त है । यहां यह स्पष्ट है कि बंधक में संपत्ति में हित का अंतरण होता है स्वामित्व का नहीं । अर्थात् हित बन्धकदार के पास चला जाता है जबकि स्वामित्व बंधक कर्ता के पास ही रहता है । चल संपत्ति इस क्षेत्र से बाहर है । इसी प्रकार बन्धक में कब्जा का अंतरण भी होगा या नहीं , यह बंधक के प्रकार पर निर्भर करता है। **रतनपाल बनाम कुंवरपाल सिंह ए.आई.आर. 2001** सम्पत्ति का बन्धक उसी सम्पत्ति के बारे में किये गये विक्रय के करार के निष्पादन में कोई बाधा नहीं खड़ा करता क्योंकि बन्धक सम्पत्ति का स्वत्व बन्धनकार को नहीं अन्तरित होती और वह भी जब बन्धनदार को कोई सूचना या संज्ञान न हो।

(2) **विनिर्दिष्ट स्थावर सम्पत्ति में हित का अन्तरण**— संपत्ति हस्तांतरण अधिनियम, 1882 की धारा 58 के अनुसार, बंधक ऋण, कर्ज या अन्य दायित्व के भुगतान को सुरक्षित करने के लिए अचल संपत्ति में हिस्सेदारी का हस्तांतरण है। संपत्ति का मालिक या बंधककर्ता ऋणदाता या बंधककर्ता के लिए संपत्ति पर ग्रहणाधिकार बनाता है। बंधककर्ता संपत्ति के शीर्षक विलेख को ऋणदाता या उनके एजेंट के पास जमा करके या बंधक विलेख निष्पादित करके ऋण सुरक्षित कर सकता है। संपत्ति हस्तांतरण अधिनियम बंधककर्ता और बंधककर्ता को कुछ अधिकार देता है। उदाहरण के लिए, यदि बंधककर्ता ऋण पर चूक करता है, तो वे अपने मोचन का अधिकार खो सकते हैं। सरल और सशर्त बंधक सहित विभिन्न प्रकार के बंधक भी हैं। एक साधारण बंधक में, बंधककर्ता ऋण का भुगतान करने के लिए सहमत होता है, लेकिन संपत्ति को बंधककर्ता को हस्तांतरित नहीं करता है। एक सशर्त बंधक में, बंधककर्ता को संपत्ति बेचने का अधिकार हो सकता है यदि बंधककर्ता अपना भुगतान नहीं करता है। **उदाहरण—**

A एक हिंदू विधवा, जिसके पति ने संपार्श्विक वारिस छोड़े हैं, यह आरोप लगाते हुए कि उसके पास जो संपत्ति है वह उसके भरण-पोषण के लिए अपर्याप्त है, न तो धार्मिक और न ही धर्मार्थ उद्देश्यों के लिए, ऐसी संपत्ति का एक हिस्सा, **B** को खेत बेचने के लिए सहमत होती है। **B** उचित जांच करके खुद को संतुष्ट करता है कि संपत्ति की आय **A** के भरण-पोषण के लिए अपर्याप्त है, और खेत की बिक्री आवश्यक है, और सद्भावनापूर्वक कार्य करते हुए, **A** से खेत खरीद लेता है। एक ओर **B** और दूसरी ओर **A** और संपार्श्विक वारिसों के बीच, बिक्री की आवश्यकता मौजूद मानी जाएगी।

(3) **बन्धक का प्रतिफल**— बंधक ऋणदाता और उधारकर्ता के बीच एक संविदात्मक समझौता है, जिसके तहत ऋणदाता उधारकर्ता की संपत्ति पर दावा कर सकता है यदि उधारकर्ता ऋण और ब्याज का भुगतान नहीं करता है। बंधक का उपयोग अक्सर घर खरीदने या मौजूदा घर के मूल्य का उपयोग करके पैसे उधार लेने के लिए किया जाता है। गिरवी रखी गई संपत्ति ऋण के लिए संपार्श्विक के रूप में कार्य करती है, जिसे बिक्री के माध्यम से चुकाया या वसूला जा सकता है। “कोई व्यक्ति अगर चाहे तो स्वैच्छिक बंधक दे सकता है, और यह उन लोगों के लिए अच्छा होगा जिन्हें इससे धोखा मिल सकता है। लेकिन यह तथ्य कि बंधक बिना किसी प्रतिफल के दिया जाता है, इसकी डिलीवरी या रिकॉर्डिंग से संबंधित किसी भी विवादित प्रश्न पर महत्वपूर्ण प्रभाव डाल सकता है।”

बन्धक के प्रकार— सम्पत्ति अन्तरण अधिनियम की धारा 58 के अनुसार बन्धक प्रकार के होते हैं जो निम्नलिखित हैं—

(1) **सादा बन्धक**— धारा 58(ख) के अनुसार , सादा बन्धक में बन्धक सम्पत्ति के कब्जे का अंतरण नहीं किया जाता है । बल्कि बन्धककर्ता कब्जे का अंतरण किये बिना बन्धक धन का भुगतान करने के लिए व्यक्तिगत जिम्मेदारी लेता है और अप्रकट या प्रकट रूप से यह संविदा करता है कि , बन्धककर्ता द्वारा बन्धक धन का भुगतान करने में विफल रहने पर, बन्धकदार को यह अधिकार होगा , वह बन्धक सम्पत्ति की बिक्री कराये और ऐसी बिक्री से प्राप्त आगमों का उपयोग बन्धक धन का भुगतान करने में करे , जहां ऐसा संव्यवहार हो , सादा बन्धक कहलाता है ।

(2) **सशर्त विक्रय द्वारा बन्धक**—धारा 58(ग) में सशर्त विक्रय द्वारा बन्धक के विषय में बताया गया है । इसमें बन्धककर्ता काल्पनिक रूप से अपनी संपत्ति की बिक्री कर देता है , जिसमें कुछ शर्तें भी होती हैं । शर्तों के अनुसार , एक निश्चित तारीख तक भुगतान न होने पर विक्रय माना जायेगा और यदि बन्धककर्ता नियत तारीख तक बन्धक धन का संदाय कर देता है , तो बंधकदार सम्पत्ति का अंतरण बन्धककर्ता को कर देगा । परन्तु ऐसा संव्यवहार तभी सशर्त विक्रय द्वारा बन्धक माना जाएगा, जब यह शर्तें बन्धक विलेख में स्पष्ट अंकित हो । किसी ओर करार या प्रपत्र में ना हो ।

(3) **भोग बन्धक**— धारा 58(घ) के अनुसार , जहां कि बन्धककर्ता बन्धक सम्पत्ति का कब्जा बन्धकदार को प्रदान कर देता है या ऐसा कब्जा प्रदान करने के लिए स्वम को प्रकट या अप्रकट रूप से बाध्य कर लेता है और बन्धकदार को यह अधिकार देता है कि , बन्धक धन के भुगतान तक वह सम्पत्ति पर कब्जा प्राप्त करे और सम्पत्ति से प्राप्त किरायों और लाभों या किरायों या लाभों के किसी भाग को प्राप्त करे और उन्हें ब्याज तथा बन्धक धन की अदायगी में विनियोजित करे। ऐसा संव्यवहार भोग बन्धक कहलाता है । भोग बंधक में संपत्ति का कब्जा अनिवार्य होता है । भोग बन्धक में जब्ती तथा बिक्री का अधिकार नहीं होता है ।

(4) **अंग्रेजी बन्धक**— अधिनियम की धारा 58(ङ) में अंग्रेजी बन्धक को परिभाषित किया गया है । ऐसा समव्यावहार, जहां बंधककर्ता बंधक धन को एक निश्चित तारीख को भुगतान करने के लिए स्वयं को आबद्ध करता है और बंधक संपत्ति को बंधकदार को अंतरित कर देता है, किंतु इस शर्त के साथ की बंधक धन के संदाय पर बंधकदार संपत्ति को बंधक कर्ता को वापस कर देगा, अंग्रेजी बंधक कहलाता है ।

(5) **हक-विलेखों को जमा करके बन्धक**— धारा 58(च) के अनुसार, जहां कोई व्यक्ति निम्नलिखित नगरों अर्थात् कोलकाता , मद्रास और मुंबई नगरों में से किसी में या किसी भी अन्य नगर में, जिसे संयुक्त राज्य सरकार द्वारा

शासकीय राजपत्र में अधिसूचना द्वारा इस हेतु उल्लेखित किया गया है, किसी लेनदार को या उसके प्रतिनिधि को अचल संपत्ति में हक के दस्तावेजों को, उस अचल संपत्ति पर गारंटी उत्पन्न करने के आशय से प्रदान करता है, वहां ऐसा संव्यवहार हकद्विलेखों को जमा करके बन्धक कहलाता है।

(6) विलक्षण बन्धक— विलक्षण बन्धक को अधिनियम की धारा 58(छ) में परिभाषित किया गया है। जिसके अनुसार, जो बन्धक सादा बन्धक, सशर्त विक्रय द्वारा बन्धक, भोग बन्धक, अंग्रेजी बन्धक या हक विलेखों को जमा करके बन्धक नहीं है, वह विलक्षण बन्धक कहलाता है। विलक्षण बन्धक को सम्पत्ति अंतरण अधिनियम में सन् 1929 के संशोधन द्वारा जोड़ा गया था। विलक्षण बन्धक में पक्षकारों के अधिकार एवं दायित्व संविदा पर निर्भर करते हैं। यदि बिना कब्जा दिए भोग बन्धक किया जाए तथा भोग बन्धक में व्यक्तिगत दायित्व लिया जाए, तो ऐसे बन्धक विलक्षण बन्धक ही होंगे।

प्रश्न न० 5— विमोचन के अधिकार से आप क्या समझते हैं? मोचन अधिकार पर अवरोध के सिद्धान्त की व्याख्या कीजिए।

उत्तर— मोचन का अधिकार— संपत्ति हस्तांतरण अधिनियम, 1882 की धारा 60 के अनुसार बंधककर्ता के महत्वपूर्ण अधिकारों में से एक बंधक को मोचन करने का अधिकार है। एक बार जब निर्दिष्ट तिथि पर पैसा देय हो जाता है, तो बंधककर्ता को बंधककर्ता को पैसे का भुगतान करके गिरवी रखी गई संपत्ति वापस पाने का अधिकार होता है। किसी भी समय बन्धककर्ता को बन्धक धन को उपर्युक्त समय और स्थान में देने या निविदा करने का यह अधिकार होता है कि वह—

(क) बन्धककर्ता को बन्धक विलेख और बन्धक सम्पत्ति से सम्बन्धित ऐसे सब दस्तावेजों को प्रदान करे जो बन्धककर्ता के कब्जे या शक्ति में हो।

(ख) जहाँ कि बन्धकदार बन्धक सम्पत्ति पर कब्जा रखता है वहाँ बन्धककर्ताओं को उस पर कब्जा प्रदान करें, और (ग) बन्धककर्ता के खर्च पर या तो बन्धक सम्पत्ति उसको या ऐसे अन्य व्यक्ति को जिसे वह निर्देशित करे प्रति—अन्तरित करे या यह लेखबद्ध अभिस्वीकृति कि ऐसा कोई अधिकार जो बन्धककर्ता के उस हित का अल्पीकरण करता है जो बन्धकदार को अन्तरित किया गया है, नवीपित हो गया है निष्पादन को और जहाँ कि बन्धक रजिस्ट्रीकरण लिखा द्वारा किया गया है रजिस्ट्रीकृत कराये।

बन्धककर्ता का यह अधिकार मोचन का अधिकार कहलाता है, तथा प्रवर्तित कहलाता है। दूसरे शब्दों में, मोचन के अधिकार से तात्पर्य बन्धक धन के भुगतान कर अधिकार सम्पत्ति को वापस पाना है।

एक भोगबन्धक में जहाँ मोचन के लिए कोई समय—सीमा निर्धारित नहीं की गयी है, वहाँ बन्धकदार समय के बीतने के साथ स्वामित्व का अधिकार नहीं प्राप्त कर लेता। वह इस सिद्धान्त के आधार पर कि एक बार बन्धक सदैव बन्धक बन्धकदार ही रहेगा। मोचन का अधिकार का प्रयोग बन्धकदार द्वारा किसी भी समय बन्धक धन का भुगतान करके किया जा सकता है।

मोचन का अधिकार कब उत्पन्न होता है— मोचन का अधिकार संपत्ति अंतरण अधिनियम की धारा 60 में मोचन के अधिकार का वर्णन किया गया है — बंधककर्ता का किसी भी समय मूलधन देय हो जाने पर मोचन करने का अधिकार — बंधककर्ता को, उचित समय और स्थान पर, बंधक—धन का भुगतान या निविदा करने पर, बंधक धारक से बंधक को सौंपने की मांग करने का अधिकार है।

मोचन के अधिकार का प्रयोग— बन्धककर्ता मोचन के अधिकार निम्नलिखित में से किसी एक के माध्यम से कर सकता है—

(क) बन्धक धन भुगतान या निविदा द्वारा— मोचनाधिकार के प्रयोग हेतु आवश्यक है कि बन्धककर्ता, बन्धकधन का ब्याज के साथ भुगतान बन्धकदार या उसके द्वारा प्राधिकृत व्यक्ति को करे या भुगतान करने की निविदा करे। यदि अनेक बन्धकदार हैं, तो सभी को संयुक्त रूप से भुगतान किया जाना चाहिए, किन्तु बन्धककर्ता, बन्धकदार के निष्पादकों को तब तक भुगतान करने के लिए बाध्य नहीं है जब तक कि वे इच्छा पत्र प्रमाण न प्राप्त कर लें। बन्धक धन का भुगतान न होने की दशा में भुगतान हेतु निविदा आवश्यक है। निविदा से आशय न है, बन्धक धन एवं ब्याज के भुगतान हेतु बन्धककर्ता द्वारा शर्त रहित प्रस्ताव ऐसा होना चाहिए जिसमें बन्धकदार को बन्धक धन प्राप्त होने की पूरी सम्भावना हो निविदा शर्तरहित होनी चाहिए तथा देय धन से कम की नहीं होनी चाहिए। वैध निविदा से ब्याज लगना बन्द हो जाता है। किन्तु अवैध निविदा से यह लाभ बन्धककर्ता को नहीं मिलता है। निविदा, बन्धकदार से या तो व्यक्तिगत तौर पर की जा सकती है या धारा 83 के अन्तर्गत न्यायालय में जमा जा सकती है।

(ख) बन्धक धन का न्यायालय में निक्षेप — बन्धककर्ता न्यायालय में बन्धक रकम का निक्षेप निरन्तर निविदा के रूप में कार्य करता है तथा बन्धकदार को यह उन्मुक्ति होती है कि वह उसे किसी भी समय बन्धककर्ता द्वारा निविदा का विखण्डन करने से पूर्व न्यायालय से रकम निकालकर स्वीकार कर ले।

(ग) मोचन का वाद — मोचन वाद में डिक्री को जब आम आदमी की भाषा में परिभाषित किया जाता है, तो इसका अर्थ एक ऐसी प्रक्रिया से होता है, जिसके तहत बंधककर्ता नामक एक उधारकर्ता, अपनी अचल संपत्ति को पुनः प्राप्त करने के लिए न्यायालय में वाद दायर करता है, जिसे पहले धन के लिए बंधककर्ता नामक ऋणदाता के पास सुरक्षा के रूप में गिरवी रखा गया था।

मोचन अधिकार पर अवरोध के सिद्धान्त— एक बार बंधक रखने वाला हमेशा बंधक ही रहता है, इस वाक्यांश का अर्थ है कि बंधक रखने वाला हमेशा बंधक ही रहेगा और कभी मालिक नहीं बनेगा। वह संपत्ति के अधिकारों को

किसी तीसरे पक्ष को हस्तांतरित नहीं कर सकता क्योंकि उसके पास संपत्ति के लाभों को पारित करने का अधिकार नहीं है। यह वाक्यांश निष्पक्षता की समानता का एक हिस्सा है।¹¹ यह सुनिश्चित करने के लिए कि कोई शोषण न हो, अदालतों ने इस वाक्यांश को विकसित किया।

तदनुसार, एक बंधक विलेख दो चीजें स्थापित करता है, एक ऋणदाता का अधिकार जो उसके हित तक सीमित है और दूसरा ऋणदाता के शेष हित को इससे घटाना। एक बंधक विलेख में मोचन का अधिकार हमेशा मौजूद होता है और इसे तब तक नहीं लिखा जा सकता जब तक कि देनदार राशि का भुगतान करने में विफल न हो या वह ऐसा करना न चाहे। यह अधिकार मोचन के अधिकार के बराबर है।¹² इस सिद्धांत का आधार मूल्य, इक्विटी और एक अच्छे विवेक के अभ्यास में निहित है और यह उन क्षेत्रों पर लागू होता है जहां कार्य लागू नहीं होते हैं। बंधक के कार्यों की उचित जांच करने पर, अधिकांश मामलों में यह देखा गया है कि बंधककर्ता कुछ मौद्रिक कठिनाई के परिणामस्वरूप इस तरह के समझौते में जाता है। कानून प्रमुख पक्ष की शक्ति को ऐसे प्रावधानों को शामिल करने की शक्ति को समझता है जो मोचन के अधिकार पर बाधाएं डालकर उसके अपने फायदे की पूर्ति करेंगे।¹³ और यू. निलन बनाम कन्नयन (मृत) एलआरएस 14 के माध्यम से भी इसी दर्शन को ध्यान में रखा गया था। निष्कर्ष बंधककर्ता का मोचन का अधिकार बंधक विलेख में प्रदत्त अंतर्निहित अधिकार है। बंधक विलेख के विभिन्न पहलुओं को देखने पर, मोचन का अधिकार बंधक विलेख का एक प्राथमिक हिस्सा बनता है। इसके अलावा, मोचन का अधिकार तभी लागू होता है जब बंधककर्ता ने उन्हें सौंपे गए अधिकारों और कर्तव्यों का पालन किया हो। एक बंधक विलेख को बदलकर बिक्री विलेख नहीं बनाया जा सकता है इस प्रकार, न्यायालय द्वारा बंधककर्ता के मोचन का अधिकार सुरक्षित किया जाता है और उन्हें उनके द्वारा किए गए शोषण के विरुद्ध सुरक्षा प्रदान की जाती है। इसके अलावा टीपीए की धारा 60 का उद्देश्य बंधककर्ता के हितों को सुरक्षित करना है और यह बंधक विलेख और संपत्ति के संचालन की अनिवार्यताएं भी प्रदान करता है।

गंगाधर बनाम शंकरलाल ए.आई.बार 1958 एससी 70—न्यायालय ने आगे कहा कि यह शर्त कि यदि बंधककर्ता छह महीने की निर्दिष्ट अवधि के भीतर ऋण को छुड़ाने में विफल रहता है, तो वह ऐसा करने का अपना अधिकार खो देगा और बंधक विलेख को बंधककर्ता के पक्ष में बिक्री विलेख माना जाएगा, स्पष्ट रूप से ऋण मोचन की इक्विटी पर एक अवरोध है और इस प्रकार अवैध है।

विलेख की वैधता— बंधक विलेख की यह सर्वोत्कृष्ट और प्राथमिक आवश्यकता है कि वह कानूनी रूप से वैध हो और उसे न्यायालय में रखा जा सके। **विष्णु काया बनाम विष्णु माया 6** में यह माना गया कि विलेख को पंजीकरण के सभी मानदंडों को पूरा करते हुए पंजीकृत किया जाना चाहिए। यह भी माना गया कि विलेख पंजीकृत होने के बाद ही बंधक बकाया राशि का भुगतान करने के बाद संपत्ति को छुड़ा सकता है या बंधककर्ता को न्यायालय में ले जा सकता है।

मोचन पर रोक के उदाहरण—ऐसे कई उदाहरण हैं जो बंधककर्ता द्वारा मोचन पर अवरोध पैदा करते हैं। वे आरंभ से ही अमान्य हैं। ऐसे उदाहरण इस प्रकार हैं—

बंधककर्ता द्वारा अपनी स्थिति के लाभ के रूप में स्थगन— मोचन को केवल स्थगित करना अवरोध नहीं है क्योंकि यह बंधककर्ता और बंधककर्ता दोनों के लाभ के लिए हो सकता है। इसके अलावा, कभी-कभी स्थगन कुछ अपरिहार्य कारणों से हो सकता है। ऐसे मामलों में जहां यह पाया जाता है कि बंधककर्ता जानबूझकर मोचन को स्थगित कर रहा है और अपनी स्थिति का उचित लाभ उठा रहा है, यह अवरोध है। **सेठ गंगा धर बनाम शंकर लाल** के मामले में, यह माना गया कि 85 का स्थगन उस समय मौजूद स्थितियों के कारण अवरोध नहीं था। **भुल्लन बनाम बच्चा** के मामले में, यह माना गया कि एक उपभोक्ता बंधक में, किसी विशेष पर 60 वर्षों के बाद मोचन की शर्त एक अवरोध थी। इसलिए, कुछ महत्वपूर्ण शर्तों जैसे बंधक की शर्तें, अग्रिम धन आदि को ध्यान में रखने के बाद समय अवधि अवरोध के बराबर है।

संपत्ति की सशर्त बिक्री— किसी भी हालत में गिरवीदार द्वारा संपत्ति की बिक्री एक रुकावट है। जब गिरवीदार और गिरवीदार के बीच अनुबंध से पता चलता है कि अगर गिरवीदार समय पर राशि का भुगतान नहीं करेगा, तो गिरवीदार संपत्ति बेचने के लिए पात्र होगा, ऐसी स्थिति को शून्य माना जाता है। मोचन का अधिकार एक न्यायसंगत अधिकार है और इस प्रकार किसी भी स्थिति में संपत्ति बेचकर इसे खत्म नहीं किया जा सकता है। **कनाराम बनाम कुडूली** के मामले में, यह माना गया कि नियत तारीख पर पैसे का भुगतान न करने से गिरवीदार को संपत्ति बेचने की अनुमति नहीं मिली और अनुबंध में निहित ऐसी कोई भी शर्त रुकावट के बराबर है।

अन्य बंधक पर प्रतिबंध— बंधक में, बंधककर्ता केवल ब्याज हस्तांतरित करता है, संपत्ति में स्वामित्व नहीं। बंधककर्ता के पास एक और ऋण लेने के लिए संपत्ति को गिरवी रखने का अधिकार भी होता है। पहली बंधक विलेख में कोई भी शर्त अगर यह बताती है कि बंधककर्ता बाद में संपत्ति को गिरवी नहीं रख सकता है, तो यह एक रुकावट है।

उपभोक्ता बंधक के मामले में बंधककर्ता को संपार्श्विक लाभ— उपभोक्ता बंधक के मामले में, बंधककर्ता को उस संपत्ति का किराया लेने का अधिकार है, ये अवैध नहीं हैं। यदि इन सभी लाभों के अलावा, बंधककर्ता बंधककर्ता की जरूरतमंद स्थिति का फायदा उठाता है और संपार्श्विक लाभों का आनंद लेता है, तो यह एक अवरोध है।

क्रेलिंगर बनाम न्यू पेंटागोनिया मीट एंड कोल्ड स्टोरेज कंपनी लिमिटेड के मामले में, बंधककर्ता के संपार्श्विक लाभों से संबंधित कुछ शर्तों को समझाया गया था, जिसके परिणामस्वरूप रुकावट आती है, वे हैंरू यदि लाभ अनुचित है, यदि यह ऐसी स्थिति में है जो मोचन को रोकता है या यह मोचन के अधिकार के साथ असंगत है।

ऐसी सभी स्थितियाँ रुकावट पैदा करती हैं और बंधक में लागू नहीं की जा सकती क्योंकि मोचन का अधिकार इक्विटी से संबंधित है और प्रत्येक बंधककर्ता को राशि के भुगतान के बाद संपत्ति को वापस भुनाने का अधिकार है।

प्रश्न न0 6— एक बार जो बंधक है वह सदैव बंधक है। वचन के उपयोग की विवेचना कीजिए।

उत्तर— मोचन के अधिकार पर विपक्ष का नियम अधिकतम सीमा पर आधारित है, एक बार बंधक हमेशा बंधक रहता है। बंधक हमेशा बंधक ही रहता है और इसमें कोई बदलाव या संशोधन नहीं किया जा सकता। बंधक के मोचन के ऐसे अधिकार को समाप्त नहीं किया जा सकता है या सीमित नहीं किया जा सकता है। इस कहावत के अनुसार, मोचन का अधिकार सभी बंधकों में निहित है, ऋण के पूर्ण भुगतान पर, जिसके लिए ऐसी अचल संपत्ति को सुरक्षा के रूप में इस्तेमाल किया गया था। इस संबंध में, **नॉक्स बनाम राउल्ड्स (1902 एससी 24)** का मामला एक अच्छा उदाहरण है, जहां लॉर्ड देव ने कहा कि— “एक बार बंधक हमेशा बंधक रहता है और बंधक के अलावा कुछ नहीं।” बंधक के मोचन का अधिकार किसी भी गतिविधि से विफल नहीं हो सकता है, अर्थात् इसे गैर-मोचनीय नहीं बनाया जा सकता है। यदि कोई प्रयोग किया जाता है तो यह शून्य और निरर्थक हो जाएगा। यदि पार्टी द्वारा कोई शर्त लगाई जाती है तो वह भी निरर्थक हो जाएगी। वर्तमान मामले में, **श्री राइस द्वारा कंपनी** को सद्भावना और परिसर गिरवी रखा गया था और एक शर्त रखी गई थी कि श्री राइस द्वारा बंधक धन और ब्याज का भुगतान करने पर उन्हें गिरवी रखी गई संपत्ति वापस पाने का अधिकार होगा। अदालत ने कहा कि बंधक विलेख ने बंधक बनाया है और ऐसा बंधक हमेशा बंधक रहता है। लेकिन अनुबंध द्वारा बंधक के बाद मोचन के अधिकार की सीमा को विरोध नहीं माना जाएगा। भारतीय अदालतों ने **जयमल बनाम हिमाचल प्रदेश राज्य** में उसी सिद्धांत को दोहराया है, जिसमें मोचन के अधिकार को एक पूर्ण अधिकार पाया गया था जिसे किसी भी विपरीत अनुबंध द्वारा माफ नहीं किया जा सकता है। बंधक को बिक्री में परिवर्तित करने की शर्त को भी मोचन के अधिकार पर विरोध माना जाता है। बंधक राशि का भुगतान न करने की स्थिति में बंधककर्ता बंधक संपत्ति को पट्टे के रूप में रखेगा, ऐसी शर्त को भी बंधक विलेख में अवैध और अप्रभावी माना गया है। संक्षेप में, आशय यह है कि बंधक और बंधककर्ता के मोचन का अधिकार सह-व्यापक हैं, चाहे मोचन के अधिकार का उल्लेख किया गया हो या नहीं। बंधक और मोचन का अधिकार सह-व्यापक हैं, चाहे मोचन के अधिकार का वर्णन किया गया हो या नहीं। इस प्रकार इसका अर्थ है कि एक बार बंधक हो जाने के बाद यह हमेशा बंधक ही रहेगा। इसे किसी अन्य लेन-देन में हस्तांतरित नहीं किया जा सकता।

मोचन पर रोक के उदाहरण—ऐसे कई उदाहरण हैं जो बंधककर्ता द्वारा मोचन पर अवरोध पैदा करते हैं। वे आरंभ से ही अमान्य हैं। ऐसे उदाहरण इस प्रकार हैं—

बंधककर्ता द्वारा अपनी स्थिति के लाभ के रूप में स्थगन— मोचन को केवल स्थगित करना अवरोध नहीं है क्योंकि यह बंधककर्ता और बंधककर्ता दोनों के लाभ के लिए हो सकता है। इसके अलावा, कभी-कभी स्थगन कुछ अपरिहार्य कारणों से हो सकता है। ऐसे मामलों में जहां यह पाया जाता है कि बंधककर्ता जानबूझकर मोचन को स्थगित कर रहा है और अपनी स्थिति का उचित लाभ उठा रहा है, यह अवरोध है। **सेठ गंगा धर बनाम शंकर लाल** के मामले में, यह माना गया कि 85 का स्थगन उस समय मौजूद स्थितियों के कारण अवरोध नहीं था। **भुल्लन बनाम बच्चा** के मामले में, यह माना गया कि एक उपभोक्ता बंधक में, किसी विशेष पर 60 वर्षों के बाद मोचन की शर्त एक अवरोध थी। इसलिए, कुछ महत्वपूर्ण शर्तों जैसे बंधक की शर्तें, अग्रिम धन आदि को ध्यान में रखने के बाद समय अवधि अवरोध के बराबर है।

संपत्ति की सशर्त बिक्री— किसी भी हालत में गिरवीदार द्वारा संपत्ति की बिक्री एक रुकावट है। जब गिरवीदार और गिरवीदार के बीच अनुबंध से पता चलता है कि अगर गिरवीदार समय पर राशि का भुगतान नहीं करेगा, तो गिरवीदार संपत्ति बेचने के लिए पात्र होगा, ऐसी स्थिति को शून्य माना जाता है। मोचन का अधिकार एक न्यायसंगत अधिकार है और इस प्रकार किसी भी स्थिति में संपत्ति बेचकर इसे खत्म नहीं किया जा सकता है। **कनाराम बनाम कुडूली** के मामले में, यह माना गया कि नियत तारीख पर पैसे का भुगतान न करने से गिरवीदार को संपत्ति बेचने की अनुमति नहीं मिली और अनुबंध में निहित ऐसी कोई भी शर्त रुकावट के बराबर है।

अन्य बंधक पर प्रतिबंध— बंधक में, बंधककर्ता केवल ब्याज हस्तांतरित करता है, संपत्ति में स्वामित्व नहीं। बंधककर्ता के पास एक और ऋण लेने के लिए संपत्ति को गिरवी रखने का अधिकार भी होता है। पहली बंधक विलेख में कोई भी शर्त अगर यह बताती है कि बंधककर्ता बाद में संपत्ति को गिरवी नहीं रख सकता है, तो यह एक रुकावट है।

उपभोक्ता बंधक के मामले में बंधककर्ता को संपार्श्विक लाभ— उपभोक्ता बंधक के मामले में, बंधककर्ता को उस संपत्ति का किराया लेने का अधिकार है, ये अवैध नहीं हैं। यदि इन सभी लाभों के अलावा, बंधककर्ता बंधककर्ता की जरूरतमंद स्थिति का फायदा उठाता है और संपार्श्विक लाभों का आनंद लेता है, तो यह एक अवरोध है।

क्रैलिंगर बनाम न्यू पेंटागोनिया मीट एंड कोल्ड स्टोरेज कंपनी लिमिटेड के मामले में, बंधककर्ता के संपार्श्विक लाभों से संबंधित कुछ शर्तों को समझाया गया था, जिसके परिणामस्वरूप रुकावट आती है, वे हैंरू यदि लाभ अनुचित है, यदि यह ऐसी स्थिति में है जो मोचन को रोकता है या यह मोचन के अधिकार के साथ असंगत है। ऐसी सभी स्थितियाँ रुकावट पैदा करती हैं और बंधक में लागू नहीं की जा सकती क्योंकि मोचन का अधिकार इक्विटी से संबंधित है और प्रत्येक बंधककर्ता को राशि के भुगतान के बाद संपत्ति को वापस भुनाने का अधिकार है।

प्रश्न न0 7— पट्टाकर्ता और पट्टेदार का अर्थ समझाइए। सम्पत्ति अन्तरण अधिनियम, 1882 के अन्तर्गत पट्टाकर्ता और पट्टेदार के अधिकार और दायित्व क्या है? विवेचना कीजिए।

उत्तर— पट्टेदार वह व्यक्ति होता है जो किसी और को पट्टा देता है। इस प्रकार, पट्टाकर्ता उस संपत्ति का मालिक होता है जिसे पट्टेदार को एक समझौते के तहत पट्टे पर दिया जाता है। पट्टेदार संपत्ति के उपयोग के बदले में पट्टाकर्ता को एकमुश्त भुगतान या आवधिक भुगतानों की एक श्रृंखला करता है।

पट्टेदार वह व्यक्ति या संस्था है जो किसी संपत्ति का मालिक होता है और उस संपत्ति का उपयोग करने और उस पर कब्जा करने का अधिकार किसी अन्य पक्ष को देता है, जिसे पट्टेदार के रूप में जाना जाता है, एक कानूनी समझौते के माध्यम से जिसे पट्टा या किरायेदारी समझौता कहा जाता है। पट्टेदार को आम बोलचाल में अक्सर मकान मालिक के रूप में संदर्भित किया जाता है। पट्टेदार संपत्ति के स्वामित्व को बरकरार रखता है, जबकि पट्टेदार को पट्टा समझौते में उल्लिखित एक विशिष्ट अवधि के लिए संपत्ति का उपयोग करने का अधिकार प्राप्त होता है, आमतौर पर किराए या अन्य प्रकार के विचार के बदले में। पट्टेदार को आमतौर पर किरायेदार के रूप में संदर्भित किया जाता है और पट्टे की अवधि के दौरान किराए का भुगतान करने और संपत्ति की देखभाल करने सहित पट्टे की शर्तों का पालन करने के लिए जिम्मेदार होता है।

संपत्ति अंतरण अधिनियम के अंतर्गत धारा 108 पट्टाकर्ता के दायित्व का उल्लेख किया गया है, पट्टाकर्ता का दायित्व ही पट्टेदार के अधिकार भी है। इस आलेख के अंतर्गत उन सभी दायित्वों का उल्लेख सारगर्भित किए जा रहा है।

धारा 108 पट्टाकर्ता तथा पट्टेदार के अधिकारों एवं दायित्वों के सम्बन्ध में प्रावधान प्रस्तुत करता है, परन्तु ये अधिकरण एवं दायित्व आत्यन्तिक नहीं हैं। ये संविदा या स्थानीय प्रथा के अध्वधीन होते हैं, किन्तु किसी स्थानीय विधि के अध्वधीन नहीं होते हैं।

पट्टाकर्ता तथा पट्टेदार स्वयं इसमें वर्णित अधिकारों एवं कर्तव्यों से भिन्न अधिकारों एवं कर्तव्यों पर सहमत हो सकते हैं। यह धारा केवल तब प्रवर्तित होती है जब कोई तत्प्रतिकूल संविदा न हो।

पट्टाकर्ता के दायित्व— पट्टाकर्ता के निम्नलिखित दायित्व हैं जो इस प्रकार हैं—

(1)— सम्पत्ति में के किसी अप्रत्यक्ष सारवान दोष प्रकट करने का कर्तव्य— यह दायित्व विक्रय के मामले में प्रचलित दायित्व के समान है। पट्टाकर्ता पट्टा दी जाने वाली सम्पत्ति में के उन सभी दोषों को पट्टेदार को प्रकट करने के लिए बाध्य है जो प्रस्तावित उपभोग के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण हो, जो पट्टाकर्ता को ज्ञात हो, जो पट्टेदार को ज्ञात न हो जो मामूली सावधानी बरतने से मालूम नहीं किया जा सके। दूसरे शब्दों में पट्टाकर्ता का उक्त कर्तव्य गुप्त दोषों को प्रकट करने तक सीमित है। यदि पट्टाकर्ता प्रकटीकरण के अपने इस दायित्व का निर्वहन करने में विफल रहता है तो उसका कृत्य संविदा अधिनियम की धारा 17 के अन्तर्गत कपट का कृत्य होगा तथा सामान्य संविदाओं की भाँति पट्टे की संविदा भी शून्यकरणीय होगी। सारवान दोष, जो पट्टे की संविदा को प्रभावित कर सकेगा ऐसी प्रकृति का होना चाहिए जिसे, यदि पट्टाग्रहीता जानता, तो वह इस संव्यवहार का भागीदार नहीं बनता। उदाहरणार्थ सम्पत्ति पर अधिरोपित दायित्व जिसके अन्तर्गत सम्पत्ति को अनिवार्यतः अधिगृहीत किया जाना था। इस प्रयोजन हेतु सारवान दोष की प्रकृति का माना जाएगा। यह एक ऐसा दोष है जिसे पट्टादार साधारण सावधानी से नहीं खोज सकेगा। ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि यह उपखण्ड पट्टाकर्ता से यह अपेक्षा नहीं करता है कि वह तुच्छ प्रकृति के दोषों को प्रकट करे जैसा पट्टा सम्पत्ति का भौतिक रूप से उपयोग हेतु अच्छी स्थिति में न होगा खिड़की के शीशे का टूटा होना या दरवाजे के पल्लों का ठीक से बन्द न होना पदावलि प्साधारण सावधानी एक अनिश्चित प्रकृति की अभिव्यक्ति है। पट्टाकर्ता को टाइटिल में किसी प्रकार का दोष, इस धारा के अर्थ के अन्तर्गत सारवान दोष, नहीं है। लैण्डलार्ड का यह कर्तव्य है कि वह अपने टेनेन्ट को सम्पत्ति के सभी निहित दोषों को प्रकट करें।

यदि किसी छप्परयुक्त बंगला में आग लगने से टेनेन्ट का फर्नीचर जल जाता है तथा आग, चिमनी में विद्यमान किसी दोष के कारण लगती है एवं ऐसे दोष के विषय में लैण्डलार्ड ने टेनेन्ट को अवगत नहीं कराया था तो टेनेन्ट को हुई हानि के लिए लैण्डलार्ड उत्तरदायी होगा। लैण्डलार्ड का यह दायित्व है कि वह टूटा प्रदान करते समय सम्पत्ति में विद्यमान दोषों को पट्टेदार को प्रकट करे, यद्यपि यह बताना आवश्यक नहीं है कि संदत सम्पत्ति कालान्तर में विनष्ट होकर उसकी उपयोगिता को कम कर सकेगी। **तारक नाथ बनाम भुटोरिया ब्रदर्स** के वाद में एक कम्पनी ने एक परिसर किराये पर लिया जिसमें कम्पनी का डायरेक्टर निवास कर रहा था। डायरेक्टर का अभिकथन था कि कम्पनी ने अपने पट्टे का समर्पण कर दिया था तथा उसने अपनी व्यक्तिगत हैसियत में उक्त परिसर का नवीन पट्टा अपने पक्ष में करा लिया था। प्रश्न यह था कि क्या कंपनी द्वारा पट्टे का वैध पर्यवसान हुआ है इस प्रश्न का उत्तर इस आधार पर प्राप्त किया जा सकेगा कि टेनेन्ट कम्पनी किस प्रकार का साक्ष्य प्रस्तुत करती है। पट्टे का पर्यवसान हुआ, इसको अवधारणा नहीं की जा सकेगी। इस तथ्य का अभिकथन करने वाले पक्षकार को साक्ष्य प्रस्तुत कर पट्टे के पर्यवसान की स्थिति को साबित करना होगा। यदि इस प्रश्न का उत्तर सकारात्मक है तभी और केवल तभी नवीन पट्टेदारों के प्रश्न पर विचार हो सकेगा दोषों को प्रकट करने का पट्टाकर्ता संपत्ति में सारवान दोषों जो सम्पत्ति को आशयित उपभोग से सम्बन्धित हो, को प्रकट करने तक सीमित है। ये शब्द केवल सम्पत्ति की प्रकृति एवं स्थिति से सम्बन्धित हैं। इस प्रावधान में यह बाध्यता नहीं है कि पट्टाकर्ता दस्तावेज प्रस्तुत करे अथवा पूछे गये प्रश्नों का उत्तर दे। पट्टेदार, पट्टाकर्ता से यह अनुरोध नहीं कर सकेगा कि वह अपने स्वत्व के सम्बन्ध में संव्यवहार को पूर्ण होने से पूर्व सन्तोषजनक साक्ष्य प्रस्तुत करे परन्तु पट्टेदार को यह अधिकार होगा कि वह संव्यवहार को पूर्ण करने से इन्कार कर दे पूरा आशय का साक्ष्य प्रस्तुत करें कि पट्टाकर्ता का स्वत्व (टाइटिल) दोषपूर्ण है।

(2)— कब्जा का परिदान (धारा 108 (ख))— पट्टाकर्ता पट्टेदार की प्रार्थना पर उसे सम्पत्ति पर कब्जा देने के लिए आबद्ध है। यह प्रावधान इसी अधिनियम की धारा 55 (1) (च) में उपबन्धित दायित्व के समानान्तर है। धारा 108 (ख)

का महत्वपूर्ण लक्षण यह है कि पट्टाकर्ता तब सम्पत्ति का कब्जा देने के लिए आबद्ध होगा जब कब्जा की माँग पट्टेदार द्वारा की गयी हो। सम्पत्ति का कब्जा न मिलने के कारण पट्टेदार किराया अदा करने के दायित्वाधीन नहीं होगा। यदि पट्टाकर्ता किराया हेतु वाद संस्थित करता है तो पट्टेदार कब्जा न मिलने की स्थिति को अपने बचाव हेतु एक महत्वपूर्ण साक्ष्य के रूप में प्रस्तुत कर सकेगा। यदि पट्टेदार को पट्टा सम्पत्ति के केवल एक अंश का कब्जा प्राप्त होता है तो वह केवल उसी अंश के लिए किराया देने के दायित्वाधीन होगा यदि पट्टाकर्ता सम्पूर्ण पट्टा सम्पत्ति का कब्जा संदत्त करने में विफल रहता है तो पट्टेदार को यह अधिकार होगा कि सम्पूर्ण पट्टा संविदा को इन्कार कर दे, किन्तु यदि वह ऐसा न कर, सम्पत्ति के उस अंश को, जिसका कब्जा उसे प्राप्त हुआ है, धारण किए रहता है तो यह उक्त अंश के लिए आनुपातिक किराया अदा करने के दायित्वाधीन होगा। यदि पट्टे के सृजन के समय सम्पत्ति किसी तीसरे व्यक्ति के पास थी तथा यह तथ्य पट्टाकर्ता एवं पट्टेदार दोनों को ज्ञात था, तो पट्टाकर्ता का यह कर्तव्य होगा कि वह ऐसी स्थिति उत्पन्न करे जिससे सम्पत्ति का कब्जा तीसरे व्यक्ति के पास से पट्टेदार को मिल जाए, किन्तु यदि पट्टेदार को सम्पत्ति के विषय में पूर्ण ज्ञान था तथा सम्पत्ति का कब्जा प्राप्त करने में किसी प्रकार की बाधा या अड़चन नहीं थी, तो पट्टाकर्ता, पट्टेदार को सम्पत्ति का कब्जा दिलाने के दायित्वाधीन नहीं है जब तक कि पट्टेदार इस आशय का अनुरोध पट्टाकर्ता से न करे।

(3)– शान्तिपूर्ण उपभोग के लिए प्रसंविदा (धारा 108) (ग)– पट्टाकर्ता का यह परम कर्तव्य है कि वह पट्टा सम्पत्ति के शान्तिपूर्ण उपभोग हेतु पट्टेदार के पक्ष में एक प्रसंविदा करे। यह प्रसंविदा पट्टा संविदा का एक अभिन्न अंग होती है तथा इसे पट्टा संविदा में सम्मिलित माना जाता है। इसके विपरीत विक्रय के मामले में धारा 55 के अन्तर्गत यह संविदा का अंग नहीं होती है। यह मात्र एक सांविधिक दायित्व होता है। वर्तमान प्रावधान संपठित धारा 18 एवं 25, विशिष्ट अनुतोष अधिनियम 1963 यह सुस्पष्ट करती है कि पट्टाकर्ता का सम्पत्ति में हित, पट्टे के मामले में उतना ही सारवान है जितना कि विक्रम के मामले में परन्तु जब पट्टेदार, पट्टाकर्ता के विरुद्ध किराये या प्रीमियम की वसूली के लिए याद संस्थित करता है तो पट्टाकर्ता की त्रुटिपूर्ण या दोषपूर्ण हित को साबित करने का दायित्व पट्टेदार पर होता है। यदि पट्टाकर्ता पट्टाजनित सम्पत्ति पर कोई स्वत्व नहीं रखता है तथा एक अनजाना व्यक्ति एक पट्टेदार को कब्जा लेने से रोकता है तो ऐसी स्थिति में पट्टेदार पट्टाकर्ता से प्रीमियम की रकम को वापस पाने का अधिकारी होगा। यह प्रसंविदा कि पट्टेदार को सम्पत्ति के शान्तिपूर्ण उपभोग का अधिकार प्राप्त होगा प्रत्येक पट्टे की संविदा में अन्तर्विष्ट होता है, किन्तु वह प्रत्यक्षतः इससे सम्बन्धित नहीं है। इसका अभिप्राय यह है कि पट्टेदार को सम्पत्ति का कब्जा प्रदान किया जाएगा तथा वह क्षतिपूर्ति प्राप्त करने के लिए प्राधिकृत होगा। यदि उसके उपभोग में सारवान व्यवधान उत्पन्न किया जाता है तो या तो स्वयं पट्टाकर्ता के किसी कृत्य से या उसके अधीन दावा करने वाले किसी व्यक्ति के किसी फूल्य से। व्यवधान से मुक्ति हेतु वह प्रसंविदा होती है। उदाहरण के लिए, यदि पट्टा प्रदान करते समय पट्टाकर्ता ने यह अधिकार सुरक्षित रखे हुए है कि यह खनिजों की खुदाई करेगा और वह खुदाई इस प्रकार करता है कि जमीन धंस जाती है या जहाँ शिकार करने के लिए भूमि पट्टे पर दी गयी थी, पट्टाकर्ता जमीन पर एक भवन का इस प्रकार निर्माण करता है कि शिकार के लिए भूमि कम पड़ जाती है अथवा यह पट्टेदार को विवश करना चाहता है जिससे यह पट्टा सम्पत्ति छोड़ दे, और इस निमित्त यह मकान के दरवाजे एवं खिड़कियाँ निकाल लेता है अथवा पट्टेदार को लगातार धमकियों देता है या रास्ते में इस प्रकार अवरोध उत्पन्न करता है कि पट्टेदार का आना-जाना कठिन हो जाता है। ऐसे कृत्य पट्टा सम्पत्ति के उपभोग में सारवान व्यवधान उत्पन्न करते हुए माने जाएंगे। परन्तु यदि ऐसे कृत्य एक ऐसे व्यक्ति द्वारा किए जा रहे हैं जो अपने स्वतंत्र अधिकार एवं सार्वभौम हित के अन्तर्गत कर रहा है तो इसे व्यवधान नहीं माना जाएगा। धारा 108 (ग) के अन्तर्गत पट्टेदार को यह विकल्प प्राप्त है कि वह चाहे तो पट्टे को समाप्त कर सके या उसे बनाये रखे। यदि वह चाहे तो उसे शून्य घोषित करा सकेगा और यदि वह ऐसा निर्णय लेता है तो उसे सम्पत्ति का कब्जा पट्टाकर्ता को वापस करना होगा जैसा कि धारा 108 (घ) में अपेक्षित है। प्रस्तुत प्रावधान सार्वभौम उपयोग का है चाहे वह प्रावधान किसी क्षेत्र या इलाके में प्रवर्तित हो या नहीं। यह ध्यान देने योग्य तथ्य है कि इस प्रावधान में उल्लिखित शान्तिपूर्ण उपभोग की प्रसंविदा, पट्टाकर्ता या उसके अधीन माँग करने वाले व्यक्ति द्वारा पट्टेदार के कब्जे में व्यवधान उत्पन्न करने तक विस्तारित है।

गजाधर बनाम राममारु के मामले में मूल पट्टाकर्ता ने उपपट्टेदार को इस आधार पर थिएटर चलाने से मना कर दिया क्योंकि उसने पट्टे के पर्यवसान हेतु पट्टेदार को नोटिस दे दिया है तथा उप पट्टेदार थिएटर स्वामी से, अतिरिक्त रकम का भुगतान कर नवीन पट्टा प्राप्त कर ले। न्यायालय के मतानुसार पट्टाकर्ता को ऐसे किसी भी व्यक्ति द्वारा कारित सभी व्यवधानों के लिए उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकेगा चाहे यह व्यवधान या विघ्न कितना ही साशय या उपेक्षापूर्ण क्यों न हो। पट्टाकर्ता के दायित्व की कतिपय सीमा निर्धारित होनी चाहिए।

ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि इस प्रखण्ड को सशर्त रूप में उपबन्धित किया गया है। परन्तु इससे यह अर्थ नहीं निकाला जाना चाहिए कि किराये का वास्तविक पूर्विक भुगतान, पट्टेदार के शान्तिपूर्ण कब्जा एवं उपभोग के अधिकार की पूर्विक शर्त है। इसका अर्थ यह नहीं है कि यदि पट्टेदार किराया की किसी किस्त का भुगतान करने में विफल रहता है तो उसे सम्पत्ति से बेदखल कर दिया जाएगा यह सम्पत्ति का कब्जा धारण किए रहेगा तथा सम्पत्ति का उपभोग करता रहेगा।

मरम्मत कराने का अधिकार (धारा 108 (च)– यदि पट्टाकर्ता सूचना के पश्चात् युक्तियुक्त समय के अन्दर सम्पत्ति की मरम्मत करने में उपेक्षा करे जिसे करने के लिए वह आबद्ध है, तो पट्टेदार उसे स्वयं करा सकेगा तथा ऐसी मरम्मत का व्यय भाटक में से ब्याज सहित काट सकेगा या पट्टाकर्ता से अन्यथा वसूल कर सकेगा। उपबन्ध (च)

पट्टाकर्ता को केवल सूचना देने की बात करता है। पट्टेदार, पट्टाकर्ता को यह आदेश नहीं दे सकेगा कि वह सम्पत्ति की मरम्मत कराये पट्टाजनित सम्पत्ति की मरम्मत हेतु पट्टाकर्ता एवं पट्टेदार के बीच प्रत्यक्ष संविदा होनी आवश्यक है, अन्यथा पट्टाकर्ता, पट्टाधृत सम्पत्ति की मरम्मत कराने के लिए बाध्य नहीं है यदि पट्टा सम्पत्ति में कोई खराबी आयो है तो उस खराबी की सूचना पट्टेदार द्वारा पट्टाकर्ता को दी जानी आवश्यक है और इस सूचना के उपरान्त यदि पट्टाकर्ता मरम्मत कराने में उपेक्षा करता है तो मरम्मत का कार्य स्वयं पट्टेदार करा सकेगा।

इस अधिनियम के प्रयोजन हेतु श्रमरम्मत से अभिप्रेत है पट्टाजनित सम्पत्ति को उस प्रयोजन हेतु युक्तियुक्त बनाना जिसके लिए वह आशयित है। उदाहरण के लिए यदि भवन के छत से बारिश में पानी टपकता है तो यह आवासीय प्रयोजनों के लिए उपयुक्त नहीं है। इसी प्रकार दरवाजे निजता की सुरक्षा करने में असमर्थ हैं या मकान में पानी नहीं उपलब्ध हो पा रहा है तो वह भवन आवासोय प्रयोजन हेतु उपयुक्त नहीं है। किन्तु पट्टेदार द्वारा मरम्मत के नाम में वस्तु या सम्पत्ति में आमूल परिवर्तन नहीं किया जा सकता है। उदाहरण के लिए पट्टेदार इस उपबन्ध में प्रदत्त अधिकार का प्रयोग करते हुए खपरैल को छत को सीमेण्ट कांक्रीट की छत में परिवर्तित करने के लिए प्राधिकृत नहीं है। वह मरम्मत के नाम में टूटे खपरैल को नई खपरैल से प्रतिस्थापित करने हेतु हो प्राधिकृत है।

इसी प्रकार यदि पट्टेदार को म्यूनििसिपलटी ने यह आदेश दिया है कि वह परिसर में विद्यमान कुएँ को ढक दे तो उसे यह अधिकार नहीं होगा कि वह मिट्टी एवं कंकड़ से कुएँ को भर दे। यदि वह ऐसा करता है तो इसमें हुआ व्यय वह पट्टाकर्ता से नहीं प्राप्त कर सकेगा।

पट्टाकर्ता द्वारा मरम्मत न कराने का प्रभाव— यदि पट्टाकर्ता, पट्टेदार जाने पर युक्तियुक्त समय के अन्दर सम्पत्ति को मरम्मत कराने में उपेक्षा करता है, जिसे कराने के सूचना दिए लिए वह आबद्ध है तो पट्टेदार स्वयं वह मरम्मत करा सकेगा और ऐसी मरम्मत में हुआ व्यय, ब्याज सहित पट्टाकर्ता को देय किराया में से काट सकेगा या अन्यथा उससे वसूल कर सकेगा। पट्टेदार पट्टा को समाप्त कराने के लिए प्राधिकृत नहीं है। मरम्मत न कराने के आधार पर पट्टे का समापन वहाँ भी नहीं हो सकेगा जहाँ पर पट्टाकर्ता ने मरम्मत कराने की वचनबद्धता दी है। परन्तु पट्टेदार के अनुरोध पर अपने वचन का पालन करने में विफल रहता है। पट्टेदार का केवल यह अधिकार है कि वह मरम्मत का कार्य स्वयं कराकर, मरम्मत में हुए व्यय को या तो देय किराया में से काट ले पट्टाकर्ता से अन्यथा प्राप्त करे पट्टेदार को यह साबित करना होगा कि मरम्मत का जो कार्य कराया गया था वह सम्पत्ति के युक्तियुक्त उपयोग के लिए आवश्यक थाय वह सुख का साधन नहीं था।

पट्टेदार द्वारा पट्टाकर्ता के एवज में संदाय (धारा 108 (छ))— यह उपबन्धित करता है कि यदि पट्टाकर्ता ऐसा संदाय करने में उपेक्षा करे जिसे करने के लिए वह आबद्ध है जो यदि उस द्वारा न किया जाता तो पट्टेदार से या उस सम्पत्ति से वसूला जाता, तो पट्टेदार ऐसा स्वयं कर सकेगा और उस रकम को उस भाटक या किराया में से ब्याज सहित काट सकेगा या पट्टे से अन्यथा वसूल कर सकेगा अर्थात् यदि पट्टाकर्ता के दायित्वों का निर्वहन पट्टेदार करता है तो उसे वह रकम पाने का पूर्ण अधिकार है जो उसने पट्टाकर्ता के एवज में अदा किया था।

रकम की वसूली पट्टाकर्ता से कर सकेगा या तो किराये की रकम में से उक्त रकम को काटकर या पट्टाकर्ता से अन्यथा वसूल कर जैसी कि दोनों के बीच सहमति हो।

भूबद्ध वस्तुओं को हटाने का अधिकार (धारा 108 (ज)) — यह उपबन्ध सुस्पष्ट करता है कि पट्टे के खत्म होने के पश्चात् किसी भी समय, परन्तु केवल तब तक जब तक कि पट्टेदार का पट्टे की सम्पत्ति पर कब्जा है, उन सब वस्तुओं को जो उसने भूबद्ध की है, हटा सकेगा, परन्तु यह आवश्यक होगा कि पट्टेदार इस कार्य के बावजूद भी सम्पत्ति को उसी अवस्था में छोड़ें, जिसमें उसने उसे प्राप्त किया था।

भू-बद्ध वस्तुओं से अभिप्रेत है—

(1) भूमि में मूलित जैसे पेड़ और झाड़ियाँ

(2) भूमि में निविष्ट जैसे भित्तियाँ या निर्माण, अथवा

(3) ऐसी निविष्ट वस्तु से इसलिए बद्ध कि जिससे वह बद्ध है, उसका स्थायी लाभप्रद उपयोग किया जा सके। पट्टेदार पट्टे को सम्पत्ति के पश्चात् परन्तु सम्पत्ति का कब्जा सौंपने से पूर्व ऐसी सभी वस्तुओं को हटाने का अधिकारी है। पट्टेदार को परिसर में प्रवेश करने तथा वस्तुओं को हटाने से इस आधार पर नहीं रोका जा सकेगा कि पट्टे का पर्यवसान हो गया है। यह उपबन्ध भूमि से सम्बन्धित नियम जो कुछ भी भूमि से संबद्ध है वह भूमि का अंश है तथा उन्हीं अधिकारों से प्रभावित होगा जिससे भूमि स्वयं प्रभावित है। भू-बद्ध वस्तुओं के सम्बन्ध में, जैसा कि धारा 108 (ज) में उल्लिखित है, स्थिति को उच्चतम न्यायालय ने रतन लाल जैन बनाम उमा शंकर के वाद में सुस्पष्ट किया है। न्यायालय के अनुसार धारा 108 खण्ड (ज) पट्टेदार को यह अधिकार देता है कि वह पट्टे के दौरान और यहाँ तक कि पट्टे के पर्यवसान के पश्चात् किसी समय जबकि सम्पत्ति का कब्जा उसके पास हो, परन्तु सम्पत्ति पर कब्जा समाप्त होने के पश्चात् नहीं, ऐसी सभी वस्तुओं को हटा ले जो उसने भूमि के साथ भू-बद्ध किया था तथा इसमें सम्मिलित है वह भवन भी जिसे उसने बनवाया था या खड़ा किया था पट्टाजनित भूमि पर, परन्तु यहाँ पट्टेदार का यह तत्प्रतिकूल स्थानीय प्रथा या संविदा के अध्यधीन है।

108 (ज) सपठित धारा 109 के अन्तर्गत पट्टेदार को केवल यह अधिकार प्राप्त है कि वह अपने द्वारा किए गये निर्माण को हटा ले जिससे कि निर्णीत भूमि का कब्जा पट्टाकर्ता को प्रदत्त किया जा सके। जहाँ तक ऐसे निर्माण के लिए प्रतिकर प्रदान करने का प्रश्न है वह बिल्कुल ही विचारणीय नहीं है, किन्तु यदि कोई तत्प्रतिकूल संविदा है तो धारा 108 (ज) का उपबन्ध प्रवर्तित नहीं होगा। एक प्रकरण में पट्टे की शर्तों में यह उपबन्धित था कि पट्टे के पर्यवसान पर परिसर पर खड़ा किया गया निर्माण कार्य पट्टाकर्ता का होगा जब तक कि पट्टेदार उन्हें पट्टे के पर्यवसान पर हटा नहीं लेता है या पर्यवसान के दो माह के अन्दर हटा नहीं लेता है तथा सभी देशों का भुगतान नहीं कर देता है एवं सभी शर्तों को पूर्ण नहीं कर देता है। पट्टे का पर्यवसान किराया का भुगतान न होने के कारण कर दिया गया और पट्टेदार, पट्टाकर्ता को सम्पत्ति का कब्जा देने पर सहमत हो गया। इन तथ्यों पर यह अभिनिर्णीत हुआ कि समस्त भूबद्ध वस्तुएँ पट्टाकर्ता की हैं। धारा 108 (ज) में वर्णित सिद्धान्त का लाभ उपपट्टेदार को भी प्राप्त है। एक पट्टेदार को अधिकार है कि वह अपने द्वारा किए गये अप्राधिकृत निर्माण को पट्टे के पर्यवसान पर हटा ले तथा पट्टाकर्ता को सम्पत्ति उसी स्थिति में लौटा दे जिस स्थिति में पट्टाकर्ता में सम्पत्ति उसे हस्तान्तरित किया था।

फसल हटाने का अधिकार (धारा 108 (झ))— यदि एक अनिश्चित कालावधि का पट्टा जैसे वर्षानुवर्षी पट्टे पट्टेदार के व्यतिक्रम के सिवाय किसी अन्य कारण द्वारा पर्यवसित कर दिया जाता है, तब वह या उसका विधिक प्रतिनिधि पट्टेदार द्वारा रोपित या बोई गयो तथा उस भूमि पर उगी हुई कुल फसलों को एकत्रित करने एवं ले जाने के लिए अबाध रूप से आने-जाने का अधिकार होगा। इस उपबन्ध के प्रावधान इसी अधिनियम की धारा 51 में वर्णित प्रावधान के अनुरूप जिसका उद्देश्य सदभावयुक्त अन्तरितों के हितों को संरक्षण देना है। जहाँ सम्पत्ति कब्जा प्राप्त करने हेतु संस्थित बाद में यह आदेश पारित हुआ कि यदि वादी एक निश्चित तिथि से पूर्व एक अभिनिश्चित रकम प्रतिवादी के पास जमा नहीं कर देता है तो सम्पत्ति का कब्जा प्रतिवादी के पास बना रहेगा। वादी रकम जमा करने में विफल रहा। ऐसी स्थिति में प्रतिवादी ने उक्त भूमि पर फसल उगा दिया। इसी दौरान वादी ने रकम जमाकर कब्जे की माँग की। यह अभिनिर्णीत हुआ कि प्रतिवादी को इस उपबन्ध का लाभ प्राप्त होगा। वादी यह माँग नहीं कर सकेगा कि प्रतिवादी उसे सम्पत्ति के कब्जा के साथ ही साथ फसलों पर भी अधिकार उसे सौंप दे अथवा फसलों का मूल्य उसे प्रदान करे।

हित अन्तरित करने का अधिकार (धारा 108 (अ))— यह उपबन्ध पट्टेदार को महत्वपूर्ण अधिकार प्रदान करता है। इसके अनुसार पट्टेदार पट्टा सम्पत्ति में अपने पूर्ण हित को या उसके भाग को आत्यन्तिक रूप से अथवा बंधक या उपपट्टे द्वारा अन्तरित कर सकेगा और ऐसे हित को भाग का अन्तरिती उसे पुनः अन्तरित कर सकेगा। पट्टेदार का मात्र ऐसे अन्तरण के फलस्वरूप पट्टे से संलग्न दायित्वों में से किसी के अध्यक्षीन रहना प्रविरत न हो जाएगा। उस उपबन्ध में प्रदत्त अन्तरण का अधिकार निम्न परिस्थितियों में प्रवर्तित नहीं होगा।

(1) पट्टेदार के पास अनन्तरणीय धारणाधिकार है।

(2) मालगुजारी न दे पाने वाले काश्तकार का उक्त काश्त में निहित हित

(3) कोर्ट ऑफ वार्ड्स के प्रबन्धन में स्थित सम्पत्ति के पट्टाग्राही का हित । इस सम्बन्ध में यह महत्वपूर्ण है कि पट्टे के समापन के पश्चात् सम्पत्ति का कब्जा वापस पट्टाकर्ता को सौंपने का दायित्व पट्टेदार पर होता है। यह दायित्व किसी अन्य व्यक्ति पर नहीं होता है क्योंकि अन्य व्यक्ति पर नहीं होता है क्योंकि अन्य व्यक्ति से पट्टाकर्ता को संविदा की सनिकटता नहीं होती है।

अतः संव्यवहार पट्टाकर्ता एवं पट्टेदार के बीच ही होना चाहिए। परन्तु यदि पट्टाकर्ता इस बात पर सहमत हो जाए। कि वह अन्य व्यक्ति अर्थात् उपपट्टेदार समनुदेशिती को मूल पट्टेदार के रूप में स्वीकार कर लेगा तो मूल पट्टेदार अपने दायित्व से मुक्त हो जाएगा।

सम्पत्ति अन्तरण अधिनियम, 1882 की धारा 10 में वर्णित प्रावधान के अध्यक्षीन पट्टेदार को सम्पदा के साधारण अनुक्रम में उसे अन्तरित करने की अनुमति प्रदान की गयी है। जब तक कि कोई ऐसी प्रसंविदा न हो जो पट्टेदार के अधिकारों को सीमित करती है, स्थायी पट्टे के प्रकरण में पट्टेदार का अधिकार अन्तरणीय एवं उत्तराधिकार में प्राप्त दोनों ही हैं। आत्यन्तिक अन्तरण के फलस्वरूप पट्टेदार पट्टा सम्पत्ति में अपना सम्पूर्ण हित हस्तान्तरित कर देता है एवं इस प्रक्रिया द्वारा पट्टाकर्ता एवं अन्तरितों के बीच सम्पदा को सनिकटता सृजित हो जाती है जिसके फलस्वरूप नवीन अन्तरितो तथा पट्टाकर्ता के बीच संबंध स्थापित हो जाता है एवं अन्तरिती भूमि के साथ चलने वाली प्रसंविदाओं जिसमें किराया या भाटक के भुगतान की प्रसंविदा भी सम्मिलित रहती है, के फलस्वरूप पट्टाकर्ता के प्रति दायी हो जाता है। प्रस्तुत उपबन्ध भले ही पट्टेदार को उपपट्टा सृजित करने हेतु प्राधिकृत करता है। यदि वह पट्टाकर्ता को पूर्वानुमति लिए बिना सम्पत्ति का अन्तरण करता है एवं इस आधार पर यदि पट्टाकर्ता पट्टेदार की बेदखली हेतु प्रक्रिया प्रारम्भ करता है तो वह (पट्टेदार) यह बचाव नहीं ले सकेगा कि उसे धारा 108 (अ) के अन्तर्गत सम्पत्ति का अन्तरण करने का अधिकार है। पट्टे को शेष बची अवधि के लिए आत्यन्तिक रूप में किए गये उपपट्टे द्वारा अन्तरण शेष अवधि हेतु समनुदेशन नहीं होगा, केवल एक उपपट्टा होगा तथा यह समनुदेशन के विरुद्ध प्रसंविदा का उल्लंघन करता हुआ नहीं माना जाएगा।

उपपट्टेदार के अधिकार— चूंकि अधिनियम के अन्तर्गत उपपट्टे को अवैध नहीं घोषित किया गया है, अपितु पट्टेदार को अधिकार दिया गया है कि यदि वह चाहे तो उपपट्टा सृजित कर सकता है सम्पूर्ण सम्पत्ति का या उसके एक भाग का अतः उपपट्टेदार को पट्टेदार के अधीन कतिपय अधिकार प्राप्त होंगे।

साधारणतया पट्टेदार का उपपट्टा सृजित करने का अधिकार उसके तथा पट्टाकर्ता के बीच हुई आपसी सहमति पर निर्भर करती है, अतः केवल उन मामलों में जिनमें पट्टा करार में सम्पत्ति का उपपट्टा सृजित करने पर कोई विशिष्ट निषेध है और इस निषेध की उपेक्षा कर अप्राधिकृत उपपट्टा सृजित किया जाता है तो ऐसी स्थिति में पट्टाकर्ता पट्टा के जब्तीकरण की कार्यवाही कर सकेगा। सम्पत्ति विधि का यह एक मान्य सिद्धान्त है कि कोई भी व्यक्ति अपने से उत्तम हित जो उसे सम्पत्ति में प्राप्त है, अन्तरित नहीं कर सकता है। अतः एक निश्चित कालावधि का अन्तरितो उपपट्टेदार को अपने से अधिक अवधि का पट्टा नहीं कर सकेगा। अतः यदि उपपट्टा विलेख में किसी अवधि का उल्लेख नहीं हुआ है तो इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जाएगा कि उपपट्टा स्थायी प्रकृति का पट्टा है। केवल यह निष्कर्ष निकाला जाएगा कि उपपट्टा मूल पट्टे की अवशिष्ट अवधि के लिए सृजित किया गया है।

सम्पदा की सन्निकटता— जब पट्टेदार का रेन्ट अदा करने का दायित्व सम्पदा को सन्निकटता पर आधारित होता है, तो यह दायित्व उस क्षण समाप्त हो जाता है जब यह हित किसी अन्य व्यक्ति को अन्तरित कर दिया जाता है। परन्तु जहाँ तक मूल पट्टेदार का सम्बन्ध है, उसका दायित्व समनुदेशन के कारण समाप्त नहीं होता है।

उसका दायित्व केवल तभी समाप्त होता है जब समनुदेशन को पट्टाकर्ता द्वारा प्रत्यक्ष परोक्ष रूप में पट्टेदार के रूप में स्वीकार कर लिया जाए अन्यथा पट्टेदार एवं समनुदेशिनी दोनों के विरुद्ध बेदखली हेतु वाद संस्थित किया जा सकेगा। एक पट्टे के समनुदेशिनी का किराया भुगतान का दायित्व सम्पदा की सन्निकटता के फलस्वरूप उत्पन्न होता है और यह सन्निकटता सम्पत्ति के अन्तरण के फलस्वरूप उत्पन्न होती है न कि कहा प्राप्त करने के कारण समनुदेशिनी यदि अपना हित एक अन्य व्यक्ति के पक्ष में अन्तरित करता है, तो उसकी सम्पदा को सन्निकटता समाप्त हो जाएगी परिणामतः समनुदेशन के पश्चात् प्रसंविदा का उल्लंघन होने की दशा में उसका कोई दायित्व नहीं होगा। एक पट्टाधृत सम्पत्ति का बन्धको जिसने अन्य बंधकियों के हितों के जब्तीकरण द्वारा प्राप्त कर लिया है वह पट्टाकर्ता को किराया अदा करने के दायित्वाधीन है क्योंकि ऐसे मामले में पट्टेदार तथा बन्धकी दोनों के सम्पूर्ण हित विधि के प्रवर्तन द्वारा एक व्यक्ति अर्थात् बन्धकी में विलीन हो है। यदि पट्टेदार पट्टा सम्पत्ति की शर्तों का उल्लंघन कर बन्धक सृजित करता है तथा भू-स्वामी जब्ती (समपहरण) के आधार पर बेदखली हेतु डिक्री प्राप्त कर लेता है, तो बन्धकी, चूँकि वह समनुदेशिनी नहीं है, यह नहीं कह सकेगा कि धारा 111 (छ) के अन्तर्गत दी गयी नोटिस वैध नहीं है या पट्टे की शर्तों का उल्लंघन नहीं हुआ है। यदि पट्टेदार से सम्पत्ति का कब्जा प्राप्त करने वाला व्यक्ति पूर्णतया अतिचारी है तथा उसके एवं पट्टेदार के बीच किसी भी प्रकार की सन्निकटता नहीं है तो न्यायालय कब्जा हेतु पट्टाकर्ता के पक्ष में डिक्री पारित कर सकेगा पर अन्य मामलों में जिनमें कब्जाधारी, पट्टेदार द्वारा किए गये अन्तरण के फलस्वरूप कब्जाधारी है, तो कब्जा हेतु पट्टाकर्ता के पक्ष में डिक्री पारित नहीं होगी जब तक कि पट्टेदार द्वारा परित्याग न साबित हो जाए।

प्रश्न न० 8— दान से आपका क्या तात्पर्य है? कब दान निलम्बित या प्रतिसंहत किया जा सकता सकेगा। स्पष्ट कीजिए।

उत्तर— संपत्ति अंतरण अधिनियम के अंतर्गत जिस प्रकार विक्रय, पट्टा, विनिमय संपत्ति का अंतरण के माध्यम है इसी प्रकार संपत्ति के अंतरण का एक माध्यम दान भी होता है। दान के माध्यम से भी किसी संपत्ति का अंतरण किया जा सकता है। दान से संबंधित प्रावधान संपत्ति अंतरण अधिनियम के अंतर्गत यथेष्ट रूप से दिए गए हैं। संपत्ति अंतरण अधिनियम की धारा 122 दान संबंधित प्रावधानों को प्रस्तुत करती है। इस आलेख के अंतर्गत इसी धारा पर व्याख्या प्रस्तुत की जा रही तथा दान की परिभाषा पर प्रकाश डाला जा रहा है।

दान— किसी वर्तमान जंगम या स्थावर सम्पत्ति का वह अन्तरण है जो एक व्यक्ति द्वारा, जो दाता कहलाता है, दूसरे व्यक्ति को जो आदाता कहलाता है स्वेच्छया और बिना प्रतिफल के किया गया हो और आदाता द्वारा या उसकी ओर से प्रतिगृहीत किया गया हो। यह एक स्वैच्छिक एवं प्रतिफल रहित संव्यवहार है जो तत्समय जीवित दो व्यक्तियों के बीच पूर्ण होता है तथा आत्यन्तिक प्रकृति का होता है।

(1)— दाता तथा आदाता के बीच सहमति हो कि दान किसी विनिर्दिष्ट घटना होने पर निलम्बित या प्रतिसंहत हो सकेगा।

(2)— ऐसी घटना दाता की इच्छा पर निर्भर न हो के घटित।

(3)— दाता तथा आदाता ने दान स्वीकार करते समय ही शर्त पर अपनी सहमति व्यक्त किया हो।

(4)— अधिरोपित शर्त अवैध या अनैतिक न हो एवं दान के द्वारा सृजित संपदा के प्रतिकूल न हो।

यह ध्यान रखना अति आवश्यक है कि धारा 126 धारा 10 द्वारा विनियमित होती है। अतः दान विलेख में अन्तर्विष्ट कोई खण्ड दान की विषयवस्तु के अन्तरण पर पूर्णरूपेण प्रतिबन्ध लगाता हो तो अन्तरण धारा 10 में उल्लिखित उपबन्ध के आलोक में शून्य होगा।

दान मात्र दाता की इच्छा पर प्रतिसंहरणीय नहीं है, क्योंकि ऐसी स्थिति में दान देने वाला व्यक्ति कभी भी उसे वापस ले सकेगा फलतः वैध एवं स्थायी दान का सृजन नहीं हो सकेगा। यदि शर्त या घटना का घटित होना दाता की इच्छा पर निर्भर नहीं है तो उसका निलम्बन या प्रतिसंहरण हो सकेगा।

ठाकुर रघुनाथ जी महाराज बनाम रमेश चन्द्र के वाद में भूमि का एक शर्त रहित दान, दान विलेख द्वारा किया गया, पर दान विलेख पर ही दाता एवं आदाता के बीच लिखित संविदा हुई जिसके अनुसार यह प्रसंविदा की गयी थी कि यदि आदाता भूमि का कब्जा प्राप्त करने के उपरान्त छः मास की विनिर्दिष्ट अवधि के अन्दर उस पर कालेज के निर्माण की कार्यवाही नहीं करता है तो दाता उक्त सम्पत्ति का कब्जा प्राप्त करने हेतु उपयुक्त कार्यवाही कर सकेगा।

इन तथ्यों के आधार पर उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्णीत किया कि दान आत्यन्तिक नहीं था अथवाध्या शर्त रहित दान विलेख एवं करार जो ही संव्यवहार के घटक हैं, एक साथ पढ़ा जाना चाहिए एवं तदनुसार उन्हें प्रभावी बनाया जाना चाहिए। दान शर्त के अधधीन था। अतः शर्त के अनुसार कार्यवाही न होने की दशा में दान का प्रतिसंहरण दाता कर सकेगा।

दान कब प्रतिसंहरित हो सकेगा— इस धारा का पैराग्राफ 2 इस प्रकार उपबन्धित करता है—

“उन दशाओं में से प्रतिफल के अभाव या असफलता की दशा को छोड़कर किसी भी दशा में प्रतिसंहरित किया जा सकेगा जिनमें कि यदि वह संविदा होता तो विखण्डित किया जा सकता है।” उपरोक्त पैराग्राफ से यह निष्कर्ष निकलता है कि जिन आधारों पर संविदा, संविदा अधिनियम, 1872 के अन्तर्गत विखण्डनीय हैं, उन्हीं आधारों पर दान भी विखण्डनीय होगा। संविदाएं संविदा अधिनियम, 1872 के अन्तर्गत प्रपीड़न, असम्यक् प्रभाव, कपट, भूल एवं मिथ्या व्यपदेशन आदि के आधार पर विखण्डनीय हैं अतः इस धारा अर्थात् धारा 126 पैराग्राफ 2, सम्पत्ति अन्तरण अधिनियम का अनुगमन करते हुए यह कहा जा सकेगा कि दान भी प्रपीड़न, असम्यक् प्रभाव, मिथ्याव्यपदेशन, कपट या भूल के आधार पर प्रतिसंहरित हो सकेगा। यह साबित करने का भार कि दान उपरोक्त में से किसी भी एक आधार पर प्रतिसंहरणीय है उस व्यक्ति पर होता है जो उस दान को रद्द कराना चाहता है। यदि मात्र विधि की भूल है तो यह आधार दान के प्रतिसंहरण हेतु पर्याप्त आधार नहीं होगा। यदि दाता एवं आदाता के बीच यजमान एवं पुरोहित का सम्बन्ध था तथा दाता अपने खराब स्वास्थ्य के कारण अपनी समस्त सम्पत्ति अपने पुरोहित के पक्ष में दान कर देता है जो एक प्रभावशाली व्यक्ति था जिसका प्रभाव दाता पर भी था इस स्थिति में यह साबित करने का भार कि दाता संव्यवहार के विधिक प्रभाव को समझता था प्रभावशाली आदाता पर होगा और यदि वह अपने इस दायित्व का निर्वहन करने में विफल रहता है तो दान रद्द कर दिया जाएगा। इस मामले में दान न्यायालय द्वारा रद्द कर दिया गया था। यदि एक मुवकिल अपनी सम्पत्ति त्वरित आवेग में आकर अपने वकील की पत्नी के पक्ष में अन्तरित करता है तो यह अन्तरण रद्द किए जाने योग्य नहीं होगा। **राम चन्दर बनाम शीतल प्रसाद** के वाद में एक विभिन्न स्थिति उत्पन्न हुई थी। एक पिता ने अपनी समस्त सम्पत्ति एक ऐसे व्यक्ति के पक्ष में दान द्वारा अन्तरित किया जो उसको पुत्री का प्रेमी था। प्रेमी भी उसी घर में निवास कर रहा था जिसमें पिता एवं पुत्री निवास कर रहे थे। इस परिस्थिति में न्यायालय को यह विचार करना था कि पिता द्वारा किया गया दान क्या वैध था?

न्यायालय ने समस्त परिस्थिति के अवलोकन कर मामले को इस प्रकार अभिव्यक्त किया—

1. पुत्री तथा उसका प्रेमी जो आदाता था, दाता पिता की इच्छा को प्रभावित करने की स्थिति में थे।
2. दाता द्वारा अपनी समस्त सम्पत्ति पुत्री के हित की उपेक्षा कर आदाता को देना संव्यवहार को अन्तःकरण के विरुद्ध बनाता है।
3. उपरोक्त वर्णित दोनों स्थितियाँ संयुक्त रूप में इस उपधारणा को जन्म देती हैं कि दान विलेख असम्यक् प्रभाव के अन्तर्गत अस्तित्व में आया। अतः यह अभिनिर्णीत हुआ कि दाता संव्यवहार को रद्द करा सकेगा। जब तक दाता को अपने अधिकार का ज्ञान नहीं होता है तथा दान असम्यक् प्रभाव से मुक्त है तब तक दान के प्रति अपनी मंशा अभिव्यक्त करना या उसे अनुमोदित करना दाता के लिए सम्भव नहीं होगा।

असम्यक् प्रभाव या कपट के आधार पर दान का प्रतिसंहरण— असम्यक् प्रभाव या कपट का दो जीवित व्यक्तियों के बीच हुए दान के संव्यवहार पर वही प्रभाव पड़ता है जो इसका प्रमुख संविदा के मामले में होता है। अतः इस आधार पर दान को रद्द कराने वाले व्यक्ति को संविदा अधिनियम की धारा 16 (1) में उल्लिखित परिस्थितियों को अभिवाचित करना होगा एवं उसे साबित भी करना होगा सबूत का भार आदाता पर टालने के लिए, उसमें उल्लिखित दोनों ही शर्तों को सन्तुष्ट करना होगा। इस सन्दर्भ में तीन बिन्दुओं पर विचार करना होगा।

- (1) यह कि क्या वादी या असम्यक् प्रभाव के आधार पर उपचार माँगने वाला व्यक्ति साबित कर चुका है कि दोनों के बीच इस प्रकार सम्बन्ध थे कि उनमें से एक दूसरे की इच्छा को प्रभावित करने की स्थिति में था।
- (2) यह कि क्या प्रभाव, असम्यक् प्रभाव के तुल्य हैं, जिसके कारण संव्यवहार अन्तःकरण के विरुद्ध था।
- (3) यह कि असम्यक् प्रभाव डालने वाले व्यक्ति को यह साबित करना होगा कि उसने असम्यक् प्रभाव नहीं डाला था।

अजमेर सिंह बनाम आत्मा सिंह के वाद में एक वृद्ध व्यक्ति ने जिसकी दृष्टि भी क्षीण हो गयी थी अपने द्वारा अपने पुत्र के पक्ष में सृजित दान विलेख के निरस्तीकरण हेतु इस आधार पर वाद संस्थित किया कि उसने स्वेच्छया वह सम्पत्ति दान में अन्तरित नहीं किया था। परिस्थितियों से यह प्रकट था कि वादी ने स्वेच्छया दान नहीं किया था। प्रतिवादी आदाता ने उसकी मंशा को प्रभावित किया क्योंकि वह ऐसा करने की स्थिति में था। ऐसी स्थिति में यह साबित करने का मात्र आदाता पर था कि दान स्वेच्छया किया गया था ऐसा साबित न होने पर दान शून्य घोषित कर दिया गया। एक अन्य प्रकरण में यह आरोप लगाया गया था कि दान एक पर्दानशीन स्त्री से कपट का सहारा लेकर प्राप्त किया गया था। वादी जो एक पर्दानशीन स्त्री थी, उससे उस संव्यवहार का ज्ञान नहीं था तथा उसके साथ कपट कर उससे दान कराया गया। यदि वह स्त्री कपट साबित करने में असमर्थ रहती है तो भी आदाता को साबित करना होगा कि उस स्त्री के साथ कपट नहीं किया गया।

कब दान का प्रतिसंहरण नहीं हो सकेगा— दान का कब प्रतिसंहरण हो सकेगा, उन परिस्थितियों का उल्लेख धारा 126 के पैरा 1 एवं 2 में किया गया है। पैरा तीन सुस्पष्ट करता है कि दान अन्यथा प्रतिसंहरणीय नहीं है। अतः

यदि इस धारा के पैरा 1 एवं 2 में वर्णित परिस्थितियों के अतिरिक्त किसी अन्य परिस्थिति में दान का प्रतिसंहरण करने का प्रयास किया जा रहा है तो दान का प्रतिसंहरण नहीं हो सकेगा। अतः एक दान का प्रतिसंहरण, जो पूर्णरूपेण दाता की मंशा पर निर्भर हो, प्रतिसंहृत कर ले, ऐसा नहीं हो सकेगा क्योंकि दान द्वारा सम्पत्ति का अन्तरण जैसे ही संव्यवहार पूर्ण होता है अन्तिम एवं बाध्यकारी हो जाता है। एक बार दान का संव्यवहार पूर्ण होने के बाद, दाता इस आधार पर उसका प्रतिसंहरण नहीं कर सकेगा कि उसने त्रुटिवश अन्तरण किया था अथवा उसने सोचा था कि आदाता उसका अन्तिम संस्कार या मृत्यु संस्कार पूर्ण करेगा। यदि दान का संव्यवहार पूर्ण होने के उपरान्त दाता का विचार आदाता के प्रति बदल जाता है अथवा दाता का नजरिया आदाता के प्रति बदल जाता है तो भी वह दान का प्रतिसंहरण नहीं कर सकेगा। यदि दावा ने असम्यक् प्रभाव के अन्तर्गत दान दिया था इसके बावजूद उसने बाद में दान हेतु अपनो सम्पत्ति व्यक्त कर दी तो सम्पत्ति देने के बाद वह दान को चुनौती नहीं दे सकेगा। दान का प्रतिसंहरण तब भी नहीं हो सकेगा जब दाता यह अभिकथन कर रहा हो कि बिना सम्यक् विचार किए और अपनी मूर्खतावश उसने अचल सम्पत्ति का अन्तरण कर दिया था।

हिन्दू एवं मुस्लिम वैयक्तिक विधि के अन्तर्गत दान का प्रतिसंहरण— दान के प्रतिसंहरण के सम्बन्ध में हिन्दू वैयक्तिक विधि सुस्पष्ट है। एक बार वैध दान का सृजन होने के उपरान्त उसका प्रतिसंहरण केवल तभी हो सकेगा जब यह साबित हो जाए दान स्वेच्छया नहीं निष्पादित किया गया था: अपितु असम्यक् प्रभाव अथवा कपट के कारण यह अस्तित्व में आया था। यदि दान के संव्यवहार पर असम्यक् प्रभाव के कारण प्रश्नचिह्न लगाया गया है तो पक्षकारों के वैयक्तिक सम्बन्धों पर सर्वप्रथम विचार होना चाहिए।

प्रश्न न० 9—पट्टे की परिभाषा कीजिए तथा इसके आवश्यक तत्वों की विवेचना कीजिए।

उत्तर— धारा 105 पट्टा को परिभाषित करती है। एक आंशिक अन्तरण के रूप में अर्थात् कतिपय कालावधि के लिए उपभोगों के अधिकार का अन्तरण इस धारा के अनुसार अचल या स्थावर सम्पत्ति का पट्टा से अभिप्रेत है। ऐसी सम्पत्ति का उपभोग करने के अधिकार का अन्तरण जो किसी निश्चित अवधि के लिए भुगतान किए गये या भुगतान का वचन दिए गये मूल्य, धन, फसलों के अंश अथवा आवधिक रूप में दिए जाने वाले मूल्य की किसी अन्य वस्तु के प्रतिफल में अन्तरितों द्वारा अन्तरक को विशिष्ट अवसरों पर दिया जाता है। साधारण शब्दों में कहा जा सकता है। कि पट्टादाता अपनी स्थावर या अचल सम्पत्ति के उपभोग का अधिकार पट्टाग्रहीता को हस्तान्तरित करता है तथा पट्टाग्रहीता इस अधिकार के बदले में पट्टाकर्ता को मूल्य प्रतिफल के रूप में या तो अदा करता है या अदा करने का वचन देता है। प्रतिफल मूल्य के रूप में फसलों के अंश के रूप में या किसी सेवा के रूप में या किसी अन्य मूल्यवान वस्तु के रूप में जो कालावधीय रूप में या विनिर्दिष्ट अवसरों पर अन्तरिती द्वारा अन्तरक को दी जाती है या दी जानी है। पट्टा का महत्वपूर्ण पक्ष यह है कि इसमें स्वामित्व एवं कब्जा को पृथक्-पृथक् कर दिया जाता है। उपभोग का अधिकार पट्टाग्रहीता को मिलता है जिसके लिए सम्पत्ति का कब्जा मिलना आवश्यक है, जबकि स्वामित्व का अधिकार, अन्तरक में ही बना रहता है। चूँकि अन्तरक सम्पत्ति में अपना सम्पूर्ण हित अन्तरित अर्थात् पट्टाग्रहीता को अन्तरिती नहीं करता है, जो कुछ उसके पास अवशिष्ट रूप में बचा रहता है उसे 'राइट ऑफ रिवर्सन' कहा जाता है। यह राइट ऑफ रिवर्सन पट्टाकर्ता का महत्वपूर्ण अधिकार होता है जिसके माध्यम से वह पट्टाग्रहीता को प्रदत्त सम्पत्ति वापस पाने का अधिकारी होता है और उसका विखण्डित स्वामित्व पुनः सम्पूर्ण हो जाता है।

पट्टा के आवश्यक तत्व— पट्टा के निम्न आवश्यक तत्व माने जाते हैं—

1. पक्षकार— एक सामान्य करार की भाँति, पट्टा में भी दो पक्षकार होते हैं तथा उन्हीं के बीच हुए करार से पट्टे का सृजन होता है। एक व्यक्ति सम्पत्ति का स्वामी होता है जिसे पट्टाफत या लेसरे कहा जाता है, जिससे दूसरा व्यक्ति उस सम्पत्ति को एक अवधि के लिए प्रतिफल या रेंट पर लेने का प्रस्ताव करता है। प्रस्तावक को पट्टाग्रहीता या 'लेसी' कहा जाता है। दोनों पक्षकारों को क्रमशः लैण्डलार्ड एवं टेनेन्ट भी कहा जाता है। पट्टाकर्ता के लिए यह आवश्यक है कि वह संविदा अधिनियम, 1872 में संविदा के पक्षकारों हेतु उल्लिखित समस्त अर्हताओं से युक्त हो, जैसे, उसे वयस्क होना चाहिए, मानसिक रूप से स्वस्थ होना चाहिए सम्पत्ति उसकी होनी चाहिए एवं अन्य वैधानिक क्षमताओं से वह युक्त हो तथा प्रतिबन्धों से मुक्त हो। सम्पत्ति पट्टाकर्ता की होनी चाहिए। इस पद से यह अभिप्रेत है कि पट्टाकर्ता सम्पत्ति का स्वामी हो अथवा सम्पत्ति के स्वामी द्वारा इस निमित्त प्राधिकृत हो। यदि पट्टा सम्पत्ति के स्वामी द्वारा किया जा रहा है जो किसी अनर्हता से प्रभावित नहीं है तो पट्टा किसी भी कालावधि के लिए जिसे पट्टाकर्ता उपयुक्त समझे सृजित किया जा सकेगा। किन्तु यदि पट्टा ऐसे व्यक्ति द्वारा किया जा रहा है जो स्वयं सम्पत्ति का स्वामी नहीं है या सम्पत्ति में सीमित धारक है, जैसे जीवनकाल के लिए या एक निश्चित अवधि के लिए तो ऐसा व्यक्ति अपने धारणाधिकार के अन्तर्गत हो सम्पत्ति का पट्टा कर सकेगा जब तक कि वह अन्यथा विशिष्टतः प्राधिकृत न हो इस सिद्धान्त के अन्तर्गत पट्टा धारक भी सम्पत्ति का पट्टा करने के लिए प्राधिकृत है तथा उसके द्वारा किया गया पट्टा, उपपट्टा या अधीनस्थ पट्टा कहलाता है।

एक वसीयती संरक्षक, वसीयत की शर्तों के अधधीन पट्टा प्रदान करने के लिए प्राधिकृत है तथा प्रशासक या निष्पादक, भारतीय उत्तराधिकार अधिनियम, 1925 की धारा 307 की परिसीमा के अन्तर्गत पट्टा प्रदान करने के लिए प्राधिकृत है। एक अवयस्क, अपने दूसरे मित्र, जो वयस्क है, के माध्यम से पट्टा का सृजन कर सकता है, जिसमें ऐसी शर्तें हो सकती हैं, जो अवयस्क को कतिपय कार्य करने के लिए बाध्य करती हों। ऐसा पट्टा शून्य नहीं होगा भले ही वह प्रसंविदा अवयस्क के विरुद्ध अप्रवर्तनीय हो। पट्टाग्रहीता पट्टा को समाप्त नहीं करा सकेगा। वह अवयस्क से प्रसंविदा का विशिष्ट अनुपालन भी नहीं करा सकेगा, परन्तु वह क्षतिपूर्ति पाने का अधिकारी होगा। एक अवयस्क

द्वारा किया गया पट्टा यदि शून्य होता है, फिर भी साम्या के साधारण सिद्धान्तों के अन्तर्गत न्यायालय को यह अधिकार प्राप्त है कि वह आदेश करे कि पट्टाग्रहीता को निष्काषित करने से पूर्व उसके द्वारा संदत्त प्रतिफल उसे वापस कर दिया जाए। अवयस्क के पक्ष में सम्पत्ति का अन्तरण जैसा कि अधिनियम की धारा 7 में उल्लिखित है, शून्य नहीं होता है। परन्तु यदि पट्टा अवयस्क के पक्ष में किया जाता है जिसमें ऐसी प्रसंविदाएँ हैं जिसे अवयस्क द्वारा पूर्ण किया जाना है तो पट्टा अवैध होगा। यदि पट्टा की शर्तों के अधीन प्रतिफल का प्रीमियम के रूप में भुगतान एकमुश्त कर दिया गया है और कोई भी प्रसंविदा बकाया नहीं है जिसे अवयस्क पट्टाग्रहीता द्वारा पूर्ण किया जाना है, तो ऐसा पट्टा वैध होगा।

राघवाचारियर बनाम श्रीनिवास राघव के वाद में न्यायमूर्ति श्री निवास आर्यंगर ने उन मामलों, जिनमें अन्तरण कतिपय वचनों या प्रसंविदाओं के प्रतिफलस्वरूप तथा उन मामलों में जिनमें अन्तरित सम्पत्ति स्वयं कतिपय दायित्वों से युक्त होती है, के बीच अन्तर सुस्पष्ट किया है। प्रथम स्थिति में अवयस्क के पक्ष में अन्तरण शून्य होगा जबकि बाद वाली स्थिति में शून्य नहीं होगा।

2. पट्टा की विषयवस्तु— सम्पत्ति अन्तरण अधिनियम के अन्तर्गत जिस वस्तु का पट्टा किया जा सकेगा उसे अचल या स्थावर सम्पत्ति होनी चाहिए। अचल या स्थावर सम्पत्ति किसे कहा जाएगा, इसका वर्णन अधिनियम की धारा 3 में किया गया है। इसके अनुसार स्थावर सम्पत्ति के अन्तर्गत खड़ाकाष्ठ, उगती फसलें या घास नहीं आती हैं। यह एक नकारात्मक परिभाषा है जिनमें उन वस्तुओं को सम्मिलित नहीं किया गया है, अर्थात् इनको छोड़कर शेष समस्त वस्तुएँ स्थावर सम्पत्ति हैं। परन्तु यह सत्य नहीं है। मेज, कुर्सी, बर्तन, मोटर इत्यादि स्थावर या अचल सम्पत्ति नहीं होंगे। अतः स्थावर या अचल सम्पत्ति को समझने के लिए हमें अन्य संविधियों जैसे रजिस्ट्रेशन अधिनियम, जनरल क्लाजेज अधिनियम माल विक्रय अधिनियम इत्यादि का भी सहारा लेना होगा। अचल या स्थावर सम्पत्ति चाहे वह मूर्त हो या अमूर्त, हो पट्टा की विषयवस्तु होगी। इन विभिन्न अधिनियमों में वर्णित परिभाषाओं के आधार पर कहा जा सकता है कि भूमि, भवन, भूमि से उद्भूत होने वाले प्रलाभ जैसे मछली पकड़ने का अधिकार नौकायन का अधिकार एक निश्चित कालावधि तक वृक्षों को काटने एवं ले जाने का अधिकार, बाजार से उद्भूत होने वाले शुल्क इत्यादि पट्टा की विषयवस्तु होंगे। वह वस्तु जिसके विषय में पट्टा का सृजन होगा या हो सकेगा, सुनिश्चित होनी चाहिए। उदाहरण के लिए यदि पट्टा के अन्तर्गत वस्तु को स्टोर करने का दायित्व सृजित हुआ है, परन्तु वस्तु को स्टोर करने के लिए कोई कक्ष अभिनिश्चित नहीं है अथवा कक्ष समय-समय पर परिसर के स्वामी की सुविधानुसार परिवर्तनीय है तो ऐसी स्थिति में पट्टा का सृजन हुआ नहीं माना जाएगा। परन्तु यदि परिसर स्पष्टतः अभिनिश्चित है, तो परिसर के उपभोग पर लगाया गया प्रतिबन्ध कितना हो क्लिष्ट क्यों न हो, पट्टा के सृजन को रोक नहीं सकेगा पट्टा सृजित हुआ माना जाएगा। भूमि अथवा जमीन सबसे महत्वपूर्ण वस्तु है जिसके सम्बन्ध में पट्टा का सृजन होता है। भूमि के सम्बन्ध में यह ध्यान रखना महत्वपूर्ण है कि भूमि को ऊपरी सतह के साथ-साथ सतह के नीचे को विभिन्न पतों का भी पट्टा किया जा सकेगा जैसे खनिजों एवं खदानों के सम्बन्ध में पट्टा। भूमि से सम्बन्धित विवेचना में 'भूबद्ध' वस्तुएँ भी सम्मिलित होती हैं।

'भूबद्ध' वस्तुओं से अभिप्रेत है—

(क) भूमि में मूलित, जैसे पेड़ एवं झाड़ियाँ। (ख) भूमि में निविष्ट जैसे भित्तियों या निर्माण।

(ग) ऐसी निविष्ट वस्तु से इसलिए बद्ध कि जिससे वह बद्ध है, उसका स्थायी लाभप्रद उपयोग किया जा सके।

भवन या उसका कोई भाग भी पट्टा को विषयवस्तु है। खदान का पट्टा—खदानों का पट्टा यद्यपि खान एवं खनिज (विनियमन एवं विकास) अधिनियम, 1957 के द्वारा विनियमित होता है और इस अधिनियम के अन्तर्गत शपट्टा की परिभाषा संकुचित एवं तकनीकी अर्थ में उस प्रकार नहीं प्रतिपादित की गयी है जिस प्रकार से शपट्टा की परिभाषा सम्पत्ति अन्तरण अधिनियम, 1882 की धारा 105 में दी गयी है। किन्तु खदानों के सम्बन्ध में होने वाली कोई भी व्यवस्था या समझौता भारत में शपट्टा ही माना जाता है। भूमि में खनन संक्रिया को जारी रखने का अधिकार धारा 105 सम्पत्ति अन्तरण अधिनियम के अर्थ के अन्तर्गत स्थावर सम्पत्ति के उपभोग का एक अधिकार है।

3. अन्तरण— पट्टा का सम्यवहार एक ऐसा संव्यवहार है जिसमें अन्तरण आंशिक होता है, आत्यंतिक नहीं। दूसरे शब्दों में सम्पत्ति पर अन्तरक एवं अन्तरिती दोनों का हो अधिकार होता है। दोनों में फर्क यह होता है कि सम्पत्ति का भौतिक कब्जा अन्तरितों के पास होता है जबकि स्वामित्वाधिकार अन्तरक के पास ही रहता है। सम्पत्ति का उपभोग, पट्टा की अवधि के दौरान अन्तरिती या पट्टाग्रहीता करता है जबकि अन्तरक अथवा पट्टाकर्ता तद् कालावधि में पट्टा के उपयोग के अधिकार से वंचित रहता है। इस प्रकार के संव्यवहार के लिए इंग्लिश विधि में डिमाइस शब्द का प्रयोग किया जाता है, जिसका अभिप्राय होता है आंशिक अन्तरण विशेषकर पट्टा द्वारा किया गया अन्तरण।

पट्टा की स्थिति सुस्पष्ट करते हुए कहा गया है— **बैरमजी भाय (प्रा०) लि० बनाम स्टेट ऑफ महाराष्ट्र** के वाद में अभिप्रेक्षित किया था कि— एक पट्टा अभिकल्पित करता है एक 'डिमाइस' की अथवा एक भूमि के उपभोग का अधिकार एक कालावधि के लिए या शाश्वतकाल के लिए किसी कीमत के, जो दे दी गयी हो या जिसे देने का वचन दिया गया हो अथवा धन या फसल के अंश या सेवा या किसी अन्य मूल्यवान वस्तु के, जो कालावधीय रूप से या विनिर्दिष्ट अवसरों पर अन्तरितों द्वारा अन्तरक को देय हो।

नार्ड बाबू बनाम लाला राम नारायण के वाद में लैण्ड लार्ड ने टेनेन्ट की बेदखली हेतु वाद संस्थित किया। वाद का अन्त एक समझौते के रूप में हुआ जिसमें टेनेन्ट सम्पत्तिमुक्त करने के लिए सहमत हो गया, पर दोनों के बीच यह सहमति भी बनी कि टेनेन्ट एक भाग में आने वाले पांच वर्षों तक निवास कर सकेगा। पाँच वर्ष की अवधि के

समापन पर लैण्ड लार्ड ने उक्त हिस्से का कब्जा प्राप्त करने हेतु विधिक कार्यवाही प्रारम्भ की जिसका विरोध टेनेन्ट ने किया। विवादित बिन्दु यह था कि क्या टेनेन्ट उक्त भाग का पट्टादार है। समस्त परिस्थितियों का अवलोकन करने के पश्चात् न्यायालय ने निर्णय दिया कि इस प्रकरण में किसी अंश के सम्बन्ध में पट्टा सृजित करने का कोई आशय नहीं था। अतः डिक्री के पंजीकरण का कोई प्रश्न नहीं है। पट्टाग्रहीता समझौते के अन्तर्गत सम्पत्ति का कब्जा सौंपने के दायित्वाधीन है।

4. कालावधि—कालावधि पट्टे का एक महत्वपूर्ण घटक है। शाश्वतता के लिए पट्टा का सृजन एक निश्चित कालावधि हेतु किया गया। यह कालावधि प्रत्यक्षतः या परोक्षतः निर्धारित होगी। पट्टा के प्रारम्भ होने की तिथि साधारणतया पट्टाकर्ता एवं पट्टाग्रहीता द्वारा आपसी करार के माध्यम से निर्धारित की जाती है, पर यदि किसी कारणवश या उदासीनता के फलस्वरूप तिथि का निर्धारण नहीं हुआ है जिससे पट्टा का प्रारम्भ हुआ माना जा सके, तो इस अधिनियम की धारा 110 के अन्तर्गत पट्टा निष्पादन की तिथि से प्रारम्भ हुआ माना जाएगा।

सेवक राम बनाम मेरठ म्यूनिसिपल बोर्ड के वाद में यह अभिनिर्णीत हुआ था कि ऐसा संव्यवहार पट्टा के रूप में शून्य होगा। परन्तु यह भी मत व्यक्त किया गया है कि ऐसा संव्यवहार यथेच्छ किरायादारी का सृजन करेगा जो किराया के भुगतान के पश्चात् वर्षानुवर्षी या मासानुमासी पट्टा में परिवर्तित हो जाएगा।

5. प्रतिफल पट्टा— यह एक संव्यवहार है जिसे वैध होने के लिए प्रतिफल की आवश्यकता होती है। प्रतिफल या तो प्रीमियम हो सकता है या रेंट या दोनों प्रीमियम तथा रेंट एक ही वस्तु नहीं है। प्रीमियम वस्तु के हस्तान्तरण का मूल्य या कीमत होता है जिसका भुगतान या तो कर दिया गया हो या करने का वचन दिया गया हो। इसके विपरीत रेंट पट्टाग्रहीता द्वारा किया गया कोई भुगतान है जो पट्टा के प्रतिफल का भाग है। प्रीमियम एवं रेंट के विभेद को उच्चतम न्यायालय के कमिश्नर ऑफ इन्कम टैक्स बनाम पानवारी टी० कं० के वाद में सुस्पष्ट किया है। उच्चतम न्यायालय ने सुस्पष्ट किया है कि रू— “जब पट्टाकर्ता का हित मूल्य के बदले अन्तरित किया जाता है तो संदत्त कीमत या मूल्य को प्रीमियम या सलामी कहा जाता है। जबकि पट्टा के अन्तर्गत लाभ के निरन्तर उपभोग के लिए रकम का नियतकालिक भुगतान रेंट की प्रकृति का होगा। प्रथम भुगतान पूँजीगत आय है जबकि पाश्चिक भुगतान एक राजस्व प्राप्ति है।”

प्रश्न न० 11— सुखाधिकार की परिभाषा दीजिए। सुखाधिकार के आवश्यक तत्वों तथा विभिन्न प्रकारों का वर्णन कीजिए।

उत्तर— सुखभोग की अवधारणा को भारतीय सुखभोग अधिनियम, 1882 की धारा 4 के अंतर्गत परिभाषित किया गया है। धारा 4 के प्रावधानों के अनुसार, सुखभोगी अधिकार किसी अन्य भूमि पर भूमि के स्वामी या अधिभोगी द्वारा प्राप्त अधिकार है, जो उसकी अपनी नहीं है, जिसका उद्देश्य भूमि का लाभकारी उपभोग प्रदान करना है। यह अधिकार इसलिए प्रदान किया जाता है क्योंकि इस अधिकार के अस्तित्व के बिना अधिभोगी या स्वामी अपनी संपत्ति का पूर्ण रूप से आनंद नहीं ले सकता। इसमें किसी अन्य भूमि के संबंध में या उसके संबंध में कुछ करने या करते रहने या कुछ रोकने या रोकते रहने का अधिकार शामिल है, जो उसकी अपनी भूमि के उपभोग के लिए नहीं है। शब्द ‘भूमि’ का तात्पर्य पृथ्वी से स्थायी रूप से जुड़ी हर चीज से है और शब्द ‘लाभकारी उपभोग’ सुविधा, लाभ या किसी सुविधा या किसी आवश्यकता को दर्शाता है। प्रावधान में संदर्भित स्वामी या अधिभोगी को प्रमुख स्वामी के रूप में जाना जाता है और जिस भूमि के लाभ के लिए सुखभोगी अधिकार मौजूद है उसे प्रमुख विरासत कहा जाता है। जबकि जिस स्वामी की भूमि पर दायित्व आरोपित किया जाता है, उसे दास स्वामी के रूप में जाना जाता है और जिस भूमि पर कुछ करने या रोकने के लिए ऐसा दायित्व आरोपित किया जाता है, उसे दास विरासत के रूप में जाना जाता है।

(1) गेल के अनुसार— “यह एक विशेषाधिकार है, जो एक पड़ोसी दूसरे की जमीन पर बिना लाभ के जाने के लिए चिरभोग का अधिकार रखता है।”

(2) पीकाक के अनुसार— “सुखाधिकार बिना लाभ का विशेषाधिकार है जो एक आयुक्ति सम्पत्ति के स्वामी से प्राप्त करता है, जिससे वह सम्पत्ति का स्वामी अपने सम्पूर्ण अधिकार के प्रयोग से निर्बद्ध हो जाता है या पूर्ण आयुक्ति के लाभ के लिए कुछ कार्य नहीं करता है।”

(3) सामण्ड के अनुसार— “सुखाधिकार वह वैध अधि—सेविता है जो एक भूखण्ड में लाभ हेतु अन्य भूखण्ड पर लागू होता है, यह वह अधिसेविता नहीं है, जिसे लाभ कहा जाता है।

सुखभोग के आवश्यक तत्व

1. प्रमुख और अधीनस्थ विरासत— सुखभोग के अधिकार के उपभोग के लिए दो संपत्तियों अर्थात् प्रमुख और अधीनस्थ विरासत का होना आवश्यक है। ऐसा इसलिए है क्योंकि परिभाषा के अनुसार, यह एक भूमि के स्वामी या अधिभोगी द्वारा किसी अन्य व्यक्ति की भूमि पर अपनी भूमि के लाभ का आनंद लेने के लिए प्रयोग किया जाने वाला अधिकार है। प्रमुख और अधीनस्थ विरासत एक नहीं हो सकती। इस प्रकार, दो संपत्तियों का अस्तित्व और उनका एक दूसरे से अलग होना आवश्यक है।

2. अलग—अलग मालिक—सुखभोग के अधिकार का प्रयोग करने के लिए, दो संपत्तियों के स्वामी अलग—अलग होंगे और एक व्यक्ति नहीं होंगे।

3. लाभकारी आनंद—सुखभोग का उद्देश्य यह है कि प्रमुख स्वामी इसका इस तरह से आनंद ले जिसमें स्पष्ट और निहित लाभ शामिल हों।

4. सकारात्मक या नकारात्मक— सुखभोग सकारात्मक या नकारात्मक दोनों हो सकते हैं। पहला, उस अधिकार को संदर्भित करता है जिसके माध्यम से प्रमुख स्वामी अधीनस्थ स्वामी की भूमि पर अधिकार का प्रयोग करने के लिए कुछ कार्य करता है। जबकि, बाद वाला रोकथाम के कार्य को दर्शाता है। नकारात्मक सुखभोग में प्रमुख स्वामी अधीनस्थ स्वामी को कुछ कार्य या कार्य करने से रोकता है या प्रतिबंधित करता है। सुखभोग के अधिकार में प्रमुख विरासत का स्वामी अधीनस्थ स्वामी को कुछ करने से रोक सकता है या कार्य कर सकता है, लेकिन वह अधीनस्थ स्वामी को उसके लिए कुछ करने के लिए बाध्य नहीं कर सकता। सुखभोगी अधिकार केवल तभी मौजूद होता है जब दो विरासतें एक दूसरे के निकट हों। यह एक रेम अधिकार है, जिसका अर्थ है पूरी दुनिया के खिलाफ उपलब्ध अधिकार। अधिकार के रूप में सुखभोग हमेशा प्रमुख किरायेदारी से जुड़ा होता है। यह पुनः—विमुखता का अधिकार है जिसका अर्थ है अधीनस्थ किरायेदारी पर अधिकार और अपनी खुद की भूमि पर नहीं।

सुखाधिकार के प्रकार—

(1) सतत या असंतत— सतत सुखभोग वह है जिसका उपभोग किसी व्यक्ति के आचरण या कार्य के हस्तक्षेप के बिना जारी रखा जा सकता है। इसमें किसी व्यक्ति का हस्तक्षेप नहीं होता है और यह संपत्ति में विशेष गुण जोड़ता है। जबकि, दूसरी ओर, सुखभोग के अधिकार जिसके लिए किसी व्यक्ति के हस्तक्षेप की आवश्यकता होती है, असंतत कहलाता है। इस प्रकार के सुखभोग में यह आवश्यक है कि किसी व्यक्ति द्वारा दासत्व पर कोई मानवीय कार्य किया जाए।

(2) स्पष्ट या अप्रकट— स्पष्ट सुखभोग वह है जिसका अस्तित्व स्थायी चिह्न के माध्यम से देखा जा सकता है। इसे सावधानीपूर्वक जांच और उचित दूरदर्शिता के आधार पर देखा जा सकता है। इसे स्पष्ट सुखभोग भी कहते हैं। किसी अधिकार के अस्तित्व की जांच करने के लिए निरीक्षण की आवश्यकता होती है। उदाहरण के लिए— A की भूमि से B की भूमि तक एक नाला है और वहां से यह एक खुले प्रांगण में जाता है। यह स्पष्ट निरीक्षण के माध्यम से देखा जा सकता है और यह एक स्पष्ट सुखभोग है। जबकि, अप्रकट सुखभोग स्पष्ट सुखभोग के ठीक विपरीत है। इस प्रकार का सुखभोग निरीक्षण के माध्यम से दिखाई नहीं देता है। ऐसा कोई स्थायी संकेत नहीं है। अधिकार उपयोग में है, लेकिन दिखाई नहीं देता है और इस प्रकार, इसे अदृश्य सुखभोग के रूप में जाना जाता है। उदाहरण के लिए, A का अधिकार की भूमि पर कब्जा कर लिया गया है ताकि B को अपने घर पर निर्माण करने से रोका जा सके। गैर—स्पष्ट सुखभोग को समझाने के लिए एक और उदाहरण यह है कि एक निश्चित ऊंचाई पर निर्माण को रोकने का अधिकार।

प्रश्न न० 12— प्रतिभूतियों का क्रमबंधन से आप समझते हैं? बंधक ऋण की बाबत अभिदाय से सम्बन्धित विधि की विवेचना कीजिए।

उत्तर— संपत्ति अंतरण अधिनियम से संबंधित इस आलेख के अंतर्गत इस अधिनियम की धारा 81 जो क्रमबंधन का उल्लेख करती है तथा धारा 82 जो अभिदाय का उल्लेख करती है पर सारगर्भित टिप्पणियां प्रस्तुत की जा रही हैं। इससे पूर्व के आलेख में पूर्विक बंधकदार के मुलतवी किए जाने के संबंध में उल्लेख किया गया था। इस एक ही आलेख के अंतर्गत इन दोनों ही धाराओं पर महत्वपूर्ण टिप्पणियां प्रस्तुत की जा रही हैं जिससे एक ही आलेख में दोनों ही धाराओं पर महत्वपूर्ण जानकारी को प्राप्त किया जा सके।

क्रमबंधन— (धारा 81)— 'क्रमबन्धन' से अभिप्रेत है चीजों को या वस्तुओं को एक क्रम में रखना क्रमबन्धन का अधिकार पाश्चिक बन्धकदार का अधिकार है। धारा 81 प्रतिभूतियों का क्रमबन्धन सम्बन्धी सिद्धान्त अधिनियमित करती है। क्रमबन्धन के सिद्धान्त के अनुसार यदि दो या अधिक सम्पत्तियों का स्वामी, जब उन्हें एक व्यक्ति के पास बन्धक रखता है और तत्पश्चात् उन सम्पत्तियों में से एक या अधिक सम्पत्तियों को किसी अन्य व्यक्ति के पास बन्धक रखता है, तो तत्प्रतिकूल संविदा के अभाव में पाश्चिक बन्धकदार इस बात का हकदार है कि वह पूर्विक बन्धक ऋण को सन्तुष्टि जहाँ तक सम्भव हो उस सम्पत्ति या उन सम्पत्तियों से कराये जिनका बन्धक उसके पक्ष में नहीं किया गया है। क्रमबन्धन का सिद्धान्त लार्ड एल्टन द्वारा एल्लिच बनाम कूपर के वाद में प्रतिपादित किया गया था। न्यायमूर्ति ने यह कहा किया था कि, "यह एक ऋणदाता की इच्छा पर यह निर्भर नहीं करेगा कि वह दूसरे को निराश करे।"

दोनों को सन्तुष्ट करने के उद्देश्य से, साम्या प्रथम बन्धकदार को बाध्य करती है कि वह उस सम्पत्ति में से अपने ऋण की अदायगी कराये जो उसकी पहुँच में है तथा उस सम्पत्ति को छोड़ दूसरे के लिए दे, जो उसकी पहुँच में नहीं है, परन्तु यदि प्रथम प्रतिभूति बन्धक रकम की अदायगी के लिए पर्याप्त नहीं है तो उसका उपयोग करने के पश्चात् पूर्विक बन्धकदार उस प्रतिभूति पर अपना अधिकारधक जमा सकेगा जो पाश्चिक बन्धकदार को प्रतिभूति के रूप में दी गयी थी। क्रमबन्धन का सिद्धान्त इस देश में इस अधिनियम के लागू होने से पूर्व भी प्रचलन में था। पर इस धारा में इंग्लिश विधिक सिद्धान्त को ही समाहित किया गया है। इंग्लिश विधि के अनुसार प्रतिभूतियों का इस प्रकार प्रबन्धन समस्त बन्धकदारों के दावों को यथासंभव सन्तुष्ट किया जा सकें। क्रमबन्धन कहलाता है।

आवश्यक तत्व— इस धारा में वर्णित सिद्धान्त के प्रवर्तन हेतु निम्नलिखित तत्वों का होना आवश्यक है—

(1)– बन्धककर्ता एक ही व्यक्ति हो जो अपनी विभिन्न सम्पत्तियों का बन्धक भिन्न भिन्न व्यक्तियों को करे। विभिन्न सम्पत्तियों, जो बन्धकों की विषयवस्तु हैं एक ही बन्धककर्ता की हो तथा सम्पत्तियों के लिए दावा प्रस्तुत करने वाले व्यक्ति एक ही बन्धककर्ता के ऋणदाता हों।

(2)– बन्धक की विषयवस्तु एक से अधिक सम्पत्तियाँ होती हैं। सर्वप्रथम समस्त सम्पत्तियों का एक व्यक्ति के पक्ष में बन्धक किया गया हो, तत्पश्चात् उनमें से केवल एक पर कुछ का बन्धक दूसरे बन्धकदार के पक्ष में किया गया हो।

(3)– दोनों बन्धकदार एक ही धरातल पर स्थित हों। यदि दोनों बन्धकदारों का बन्धक की गयी सम्पत्तियों के सम्बन्ध में पृथक्-पृथक् दावे हैं, तो क्रमबन्धन का प्रश्न हो नहीं उठेगा। न केवल यह, अपितु यह भी कि बन्धकदारों का उनके पक्ष में बन्धक की गयी सम्पत्तियों में भी समान हित हो। उदाहरणार्थ, यदि पूर्विक बन्धकदार को उसके पक्ष में अन्तरित की गयी दोनों सम्पत्तियों में से एक पर भार का अधिकार था तथा दूसरी सम्पत्ति पर समंजन (मुजराई) का अधिकार। ऐसी स्थिति में पाश्चिक बन्धकदार पूर्विक बन्धक को बाध्य नहीं कर सकता है कि वह अपने दावे की पूर्ति समंजन वाली सम्पत्ति से कराए तथा भार वाली सम्पत्ति छोड़ दे जिससे पाश्चिक बन्धकदार अपने दावे की पूर्ति कर सके। इसी प्रकार एक फण्ड तथा एक वाद के अधिकार के बीच क्रमबन्धन नहीं हो सकता।

(4)– तत्प्रतिकूल संविदा न हो अर्थात् यदि इस आशय की संविदा है कि पूर्विक बन्धकदार के दावे की सन्तुष्टि के पश्चात् हो, पाश्चिक बन्धकदार अपने दावे की सन्तुष्टि हेतु माँग प्रस्तुत करेगा, तो वह पूर्विक बन्धकदार से क्रमबन्धन हेतु अनुरोध नहीं कर सकेगा।

(5)– क्रमबन्धन का सिद्धान्त लागू नहीं होगा यदि इसका प्रभाव प्रथम बन्धकदार के अधिकारों को क्षति पहुंचाना है या किसी अन्य व्यक्ति के अधिकारों को जिसने किसी भी सम्पत्ति में कोई हित प्रतिफल के एवज में प्राप्त कर लिया। अर्थात् क्रमबन्धन से न तो प्रथम बन्धकदार के हितों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़े या पाश्चिक बन्धकदार के हितों को नष्ट करे। उदाहरण के लिए— क सम्पत्ति • तथा ल. ख के पास बन्धक रखता है। तत्पश्चात् सम्पत्ति का बन्धक ग के पास एवं सम्पत्ति का बन्धक घ के पास रखता है। इस स्थिति में यदि ग जोर दे कि ख अपनी सम्पूर्ण धनराशि का भुगतान सम्पत्ति ल से कराये तो घ के लिए, सम्भव है शेष न रहे और इस प्रकार घ का दावा नष्ट हो जाएगा। अतः ग एवं घ दोनों के कुछ भी हितों को सुरक्षित रखने हेतु सम्पत्ति • तथा ल में ख के हितों का आनुपातिक वितरण किया जाएगा।

प्रतिकूल संविदा — क्रम बन्धन का सिद्धान्त तभी लागू होता है जब पक्षकारों के बीच कोई तत्प्रतिकूल संविदा न हो। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि धारा 81 पक्षकारों को इस बात की पूर्ण अनुमति देती है कि वे आपसी संविदा द्वारा इस सिद्धान्त से अपने आप को बचा सकते हैं एवं स्वेच्छया निर्धारित शर्तों से अपने सम्बन्धों को विनियमित कर सकते हैं। प्रतिकूल संविदा अभिव्यक्त या विवक्षित हो सकेगी पर उपयुक्त होगा यदि वह लिखित हो। उदाहरणार्थ दो सम्पत्तियाँ क एवं ख को बन्धक प्रतिभूति के रूप में दी गयी। तत्पश्चात् सम्पत्ति ग को इस शर्त के साथ बन्धक की गयी कि ग ख को उन्मोचित करेगा। इस शर्त से यह अभिप्रेत है कि ग को क्रमबन्धन के अधिकार से मुक्त नहीं किया गया है। वह केवल ख को उन्मोचित कर सकेगा अर्थात् ख को बन्धक धनराशि अदा कर वह ग, ख का स्थान ग्रहण करेगा। वह किसी भी दशा में ख से यह नहीं कह सकेगा कि वह ख जहाँ तक सम्भव हो अपने ऋण की अदायगी श्रु सम्पत्ति से करें जो उसके (ख) स्वयं के नियंत्रण में है। यहाँ ग का अधिकार संविदा द्वारा विवक्षित रूप में समाप्त कर दिया गया है।

अभिदान— (धारा 82)— अभिदान या अंशदान से अभिप्रेत है सामान्य निधि के लिए धन की व्यवस्था करना। धारा 82 इसी आशय का प्रावधान उपबन्धित करती है। यह एक साम्या का सिद्धान्त है। इसके अनुसार जब एक ही ऋण के लिए एक से अधिक व्यक्ति उत्तरदायी हों, तो उनका दायित्व उसी अनुपात में होगा जिस अनुपात में बन्धक सम्पत्ति में उनका अंश होगा। उदाहरण स्वरूप यदि क, ख एवं ग, तीन भाई जो सम्पत्ति • में समान हित रखते हैं तथा उक्त सम्पत्ति को प्रतिभूति के रूप में ऋण के भुगतान हेतु घ के पक्ष में बन्धक रखते हैं। तत्पश्चात् तीनों भाइयों में आपस में बँटवारा हो जाता है। सम्पत्ति के विक्रय एवं बन्धक रकम को वापसी हेतु घ, एक वाद संस्थित करता है और निर्णयानुसार वह सम्पत्ति में क के अंश को बेचकर अपनी रकम को अदायगी करता है। इस स्थिति में प्रश्न यह उठेगा कि ख एवं ग का क के प्रति क्या कर्तव्य या दायित्व होगा? क्या ख एवं ग क की सहायता के लिए आबद्ध हैं? इस उदाहरण में तीनों का अंश प्रतिभूति के रूप में घ के पक्ष में अन्तरित हुआ था अतः तीनों अंश समान रूप में उत्तरदायी हैं उस ऋण के भुगतान हेतु जिसके लिए सम्पत्ति प्रतिभूति के रूप में दी गयी थी। चूँकि बन्धक रकम की अदायगी केवल एक अंश से हुई है, अतः शेष दोनों अंशों का यह दायित्व बनता है कि वे क को उस क्रम की भरपायी करें जो उसने अपने अंश से अधिक दिया था। अतः क, ख तथा ग के अंश से उसी अनुपात में अंशदान पाने के लिए प्राधिकृत होगा जिस अनुपात में उनका अंश सम्पत्ति में था। अंशदान का दायित्व तब तक उत्पन्न नहीं होता है जब तक कि साम्या समान न हो अर्थात् जो सम्पत्तियाँ प्रतिभूति के रूप में दी गयी हों वे समान रूप में ऋण के भुगतान के लिए उत्तरदायी हों। सामान्य ऋण के मामले में किसी ऋणी को विवश करना कि वह समस्त ऋण का भुगतान करे न्यायसंगत नहीं है। प्रत्येक ऋणी को अपने अपने अंश का भुगतान समानुपातिक रूप में करना चाहिए। यही साम्या न्याय एवं सद्बिवेक का सिद्धान्त है। पर जहाँ तक बन्धकग्रहीता का प्रश्न है। वह किसी एक या एक से अधिक या सभी ऋणी व्यक्तियों से भुगतान की अपेक्षा कर सकता है।

यदि उसने (बन्धकदार ने) किसी एक ऋणी की सम्पत्ति को आधार बनाया है अपनी रकम के भुगतान हेतु तो अन्य ऋणी व्यक्तियों का यह कर्तव्य होगा कि वे उस सीमा तक भुगतान करें जो उसने अपने अंश से अधिक दिया था। अन्य ऋणी व्यक्तियों का अंशदान इस निमित्त उसी अनुपात में होगा जितना उनका स्वयं का अंश बन्धक सम्पत्ति में था।

सर रास बिहारी घोष के अनुसार— “जब दो या दो से अधिक व्यक्तियों की सम्पत्ति एक बन्धक के सृजन के लिए किसी बन्धकदार को दी जाती है या एक ही सम्पत्ति बन्धक के पश्चात् कई व्यक्तियों को परिदत्त कर दी जाती है, तो ऋणदाता नियमतः उनमें से किसी के भी विरुद्ध कार्यवाही कर सकता है तथा सम्पत्ति के विक्रय या उन्मोचन को रोकने के लिए यह आवश्यक होगा कि सम्पूर्ण बन्धक रकम का भुगतान कर दिया जाए। अतः यह स्वाभाविक एवं युक्तियुक्त है कि ऐसे मामलों में वह व्यक्ति जिसे बन्धक को सम्पूर्ण सामान्य बन्धक रकम का भुगतान करने के लिए आबद्ध किया गया था को अन्य से क्षतिपूर्ति की माँग करने का अधिकार हो एवं इससे उचित नियम का प्रतिपादन नहीं किया जा सकता कि उनमें से प्रत्येक अपने द्वारा या उनके द्वारा धारित सम्पत्ति के मूल्य के बराबर या इसमें अपने हित को सीमा तक अभिदान करे। विधि ऋणदाता को इस बात के लिए कष्ट नहीं देगी कि वह अपने शिकार का चयन करे और अनुचित पक्षपात करके सामान्य भार को घोर व्यक्तिगत पीड़ा में परिवर्तित कर दे।”

अभिदाय / अंशदान का सिद्धान्त— इस अधिनियम की धारा 82 निम्नलिखित नियम का प्रतिपादन करती है —

नियम 1.— यह एक उपबन्धित करता है कि यदि बन्धक के अध्यक्षीन सम्पत्ति ऐसे दो या अधिक व्यक्तियों की है जिनके उसमें सुभिन्न और पृथक् स्वामित्वाधिकार हैं, तत्प्रतिकूल संविदा न हो तो ऐसी सम्पत्ति में के विभिन्न अंश या भाग, जो ऐसे व्यक्तियों के स्वामित्व में हैं, उस बन्धक द्वारा प्रतिभूत ऋण के लिए अनुपात में अभिदाय करने के लिए दायी है और ऐसा हर अंश या भाग जिस अनुपात में अभिदाय करेगा, उसके अवधारण के प्रयोजन के लिए उसका मूल्य ऐसे किसी बन्धक या भार की रकम की जिसके अध्यक्षीन वह बन्धक की तारीख पर रहा हो, काट कर वह मूल्य समझा जाएगा जो तारीख पर उसका था। यह नियम अंशदान के सम्बन्ध में प्रावधान प्रस्तुत करता है, साथ ही साथ यह भी सुस्पष्ट करता है कि बन्धक सम्पत्ति का मूल्य कैसे सुनिश्चित किया जाएगा। वह बन्धककर्ता जिसकी अकेली सम्पत्ति से ऋण की वसूली होती है, ऋण का अभिदाय करने के लिए अन्य सह बन्धककर्ताओं को विवश कर सकेगा। जब ऋण सामान्य होता है तो भार भी सामान्य होगा।

क एवं ख, दो भाई अपनी संयुक्त सम्पत्ति ग के पक्ष में 10,000 रुपये बन्धक रखते हैं। बन्धक के पश्चात् वे सम्पत्ति का विभाजन कर आधा-आधा भाग लेते हैं। क एवं ख, दोनों ही बन्धक का मोचन कराने में विफल रहते हैं, फलस्वरूप ग, क के भाग को बेचकर अपनी रकम वसूल करता है। क, ख से 5,000 रुपये का अभिदाय प्राप्त करने का हकदार है।

अभिदाय हेतु वाद—अभिदाय हेतु वाद तब पोषणीय होगा जब सम्पूर्ण बन्धक रकम का भुगतान बन्धक सम्पत्ति के एक भाग से किया हो। यह आवश्यक नहीं है कि सम्पूर्ण ऋण का भुगतान केवल वादी की ही सम्पत्ति से हुआ हो। बन्धक के प्रवर्तन हेतु वाद में पारित डिक्री में ही बन्धकदारों के बीच अभिदाय के प्रश्न का निर्धारण भी हो सकेगा यदि बन्धक ऋण का पूर्णरूपेण भुगतान नहीं हुआ है तो अभिदाय हेतु दावे को स्वीकृति नहीं प्राप्त होगी क्योंकि इससे जटिलता एवं वादों को बहुसंख्या को बढ़ावा मिलेगा।

बन्धकदार के अधिकार— बन्धकदार को अपनी बन्धक रकम पाने का अधिकार है। बन्धक की गयी किसी भी सम्पत्ति से तथा बन्धकदार के दावे को बन्धक की गयी सम्पत्ति के किसी भी क्रेता के कहने पर विभाजित नहीं किया जा सकता है। महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि बन्धककर्तागण व्यक्तिगत रूप से अभिदाय करने के दायित्वाधीन नहीं होते हैं। वे बन्धक सम्पत्ति में अपने पृथक् पृथक् अंशों की सीमा तक ही अभिदाय करने के दायित्वाधीन होते हैं। जब दो सम्पत्तियों में से एक का बन्धक किया गया हो, तत्पश्चात् दोनों सम्पत्तियों का बन्धक किया गया हो—

नियम—2 उपबन्धित करता है कि जब बन्धककर्ता के पास दो सम्पत्तियाँ हों और उनमें से एक सम्पत्ति एक ऋण की प्रतिभूति के लिए बन्धक रखी गयी हो और फिर दोनों सम्पत्तियों को एक अन्य ऋण की प्रतिभूति के लिए बन्धक रखा गया हो तथा पूर्विक ऋण का भुगतान प्रथम सम्पत्ति से किया गया हो, तो दोनों ही सम्पत्तियाँ, तत्प्रतिकूल संविदा के अभाव में, द्वितीय बन्धक के भुगतान हेतु अनुपाती रूप में उत्तरदायी होंगी परन्तु उस सम्पत्ति से अभिदाय जिससे पूर्वभावी ऋण चुकाया गया है, उसके मूल्य में से वह पूर्वभावी ऋण की रकम काटकर हो, अभिदाय लिया जाएगा। उदाहरणार्थ क के पास • एवं ल दो सम्पत्तियाँ हैं तथा प्रत्येक सम्पत्ति को मूल्य 5,000 रुपये है। क सर्वप्रथम सम्पत्ति •, ख को प्रतिभूति के रूप में बन्धक करता है तथा ख से 3,000 रु० प्राप्त करता है। तत्पश्चात् वह • एवं ल दोनों ही सम्पत्तियाँ ग के पक्ष में बन्धक करता है 7,00 रु० के लिए। सम्पत्ति • से बन्धकदार ख को 3,000 रु० का भुगतान कर दिया जाता है।

चूँकि सम्पत्ति • का मूल्य 5,000 रु० मात्र है जिसमें 3,000 रु० मात्र का भुगतान ख के पक्ष में हो चुका है। अतः क के सम्पत्ति • से केवल 2,000 रु० बचे हैं। द्वितीय बन्धक में दोनों ही सम्पत्तियाँ • एवं ल प्रतिभूति के रूप में दी गयी हैं तथा वर्तमान में • का मूल्य 5,000 रु० न हो कर केवल 2,00 रु० है अतः सम्पत्ति • यदि तत्प्रतिकूल संविदा नहीं है तो मात्र 2,000 रु० का अभिदान करने से लिए दायी होगी। चूँकि द्वितीय बन्धक 7,000 रु० में हुआ था अतः शेष 5,000 रु० का भुगतान सम्पत्ति से होगा। आनुपातिक रूप में सम्पत्तियाँ एवं ल क्रमशः 2 एवं 5 ($2 \times 5 = 7$) के अनुपात भुगतान हेतु दायी होंगी।

वस्तुतः द्वितीय नियम प्रथम नियम का एक दृष्टान्त मात्र है और यह प्रकल्पित करता है कि यदि पूर्विक बन्धक का भुगतान किया जा चुका है तो आनुपातिक अभिदाय सुनिश्चित करने हेतु तो उक्त सम्पत्ति से संदत्त रकम काटकर ही पाश्चिक ऋण के भुगतान हेतु उससे अभिदाय लिया जाएगा। तथा वर्तमान स्थिति के आधार पर ही दोनों सम्पत्तियों का आनुपातिक अभिदाय सुनिश्चित किया जाएगा।

दृष्टान्त — दो सम्पत्तियाँ, एवं ल 1,000 रु० के ऋण के लिए प्रतिभूति के रूप में बन्धक को जाती हैं। सम्पत्ति का बाजार मूल्य 1,000 रुपये है जबकि सम्पत्ति ल का बाजार मूल्य है 15,00 रुपये सम्पत्ति पहले से ही 500 रुपये के लिए प्रतिभूत है। रुपये 500 जिसके लिए सम्पत्ति ल पहले से ही प्रतिभूत है, उसके बाजार मूल्य 1,500 रुपये में काटकर सम्पत्ति ल का बाजार मूल्य निर्धारित होगा जो 1,000 रुपये होगा। इस 1,000 रुपये को सम्पत्ति का बाजार मूल्य माना जाएगा एवं इसी को ल सम्पत्ति के दायित्व अंश के निर्धारण हेतु स्वीकृति प्रदान की जाएगी। फलस्वरूप द्वितीय ऋण के भुगतान हेतु सम्पत्ति • एवं ल 1000 1000 के अनुपात में दायी होगी। दूसरे शब्दों में दोनों सम्पत्तियों का अभिदाय अंश बराबर-बराबर होगा। चूँकि बन्धक रकम 1,000 रुपये है अतः • एवं ल से पाँच-पाँच सौ रुपये की अदायगी होगी— परन्तु यदि पूर्विक बन्धक के अन्तर्गत देय रकम पूर्विक प्रतिभूति के बाजार मूल्य से अधिक है तो पाश्चिक बन्धक रकम के भुगतान हेतु पूर्विक प्रतिभूति का बाजार मूल्य शून्य माना जाएगा और पाश्चिक बन्धक रकम के भुगतान हेतु उक्त सम्पत्ति पर कोई दायित्व नहीं होगा तथा दूसरी सम्पत्ति पर ही भुगतान का समस्त दायित्व होगा। यह ध्यान में रखना समीचीन होगा कि अभिदाय हेतु वाद में सम्पत्ति का स्वामी केवल उतनी ही रकम अंशदान के रूप में माँग सकेगा जितनी उसने अपने समानुपातिक अंश से आर्थिक का भुगतान किया था। माँगकर्ता इससे अधिक की माँग नहीं कर सकता है। अभिदाय हेतु माँग सम्पत्ति पर एक दावा है।

अभिदाय कोई दायित्व उत्पन्न नहीं होगा तक कि यह स्पष्ट कि दोनों हो सम्पत्तियों सामान्य बन्धक के अध्यक्षीन थी। इसी प्रकार वहाँ भी अभिदाय का सृजन नहीं होगा वहाँ एक सम्पत्ति बन्धक के लिए प्रतिभूति थी तथा दूसरी सम्पत्ति के लिए साधारण ग्रहणाधिकार के अध्यक्षीन हो। तत्प्रतिकूल संविदा आनुपातिक अभिदाय का सिद्धान्त तत्प्रतिकूल संविदा के अध्यक्षीन होता है। यदि बन्धक विलेख में यह उल्लिखित है कि एक सम्पत्ति के भुगतान के लिए मुख्य प्रतिभूति है तो अभिदाय हेतु दायित्व केवल उसी सम्पत्ति पर होगा।

क्रमबन्धन के अध्यक्षीन— धारा 82 नियम तीन उपबन्धित करता है कि पाश्चिक बन्धकदार के दावे के लिए जो सम्पत्ति धारा 181 के अधीन दायी है उसे इस धारा को कोई भी बात लागू नहीं होगी। उदाहरण के लिए क के पास दो सम्पत्तियाँ एवं ल है। यह सम्पत्ति को बन्धक करता है तथा सम्पत्ति ग को तथा दोनों सम्पत्तियों एवं ल घ को तत्पश्चात् सम्पत्ति 'च' को। यहाँ ल दोनों हो सम्पत्तियाँ, एवं ल. घ के ऋण के भुगतान के लिए समानुपातिक रूप दायी है, सम्पत्ति में से ख को बन्धक रकम के भुगतान एवं ल सम्पत्ति में से ग को बन्धक रकम के भुगतान के पश्चात् जहाँ तक श्रद्धा का प्रश्न है, उसका क्रम बन्धन का अधिकार अभिदाय के अधिकार के विरुद्ध प्रभावी होगा। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि यदि क्रमबन्धन एवं अभिदाय के बीच टकराव की स्थिति बनती है तो क्रमबन्धन को अभिदाय पर वरीयता प्राप्त होगी क्योंकि क्रमबन्धन का सिद्धान्त पाश्चिक बन्धकदार के हितों को सुरक्षित करता है, पूर्विक बन्धकदार को आबद्ध करते हुए कि जहाँ तक सम्भव हो वह अपनी रकम का भुगतान उसी सम्पत्ति से करे जो उसको बन्धक ऋण के भुगतान हेतु प्रतिभूति के रूप में दी गयी है। महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि अभिदाय का अधिकार बन्धककर्ता का है जबकि क्रमबन्धन का अधिकार पाश्चिक बन्धकदारों का।

प्रश्न न० 13— विनिमय की परिभाषा दीजिए। इसका विक्रय और दान से अन्तर कीजिए।

उत्तर— विनिमय की परिभाषा— जब कि दो व्यक्ति एक चीज का स्वामित्व किसी अन्य चीज के स्वामित्व के लिए परस्पर अन्तरित करते हैं जिन दोनों चीजों में से कोई केवल धन नहीं है या दोनों चीजें केवल धन हैं, तब वह संव्यवहार "विनिमय" कहा जाता है। दूसरे शब्दों में एक वस्तु का दूसरे वस्तु के लिये अन्तरण और दोनों या दोनों में एक चल या अचल चीज होगी विनिमय होगा।

स्वामित्व का अन्तरण— विनिमय के लिये स्वामित्व का परस्पर अन्तरण से तात्पर्य एक वस्तु के स्वामित्व का दूसरे वस्तु के स्वामित्व का दूसरे वस्तु के स्वामित्व से अन्तरण। एक संव्यवहार 'अ' और 'ब' के बीच विनिमय नहीं होता जब तक कि—

(1) एक वस्तु के स्वामित्व का अन्तरण अ के द्वारा ब को न हो; और

(2) दूसरी वस्तु के स्वामित्व का अन्तरण ब के द्वारा अ को न हो।

अतः मेरी कलम का विनिमय आप की पुस्तक से हो सकता है, या मेरे सभी कुर्सी मेज का विनिमय आपके एक बीघे खेत से हो सकता है। परन्तु यदि अन्तरित होने वाली वस्तुओं में से एक धन या रूपया पैसा है तो संव्यवहार विनिमय नहीं होगा, अपितु विक्रय होगा। क्योंकि कीमत केवल धन या रूपये पैसे में होती है। किन्तु इस धारा के नियमों के अनुसार धन या रूपया पैसा एक रूप में, धन या रूपया पैसा दूसरे रूप में का विनिमय किया जा सकता है जैसे रूपयों का नोटों से विनिमय हो सकता है। इसी प्रकार एक प्रकार के स्टैम्प का दूसरे प्रकार के स्टैम्प से विनिमय किया जा सकता है और यह विक्रय नहीं होगा।

वहाँ ओरीसा उच्च न्यायालय ने श्री हरिजेना बनाम क्षेत्रामोहन में यह अभिनिर्धारित किया कि ऐसा विनिमय संविदा अधिनियम की धारा 23 से बाधित है। अतः ऐसी संविदा वैध नहीं है।

क और ख संलग्न स्वामी थे। उनके खाता के बारे में सर्वे प्रवृत्तियाँ अधिकारों के सर्वे अभिलेख में गलत की गई थी। खाता जिसका स्वामित्व और कब्जा क मे निहित था वह ख के नाम में अंकित था। उनके सही खाता संख्याओं

के कब्जे का तथ्य उनके बीच निष्पादित एक दस्तावेज द्वारा अभिस्वीकृत किया गया। ऐसी स्थिति में **झारखण्ड उच्च न्यायालय द्वारा मोहम्मद उद्दीन बनाम असीबुन निशा** वाद में यह अभिनिर्धारित किया गया कि इस दस्तावेज से न तो स्वामित्व से न तो स्वामित्व का विनिमय और न ही सम्पत्ति का अन्तरण हुआ, इस दस्तावेज की व्याख्या कब्जे के अभिस्वीकृति के रूप में न कि विनिमय के रूप में की जायेगी। यह बिना रजिस्ट्रीकरण के ग्राह्य होगा।

विनिमय में प्राप्त वस्तु से वंचित पक्षकार का अधिकार—यदि विनिमय का कोई पक्षकार या ऐसे पक्षकार के माध्यम से या उसके अधीन दावा करने वाला कोई व्यक्ति दूसरे पक्षकार के स्वामित्व में किसी दोष के कारण उस वस्तु या वस्तु के किसी भाग से वंचित हो जाता है, जो विनिमय में उसे प्राप्त हुई है, तो जब तक विनिमय की शर्तों से कोई विपरीत आशय प्रकट न हो, ऐसा दूसरा पक्ष उससे या उसके माध्यम से या उसके अधीन दावा करने वाले किसी व्यक्ति के प्रति उससे हुई हानि के लिए, या इस प्रकार वंचित व्यक्ति के विकल्प पर, हस्तांतरित वस्तु को वापस करने के लिए उत्तरदायी होगा, यदि वह अभी भी ऐसे दूसरे पक्षकार या उसके विधिक प्रतिनिधि या उससे हस्तांतरित के कब्जे में है, बिना प्रतिफल के।

पक्षकारों के अधिकार और दायित्व—इस अध्याय में अन्यथा उपबंधित के सिवाय, प्रत्येक पक्षकार को उस वस्तु के संबंध में जो वह देता है, अधिकार होते हैं और वह विक्रेता के दायित्वों के अधीन होता है, तथा उस वस्तु के संबंध में जो वह लेता है, अधिकार होते हैं और वह क्रेता के दायित्वों के अधीन होता है।

धन का विनिमय— धन के आदान-प्रदान पर, प्रत्येक पक्ष अपने द्वारा दिए गए धन की वास्तविकता की गारंटी देता है।

उपहार विलेख और बिक्री विलेख में क्या अंतर है?

उपहार विलेख और बिक्री विलेख के बीच कुछ महत्वपूर्ण अंतर इस प्रकार हैं:

उपहार विलेख	विक्रय विलेख
संपत्ति का हस्तांतरण प्रायः उपहार या उत्तराधिकार के प्रयोजनार्थ बिना किसी मौद्रिक लाभ के किया जाता है।	संपत्ति को पूर्व निर्धारित मूल्य पर बेचा जाता है, जिससे विक्रेता को मौद्रिक लाभ प्राप्त होता है।
प्राप्तकर्ता के लिए उपहार कर या आयकर की संभावना; दानकर्ता पर कोई कर भार नहीं होता।	पूंजीगत लाभ कर विक्रेता पर लागू हो सकता है, लेकिन आमतौर पर खरीदार पर नहीं।
विक्रय विलेखों की तुलना में स्टाम्प ड्यूटी की लागत कम होती है।	संपत्ति के मूल्य के आधार पर स्टाम्प ड्यूटी की उच्च लागत, खरीदार को प्रभावित करती है।
सरल कानूनी प्रक्रिया; कम कठोर दस्तावेजीकरण की आवश्यकता।	इसमें अधिक व्यापक कानूनी प्रक्रिया और दस्तावेजीकरण शामिल है।

प्रश्न न० 14— निम्नलिखित में से किन्हीं चार पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए।

उत्तर— (1) अनुज्ञप्ति— भारतीय सुखाचार अधिनियम, 1882 की धारा 52 के अनुसार, जहाँ एक व्यक्ति एक या एक से अधिक व्यक्तियों को किसी निश्चित अचल संपत्ति में या उस पर कुछ करने का अधिकार देता है, जो ऐसे अधिकार के अभाव में, अविधिक होगा तथा ऐसा अधिकार यह सुख सुविधा या संपत्ति में हित के बराबर नहीं है, इस प्रकार बनाए गए अधिकार को अनुज्ञप्ति कहा जाता है।

निर्धारण के लिये कारक—यह निर्धारित करते समय कि कोई पट्टा या अनुज्ञप्ति है या नहीं, निम्नलिखित कारकों को ध्यान में रखा जाना चाहिये—

- (1) विशिष्ट कब्जा, अपने आप में एक पट्टे का संकेत है, हालाँकि ऐसा कब्जा कुछ आरक्षण के अधीन हो सकता है।
- (2) क्या करार में वे शर्तें निहित हैं, जो आमतौर पर पट्टे में पाई जाती हैं।
- (3) लेन-देन का वर्णन करने के लिये पक्षकारों द्वारा वास्तव में उपयोग की जाने वाली अभिव्यक्ति।
- (4) पक्षकारों के मध्य कुछ विशेष संबंधों का अस्तित्व का होना।
- (5) अपने स्वामी के परिसर पर रहने वाला नौकर, एक किरायेदार या अनुज्ञप्तिधारी हो सकता है।
- (6) परिसर पर मालिक द्वारा प्रयोग किये जाने वाले नियंत्रण की डिग्री।
- (7) लेन-देन के आस-पास औपचारिकता की डिग्री, जितनी अधिक औपचारिकता, उतनी ही अधिक किरायेदारी का अनुमान।

(2) **दुर्वह दान**— सम्पत्ति अन्तरण अधिनियम की धारा 127 दुर्वह दान को स्पष्ट करती है। जहां कोई दान एक ही व्यक्ति को कई चीजों के एकल हस्तांतरण के रूप में हो, जिनमें से एक चीज पर कोई दायित्व नहीं है, वहां आदाता उपहार से कुछ भी नहीं ले सकता है जब तक कि वह उसे पूरी तरह से स्वीकार न कर ले।

जहां दान दो या अधिक पृथक् तथा स्वतंत्र हस्तांतरणों के रूप में एक ही व्यक्ति को अनेक चीजों का दिया जाता है, वहां दान प्राप्तकर्ता को उनमें से एक को स्वीकार करने तथा अन्य को अस्वीकार करने की स्वतंत्रता होती है, यद्यपि पहला लाभदायक हो सकता है तथा दूसरा कष्टसाध्य।

अयोग्य व्यक्ति को दुर्वह दान—यदि कोई दान प्राप्तकर्ता संविदा करने में सक्षम नहीं है तथा किसी दायित्व से बोझिल संपत्ति को स्वीकार करता है, तो वह अपनी स्वीकृति से आबद्ध नहीं होता। लेकिन यदि वह संविदा करने में सक्षम होने तथा दायित्व से अवगत होने के पश्चात् दी गई संपत्ति को अपने पास रखता है, तो वह आबद्ध हो जाता है।

रेखांकन—(ए) A के पास **X** में शेयर हैं, जो एक समृद्ध संयुक्त स्टॉक कंपनी है, और साथ ही **Y** में भी शेयर हैं, जो एक मुश्किल में फंसी संयुक्त स्टॉक कंपनी है। **Y** में शेयरों के संबंध में भारी मांग की उम्मीद है। **A, B** को संयुक्त स्टॉक कंपनियों में अपने सभी शेयर देता है। **B Y** में शेयर लेने से इनकार कर देता है। वह **X** में शेयर नहीं ले सकता।

(बी) ए, जिसके पास कुछ वर्षों के लिए एक मकान का पट्टा है, तथा जिसका किराया वह और उसके प्रतिनिधि उस अवधि के दौरान चुकाने के लिए बाध्य हैं, तथा जो मकान को किराये पर दिए जाने के लिए दिए जाने वाले किराए से अधिक है, बी को पट्टा देता है, तथा एक पृथक् एवं स्वतंत्र लेन—देन के रूप में एक धनराशि भी देता है। बी पट्टा स्वीकार करने से इंकार कर देता है। इस इंकार से वह धनराशि जब्त नहीं करता है।

(3) **सर्वस्व दानगृहीता**— संपत्ति हस्तांतरण अधिनियम, 1882 की धारा 128, सार्वभौमिक दान प्राप्तकर्ता से जुड़ी है। यह धारा बताती है कि अगर किसी उपहार में दानकर्ता की पूरी संपत्ति शामिल हो, तो दान प्राप्तकर्ता को उपहार के समय दानकर्ता के सभी ऋणों और देनदारियों के लिए जिम्मेदार होना होता है। यह जिम्मेदारी उस संपत्ति की सीमा तक होती है, जो उपहार में मिली है। अगर दानकर्ता के ऋण और देनदारियां उपहार की पूरी संपत्ति से ज्यादा हैं, तो दानकर्ता ज्यादा रकम के लिए जिम्मेदार नहीं होता। यह प्रावधान ऋणदाता के हितों की रक्षा करता है। इससे यह भी सुनिश्चित होता है कि अगर ऋणदाता को कोई पैसा बकाए हैं, तो वह दानकर्ता की संपत्ति हड़पने में सक्षम हो सके। धारा 128 में शामिल एक न्यायसंगत सिद्धांत यह है कि किसी लेन—देन से फायदा पाने वाले को उसका बोझ भी उठाना चाहिए। उदाहरण के लिए, अगर कोई दानकर्ता वादी के पक्ष में एक प्रोनोट बनाता है और प्रतिवादी को अपनी पूरी संपत्ति का उपहार देता है, तो प्रतिवादी को उस संपत्ति से दानकर्ता के ऋण का भुगतान करना होगा। प्रतिवादी, सार्वभौमिक दानकर्ता के रूप में, लाभ को बरकरार नहीं रख सकता और न ही उस बोझ को टाल सकता है। संपत्ति हस्तांतरण अधिनियम, 1882, भारत का एक अधिनियम है जो देश में संपत्तियों के हस्तांतरण को नियंत्रित करता है। इसमें संपत्ति के हस्तांतरण और इससे जुड़ी शर्तों के बारे में खास प्रावधान हैं।

अनुराधा कुमार बनाम लक्ष्मीचन्द्र में कहा गया कि सर्वस्व का अर्थ है सब कुछ यानी दानदाता जब अपनी चल—अचल सम्पत्ति दान कर दे तभी उस दान को स्वीकार कर लेने वाला सर्वस्व दानगृहीता होगा।

(4) **वादयोग्य स्वत्व**— संपत्ति हस्तांतरण अधिनियम, 1882 की धारा 3 में कार्रवाई योग्य दावे को परिभाषित किया गया है। इसके मुताबिक, किसी भी ऋण के लिए कार्रवाई योग्य दावा, अचल संपत्ति के बंधक द्वारा या चल संपत्ति के दृष्टिबंधक या प्रतिज्ञा द्वारा या चल संपत्ति में किसी भी लाभकारी हित के अलावा, जो कब्जे में नहीं है, कार्रवाई योग्य दावा माना जाएगा। ऐसे ऋणों पर आराम या राहत के लिए अदालत में कार्रवाई की जा सकती है।

उदाहरण—वादयोग्य स्वत्वों के उदाहरण निम्न प्रकार हैं—

(क) क को ख से 500 रुपये चाहिए जिसका भुगतान 5 मई को ड्यू हो जायेगा। क का दावा वादयोग्य है।

(ख) बकाया किराया वादयोग्य स्वत्व है

(ग) साक्षीदारी में हिस्सा वादयोग्य स्वत्व है।

(घ) भरण—भोषण का अधिकार वादयोग्य स्वत्व है।

वादयोग्य स्वत्व का अन्तरण— किसी कार्रवाई योग्य दावे का हस्तांतरण, चाहे प्रतिफल सहित हो या उसके बिना, केवल हस्तांतरक या उसके विधिवत् प्राधिकृत प्रतिनिधि द्वारा हस्ताक्षरित लिखित दस्तावेज के निष्पादन द्वारा ही किया जाएगा, ऐसे दस्तावेजों के निष्पादन पर यह पूर्ण और प्रभावी होगा, और उसके बाद हस्तांतरणकर्ता के सभी अधिकार और उपचार, चाहे क्षति के रूप में हों या अन्यथा, हस्तांतरिती में निहित होंगे, चाहे हस्तांतरण की ऐसी सूचना दी गई हो, जैसा कि इसके बाद प्रदान किया गया है या नहीं बशर्ते कि देनदार या अन्य व्यक्ति द्वारा ऋण या अन्य कार्रवाई योग्य दावे से संबंधित प्रत्येक व्यवहार, जिससे या जिसके विरुद्ध हस्तांतरक, पूर्वोक्त हस्तांतरण के ऐसे दस्तावेज के बिना, ऐसे ऋण या अन्य कार्रवाई योग्य दावे को वसूलने या लागू करने का हकदार होता, (सिवाय इसके कि देनदार या अन्य व्यक्ति हस्तांतरण का पक्षकार है या उसे इसके बाद प्रदान किए गए अनुसार इसकी स्पष्ट सूचना प्राप्त हुई है) ऐसे हस्तांतरण के विरुद्ध वैध होगा किसी कार्रवाई योग्य दावे का हस्तांतरिती, पूर्वोक्त हस्तांतरण लिखत के निष्पादन पर, ऐसे वाद या कार्यवाही के लिए हस्तांतरक की सहमति प्राप्त किए बिना और उसे पक्षकार बनाए बिना, अपने नाम से उसके लिए वाद या कार्यवाही संस्थित कर सकता है।

उदाहरण—(1) **A, B** को धन देता है, जो ऋण को **B** को हस्तांतरित करता है। **B** तब **A** से ऋण की मांग करता है, जो धारा 131 में निर्धारित अनुसार हस्तांतरण की सूचना प्राप्त किए बिना **B** को भुगतान करता है। भुगतान वैध है, और **C** ऋण के लिए **A** पर मुकदमा नहीं कर सकता।

(2) **A** एक बीमा कंपनी के साथ अपने जीवन पर एक पॉलिसी बनाता है और मौजूदा या भविष्य के ऋण के भुगतान को सुरक्षित करने के लिए इसे बैंक को सौंपता है। यदि **A** की मृत्यु हो जाती है, तो बैंक धारा 130 की उप-धारा (1) में प्रावधान और धारा 132 के प्रावधानों के अधीन, **A** के निष्पादक की सहमति के बिना पॉलिसी की राशि प्राप्त करने और उस पर मुकदमा करने का हकदार है।

वादयोग्य स्वत्व के अन्तरिती के अधिकार और दायित्व — कार्यवाही योग्य दावे का हस्तान्तरिती उसे उन सभी दायित्वों और इक्विटी के अधीन लेगा जिनके अधीन हस्तान्तरण की तिथि पर हस्तान्तरक उसके सम्बन्ध में था।

संपत्ति हस्तांतरण अधिनियम 1882 की धारा 132 में कहा गया है कि कार्यवाही योग्य दावे का हस्तांतरिती दावा उन सभी देनदारियों और इक्विटी के अधीन लेता है जो हस्तांतरणकर्ता के पास हस्तांतरण के समय थी। इसका मतलब यह है कि हस्तांतरिती को हस्तांतरणकर्ता से बेहतर शीर्षक नहीं मिल सकता है। उदाहरण के लिए, यदि **A, B** द्वारा उसे दिए गए ऋण को **C** को हस्तांतरित करता है, लेकिन पहले से ही **B** का ऋणी है, तो **C** ऋण के लिए **B** पर मुकदमा कर सकता है, और **B, A** द्वारा उसे दिए गए ऋण को सेट ऑफ कर सकता है, भले ही हस्तांतरण के समय **C** को इसकी जानकारी न हो।

(5) **भार**— सम्पत्ति अन्तरण अधिनियम 1882 की धारा 100 में भार को इस प्रकार परिभाषित किया गया है, “जहां एक व्यक्ति की अचल संपत्ति पार्टियों के कार्य या कानून के संचालन द्वारा किसी अन्य व्यक्ति को धन के भुगतान के लिए सुरक्षा प्रदान की जाती है, और लेनदेन बंधक के बराबर नहीं होता है, तो बाद वाले व्यक्ति को संपत्ति पर भार कहा जाता है और इसमें पूर्व में निहित सभी प्रावधान, जो एक साधारण बंधक पर लागू होते हैं, जहां तक संभव हो, ऐसे भार पर लागू होंगे। इस धारा में कोई भी बात ट्रस्टी द्वारा अपने ट्रस्ट के निष्पादन में उचित रूप से किए गए व्ययों के लिए ट्रस्टी की ट्रस्ट-संपत्ति पर प्रभार के संबंध में लागू नहीं होती है, और, किसी भी समय लागू कानून द्वारा अन्यथा स्पष्ट रूप से प्रदान की गई बात को छोड़कर, किसी भी संपत्ति के विरुद्ध कोई प्रभार उस व्यक्ति के हाथ में लागू नहीं किया जाएगा, जिसे ऐसी संपत्ति प्रतिफल के लिए और प्रभार की सूचना के बिना हस्तांतरित की गई है।”

उदाहरण—**X** की दो बेटियाँ हैं, **P** और **Q**. **X** अपनी पूरी संपत्ति **P** को दे देता है और एक शर्त रखता है कि **P** हर महीने **Q** को संपत्ति में से 10,000 रुपये देने के लिए बाध्य होगा। यह धनराशि **Q** के पक्ष में एक भार का गठन करेगी। यदि **P** संपत्ति किसी तीसरे व्यक्ति (मान लें) को बेचती है, तो **Q** तीसरे व्यक्ति के खिलाफ अपने अधिकार को लागू कर सकती है, बशर्ते कि उसे (तीसरे व्यक्ति,) इस भार की सूचना हो।

LL.B.-4th Sem. Paper-IV Criminal Procedure code-II Juvenile Justice Act and Probation of Offenders Act

प्रश्न न० 1— आरोप को परिभाषित कीजिए। आरोप के अन्तर्वस्तु क्या है? क्या आरोप न्यायालय द्वारा परिवर्तित किया जा सकता है? व्याख्या कीजिए।

उत्तर— आरोप शब्द एक सामान्य जीवन से संबंधित शब्द है। हम इसे कई दफा दोहराते हैं, यह आम बातचीत का हिस्सा होता है। कानूनी क्षेत्र में आमतौर पर यह समझा जाता है कि पुलिस के समक्ष होने वाली शिकायत आरोप होती है जबकि यह आरोप नहीं है। आरोप अदालत द्वारा लगाए जाते हैं। यह किसी भी मुकदमे का एक स्तर होता है। पुलिस द्वारा अपना अंतिम प्रतिवेदन प्रस्तुत करने के बाद ही कोई मुकदमा आरोप हेतु नियत किया जाता है। इसके पश्चात अदालत आरोप तय करती है। इस आलेख में आपराधिक मामलों में आरोप पर चर्चा की जा रही है। आरोप को 'दोषारोपण' भी कहा जाता है। विचारण में इसका महत्वपूर्ण स्थान है। वास्तविक रूप से विचारण का प्रारम्भ ही आरोप से ही होता है।

दण्ड प्रक्रिया संहिता 1973 की धारा 2 (ख) में आरोप की परिभाषा इस प्रकार दी गई है—

“आरोप के अन्तर्गत, जब आरोप में एक से अधिक शीर्ष हो, आरोप का कोई भी शीर्ष है।” दंड प्रक्रिया संहिता में आरोप की केवल इतनी ही परिभाषा दी गई है लेकिन यह आरोप की शाब्दिक परिभाषा नहीं है। आरोप को इस प्रकार परिभाषित किया जा सकता है आरोप अभियुक्त के विरुद्ध अपराध की जानकारी का ऐसा लिखित कथन होता है जिसमें आरोप के आधारों के साथ-साथ समय, स्थान, व्यक्ति एवं वस्तु का भी उल्लेख रहता है, जिसके बारे में अपराध किया गया है। सरल शब्दों में यह कहा जा सकता है कि अभियुक्त द्वारा किये गये अपराध का विवरण ही आरोप है। आरोप की विरचना इसलिये की जाती है ताकि अभियुक्त को यह पता चल जाये कि— उस पर क्या आरोप है, और उसे किस प्रकार अपनी प्रतिकक्षा करनी है। दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 211 से 224 तक में आरोप के बारे में प्रावधान किया गया है।

आरोप की अन्तर्वस्तुयें— यह अत्यन्त महत्वपूर्ण है। संहिता की धारा 211, 212 एवं 213 में उन बातों का उल्लेख किया गया है जिनका समावेश आरोप में किया जाना अपेक्षित है।

आरोप में निम्नांकित बातों का उल्लेख है—

- (1) उस अपराध का नाम जिसका अभियुक्त पर आरोप है,
- (2) वह विधि जिसके अन्तर्गत ऐसा अपराध आता है, एवं अपराध का नाम
- (3) अपराध की संक्षिप्त परिभाषा, यदि विधि में उसे कोई नाम नहीं दिया गया है,
- (4) अपराध से सम्बन्धित धारा, (धारा 211)
- (5) अपराध कारित किये जाने का समय,
- (6) अपराध कारित किये जाने का स्थान,
- (7) वह व्यक्ति या वस्तु जिसके विरुद्ध अपराध कारित किया गया है, (धारा 212) एवं
- (8) अपराध कारित किये जाने की रीति (धारा 213)

इस प्रकार आरोप में उन सभी बातों का उल्लेख किया जाना अपेक्षित जिससे अभियुक्त को यह भली-भाँति ज्ञात हो जाये कि उस पर क्या आरोप अर्थात् दोषारोपण है।

आरोप के सम्बन्ध में कतिपय महत्वपूर्ण बातें आरोप के सम्बन्ध में निम्नांकित बातें ध्यान देने योग्य हैं—

- (1) आरोप न्यायालय की भाषा में लिखा जाना चाहिये।
- (2) आरोप 'संक्षिप्त' में होना चाहिये। उसमें घटना का समय, स्थान, व्यक्ति एवं वस्तु आदि का संक्षिप्त में उल्लेख किया जाना चाहिये।
- (3) आवश्यक होने पर अपराध कारित किये जाने की रीति का उल्लेख किया जाना चाहिये।
- (4) यदि अभियुक्त पर विधि विरुद्ध जमाव का सदस्य होने का आरोप है तो उसमें इसामान्य उद्देश्य होने का उल्लेख किया जाना चाहिये।
- (5) यदि आरोप मानहानि का है तो उसमें उन 'शब्दों' का उल्लेख किया जाना चाहिये जो हानिकारक हैं।
- (6) यदि मामला संरक्षकता में से अवयस्क लड़की के अपहरण का है तो आरोप में लड़की की श्रायुष का विवरण दिया जाना चाहिये।

आरोप में परिवर्तन— न्यायालय द्वारा आरोप में कभी भी परिवर्तन या परिवर्धन किया जा सकेगा। इसका उल्लेख धारा 216 में है। धारा 217 के अनुसार जब आरोप में परिवर्तन या परिवर्धन किया जाता है तब उन साक्षियों को परीक्षण हेतु पुनः बुलाया जा सकेगा जिनका परीक्षण हो चुका है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि आरोप की विरचना

नहीं किये जाने अथवा आरोप में कोई त्रुटि रह जाने मात्र से विचारण स्वतः दूषित नहीं हो जाता। यह सब मामले की परिस्थितियों पर निर्भर करता है। पृथक् अपराध का पृथक् आरोप सामान्य नियम यह है—

प्रत्येक सुभिन्न अपराध के लिए जिसका किसी व्यक्ति पर अभियोग है, पृथक् आरोप होगा और ऐसे प्रत्येक आरोप का विचारण अलग किया जायेगा। स्पष्ट है कि धारा 218 के अनुसार प्रत्येक सुभिन्न अपराध का पृथक् आरोप एवं विचारण होगा। इसका उल्लंघन निवारण योग्य नहीं है।

अपवाद— लेकिन धारा 218 के कुछ अपवाद भी हैं, यथा

(1) एक ही वर्ष में किये गये एक ही किस्म के तीन अपराधों का आरोप एक साथ लगाया जा सकेगा। इसका उल्लेख धारा 219 में है।

उदाहरणार्थ— दो माह के अन्तराल से जारी किये गये चौकों के अनादरण के आरोप एक साथ लगाए जाकर उनका एक साथ विचारण किया जा सकेगा। लेकिन एक मामले में यह कहा गया है कि भिन्न-भिन्न तारीखों पर जारी तीन चौकों के अनादरण का आरोप एक साथ नहीं लगाया जा सकेगा क्योंकि वे एक ही संव्यवहार के भाग नहीं हैं।

(2) धारा 220 के अनुसार एक ही व्यक्ति द्वारा एक ही संव्यवहार बनाने वाले एकाधिक अपराधों का आरोप एक साथ लगाया जा सकेगा तथा एक साथ विचारण किया जा सकेगा।

उदाहरणार्थ अभियुक्त पर भारतीय दण्ड संहिता, 1860 की धारा 302 एवं आयुध अधिनियम की — धारा 27 (3) के आरोप एक साथ लगाये जा सकेंगे और उनका एक साथ विचारण किया जा सकेगा।

(3) धारा 223 के अनुसार उन सभी व्यक्तियों पर एक साथ आरोप लगाया जा सकेगा जिन पर एक ही संव्यवहार के अनुक्रम में किये गये एक ही अपराध का अभियोग है।

(4) मुख्य अपराध के साथ शृङ्खरेण्य एवं श्रयत्नश के आरोप एक साथ लगाये जा सकेंगे।

आरोप की विरचना करने का कार्य हालांकि न्यायालय का है हालांकि अधिवक्ता को भी इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि आरोप की विरचना समुचित रूप से की गई है अथवा नहीं।

प्रश्न न० 2— प्रत्येक भिन्न अपराध के लिए जिसका किसी व्यक्ति पर अभियोग है पृथक् आरोप होगा और ऐसे प्रत्येक आरोप का विचारण पृथक्कृत किया जायेगा। वर्णन कीजिए।

उत्तर— यह प्रावधान कहता है कि, प्रत्येक पृथक् अपराध के लिए पृथक् आरोप होगा और प्रत्येक ऐसे आरोप पर पृथक् रूप से विचारण किया जाएगा।

प्रावधान— अभियुक्त द्वारा न्यायालय को लिखित आवेदन दिए जाने पर, यदि मजिस्ट्रेट की राय में इससे कोई पक्षपात नहीं होगा, तो वह अभियुक्त के विरुद्ध लगाए गए सभी या किसी भी आरोप पर एक साथ विचारण कर सकता है। धारा-218(2) धारा 218(1) में निहित सामान्य नियम का अपवाद है। यह उपधारा कहती है कि “उपधारा (1) में कुछ भी धारा 219, 220, 221 और 223 के प्रावधानों के संचालन को प्रभावित नहीं करेगा।”

अपवाद 1— एक वर्ष के भीतर एक ही तरह के तीन अपराध किए जाने पर एक साथ आरोप लगाए जा सकते हैं यह धारा इसलिए बनाई गई है ताकि जब अपराध एक ही तरह के हों तो कार्यवाही की बहुलता से बचा जा सके। इसमें दो परिस्थितियाँ हैं—

1. धारा 219(1) के अनुसार, यदि किसी व्यक्ति पर एक ही तरह के तीन अपराधों का आरोप लगाया गया है, तो उस व्यक्ति पर सभी अपराधों के लिए एक साथ मुकदमा चलाया जा सकता है, यदि वे पहले अपराध से लेकर अंतिम अपराध तक बारह महीने की अवधि के भीतर किए गए हों।

2. धारा 219(2) उन अपराधों के बारे में बात करती है जो एक ही तरह के हैं, और एक ही सजा के साथ दंडनीय भी हैं।

अपवाद 2— ऐसे अपराध जो एक ही लेन-देन के दौरान किए गए हों और उन पर एक साथ मुकदमा चलाया गया हो। इसमें निम्नलिखित शामिल हैं—

1. यदि किसी व्यक्ति ने कई ऐसे कार्य किए हैं जो एक-दूसरे से इस तरह जुड़े हुए हैं कि वे एक ही लेन-देन बनाते हैं, तो ऐसे अपराधों पर एक साथ आरोप लगाए जाएँगे और उन पर एक साथ मुकदमा चलाया जाएगा। संहिता के तहत श्लेन-देनशब्द को परिभाषित नहीं किया गया है।

2. आपराधिक विश्वासघात या संपत्ति के बेईमानी से दुरुपयोग तथा खातों में हेराफेरी के उनके सहवर्ती अपराधों के मामले में। कई बार आपराधिक विश्वासघात या संपत्ति के बेईमानी से दुरुपयोग के अपराध खातों में हेराफेरी आदि जैसे अपराधों के साथ-साथ किए जाते हैं, तथा बाद वाला अपराध पहले अपराध के उद्देश्य को पूरा करने के लिए किया जाता है। ऐसे मामलों में, धारा 220(2) न्यायालयों को ऐसे अपराधों पर एक साथ विचारण करने का अधिकार देती है।

3. यदि कोई एक ही कृत्य अपराधों की अलग-अलग और पृथक् परिभाषाओं के अंतर्गत आता है, तो ऐसे विभिन्न अपराधों पर धारा 220(3) के तहत उल्लिखित अनुसार एक साथ विचारण किया जाएगा। उदाहरण के लिए यदि कोई व्यक्ति X किसी व्यक्ति Y पर बेंत से गलत तरीके से प्रहार करता है, तो X पर भारतीय दंड संहिता की धारा 352 और धारा 323 के तहत अलग-अलग आरोप लगाए जा सकते हैं और उन पर अलग-अलग विचारण किया जा सकता है या फिर उन पर एक साथ विचारण करके दोषसिद्धि की जा सकती है।

4. यदि अपराध बनाने वाले कार्य, अलग-अलग लिए जाने और विचारण किए जाने पर या समूहों में लिए जाने पर अलग-अलग अपराध भी बनते हैं, तो ऐसे अपराधों को एक ही विचारण में एक ही अपराध के रूप में माना जाएगा। उदाहरण के लिए— यदि A, B पर डकैती का अपराध करता है, और ऐसा करते समय वह स्वेच्छा से B को चोट पहुँचाता है, तो । पर भारतीय दंड संहिता की धारा 323, 392 और 394 के अंतर्गत उल्लिखित अपराधों के लिए अलग से आरोप लगाया जा सकता है और उसे दोषी ठहराया जा सकता है।

अपवाद 3— धारा 221 उन मामलों के लिए प्रावधान करती है, जिनमें अपराध के दौरान घटित परिस्थितियों और घटनाओं से संबंधित कुछ संदेह होता है। इस धारा के अनुसार, यदि अभियुक्त ने कई ऐसे कार्य किए हैं, जिनसे तथ्यों को साबित करने के बारे में भ्रम पैदा होता है, तो अभियुक्त पर ऐसे किसी भी अपराध या सभी के लिए आरोप लगाया जा सकता है या वैकल्पिक अपराधों के लिए आरोप लगाया जा सकता है। ऐसे मामलों में, अभियुक्त पर एक अपराध के लिए आरोप लगाया जाता है और साक्ष्य के चरण के दौरान, यदि यह साबित हो जाता है कि उसने कोई अलग अपराध किया है, तो उसे उसी के लिए दोषी ठहराया जा सकता है, भले ही उस पर उसी के लिए आरोप न लगाया गया हो।

अपवाद 4— धारा 223 उन व्यक्तियों के वर्ग के बारे में बात करती है, जिन पर संयुक्त रूप से मुकदमा चलाया जा सकता है। यह धारा निर्दिष्ट परिस्थितियों में कई व्यक्तियों के संयुक्त परीक्षण की अनुमति देती है, क्योंकि किए गए विभिन्न अपराधों के बीच कुछ संबंध मौजूद होते हैं। विभिन्न वर्गों को परस्पर अनन्य नहीं माना जाएगा और यदि आवश्यक हो तो उन्हें एक साथ जोड़ा जा सकता है। इस धारा के अनुसार, व्यक्तियों के निम्नलिखित वर्गों पर एक साथ मुकदमा चलाया जा सकता है और उन पर आरोप लगाया जा सकता है—

1. वे आरोपी व्यक्ति जिन्होंने एक ही लेन-देन के दौरान एक ही अपराध किया है।
2. वे व्यक्ति जिन्होंने एक विशेष अपराध किया है और वे जिन्होंने अपराध करने के लिए उकसाया है।
3. वे व्यक्ति जो धारा 219 के दायरे में आते हैं।
4. वे व्यक्ति जिन्होंने एक ही लेन-देन के दौरान अलग-अलग अपराध किए हैं।
5. वे व्यक्ति जिन्होंने चोरी, जबरन वसूली, धोखाधड़ी या संपत्ति के आपराधिक दुरुपयोग जैसे अपराध किए हैं, साथ ही वे व्यक्ति जिन्होंने ऐसी संपत्ति प्राप्त की है, उसे अपने पास रखा है, उसके निपटान या छिपाने में सहायता की है, जिसका कब्जा अवैध है और जिसके अवैध होने का आरोप लगाया गया है।
6. वे व्यक्ति जिन पर भारतीय दंड संहिता की धारा 411 और धारा 414 के तहत या चोरी की गई संपत्ति के संबंध में उन धाराओं के तहत अपराध करने का आरोप लगाया गया है, जिसका कब्जा पहले ही किसी अन्य अपराध द्वारा स्थानांतरित किया जा चुका है।
7. वे व्यक्ति जिन पर भारतीय दंड संहिता के अध्याय ग् के तहत नकली सिक्कों से संबंधित किसी अपराध का आरोप लगाया गया है।

जिन अभियुक्तों के मामले धारा 223 के किसी भी वर्ग के अंतर्गत नहीं आते हैं, वे स्वयं संयुक्त सुनवाई का दावा नहीं कर सकते। इस धारा का प्रावधान न्यायालय की विवेकाधीन शक्ति पर अंकुश लगाता है। धारा 218 से धारा 223 तक के नियम अभियुक्तों के लाभ के लिए बनाए गए हैं। विभिन्न वर्गों की धाराओं को परस्पर अनन्य मानने की आवश्यकता नहीं है। न्यायालयों को दो से अधिक धाराओं के प्रावधानों को संयोजित करने का अधिकार दिया गया है। आंशिक रूप से एक धारा को लागू करके और आंशिक रूप से दूसरी धारा को लागू करके कई व्यक्तियों का संयुक्त परीक्षण भी अधिकृत किया गया है।

प्रश्न न0 3— मजिस्ट्रेट द्वारा समन मामलों के विचारण की प्रक्रिया का वर्णन कीजिए।

उत्तर— समन-मामलों में सुनवाई की प्रक्रिया—

अपराध के विवरण की व्याख्या— धारा 251 में प्रावधान है कि आरोप तय करना अनिवार्य नहीं है, लेकिन जब अभियुक्त को न्यायालय के समक्ष लाया जाता है या पेश किया जाता है, तो धारा अपराध के विवरण की व्याख्या करने से नहीं चूकती। ऐसा अभियुक्त को उसके विरुद्ध लगाए गए आरोपों के प्रति सजग बनाने के लिए किया जाता है। यदि मामले में विवरण बताने में असमर्थ है, तो इससे मुकदमे की कार्यवाही प्रभावित नहीं होगी और इससे अभियुक्त के साथ पक्षपात नहीं होगा, क्योंकि यह अनियमितता संहिता की धारा 465 के तहत सुधार योग्य है। धारा 251 के तहत न्यायालय अभियुक्त से पूछेगा कि क्या अभियुक्त दोषी होने की दलील देता है, और दोषी होने की ऐसी दलील पर दोषसिद्धि के लिए धारा 252 और 253 का अनुपालन करना आवश्यक है।

दोषी होने की दलील पर दोषसिद्धि— धारा 252 और 253 में दोषी होने की दलील पर दोषसिद्धि का प्रावधान है। धारा 252 में सामान्य रूप से दोषी होने की दलील दी गई है और धारा 253 में छोटे मामलों में दोषी होने की दलील दी गई है। यदि अभियुक्त दोषी होने की दलील देता है, तो उत्तर सकारात्मक होने पर कानून के अनुसार न्यायालय अभियुक्त के सटीक शब्दों में दलील दर्ज करेगा, जिसके आधार पर न्यायालय के विवेक पर अभियुक्त को दोषी ठहराया जा सकता है। यदि सकारात्मक नहीं है तो न्यायालय को धारा 254 के साथ आगे बढ़ने की आवश्यकता है। यदि अभियुक्त दोषी होने की दलील देता है, और उसके खिलाफ आरोप कोई अपराध नहीं बनाते हैं तो केवल दलील से अभियुक्त को दोषी नहीं ठहराया जा सकता है। चूंकि मजिस्ट्रेट के पास दलील पर दोषी ठहराने या न ठहराने का विवेक है, यदि दलील पर अभियुक्त को दोषी ठहराया जाता है तो मजिस्ट्रेट धारा 360 के अनुसार

आगे बढ़ेगा अन्यथा अभियुक्त को सजा के सवाल पर सुनेगा और कानून के अनुसार उसे सजा देगा। यदि दोषी होने की दलील स्वीकार नहीं की जाती है तो मजिस्ट्रेट धारा 254 के अनुसार आगे बढ़ेगा।

यदि अभियुक्त को दलील पर दोषी नहीं ठहराया जाता है तो प्रक्रिया— यदि अभियुक्त को धारा 252 और 253 के तहत दोषसिद्ध नहीं किया जाता है तो धारा 254 अभियोजन और बचाव दोनों के मामले के बारे में प्रावधान करती है।

अभियोजन मामला—मजिस्ट्रेट आरोपी की सुनवाई करेगा और सभी साक्ष्य लेगा। सुनवाई में अभियोजन पक्ष को मामले को बनाने वाले तथ्यों और परिस्थितियों को सामने रखकर और मामले को साबित करने के लिए जिस साक्ष्य पर उसने भरोसा किया था, उसे उजागर करके अपना मामला खोलने का मौका दिया जाएगा। अभियोजन पक्ष के आवेदन पर मजिस्ट्रेट किसी भी गवाह को उपस्थित होने और कोई भी दस्तावेज या चीज पेश करने के लिए समन जारी करेगा। मजिस्ट्रेट धारा 274 के अनुसार साक्ष्य का ज्ञापन तैयार करेगा। समन मामलों में अन्य परीक्षणों की तरह ही मजिस्ट्रेट धारा 279 यानी आरोपी को साक्ष्य की व्याख्या और 280 यानी गवाहों के व्यवहार की रिकॉर्डिंग का अनुपालन करेगा।

बचाव पक्ष की सुनवाई— (बचाव पक्ष मामला)— धारा 254 के तहत अभियोजन पक्ष के साक्ष्य और धारा 313 के तहत बचाव पक्ष की जांच के बाद, इसके जारी रहने पर, न्यायालय धारा 254(1) के तहत बचाव पक्ष की सुनवाई करेगा। बचाव पक्ष की सुनवाई में अभियुक्त से अभियोजन पक्ष के साक्ष्य के खिलाफ अपना पक्ष रखने के लिए कहा जाएगा। किसी भी मामले में अभियुक्त की सुनवाई न होना आपराधिक मुकदमे में मूलभूत त्रुटि के बराबर होगा और इसे धारा 465 के तहत ठीक नहीं किया जा सकता है। अभियुक्त द्वारा प्रस्तुत साक्ष्य उसी तरह दर्ज किए जाएंगे जैसे धारा 274, 279, 280 के तहत अभियोजन पक्ष के मामले में दर्ज किए जाते हैं। बचाव पक्ष के साक्ष्य प्रस्तुत करने के बाद, उसे धारा 314 के तहत अपनी दलीलें पेश करने की अनुमति दी जाएगी।

दोषमुक्ति या दोषसिद्धि— धारा 254 के तहत साक्ष्य दर्ज करने के बाद यदि मजिस्ट्रेट को लगता है कि आरोपी दोषी नहीं है तो वह उसे बरी कर देगा। यदि आरोपी दोषी है तो मजिस्ट्रेट धारा 360 या 325 के अनुसार कार्यवाही करेगा अन्यथा कानून के अनुसार उसे सजा सुनाएगा।

अभियुक्त को न्यायालय के समक्ष पेश किया जाना या लाया जाना



अपराध के विवरण का स्पष्टीकरण



दोषी होने की दलील पर दोषसिद्धि की प्रक्रिया जब दलील पर दोषी नहीं ठहराया जाता



बरी करना दोषसिद्धि अभियोजन पक्ष की सुनवाई और साक्ष्य का रिकॉर्ड



बचाव पक्ष की सुनवाई और साक्ष्य का अभिलेख



धारा 314 के अंतर्गत तर्क प्रस्तुत करना



दोषमुक्ति/दोषसिद्धि

शिकायतकर्ता की अनुपस्थिति या मृत्यु— धारा 256 के अनुसार, अभियुक्त की उपस्थिति के लिए निर्धारित तिथि पर शिकायतकर्ता की अनुपस्थिति न्यायालय को अभियुक्त को बरी करने का अधिकार देगी, जब तक कि न्यायालय के पास मामले को किसी अन्य दिन के लिए स्थगित करने का कारण न हो। धारा 256(1) शिकायतकर्ता की मृत्यु के मामले में भी लागू होती है। यदि मृत शिकायतकर्ता का प्रतिनिधि 15 दिनों तक उस स्थान पर उपस्थित नहीं होता है, जहां प्रतिवादी उपस्थित हुआ था, तो सर्वोच्च न्यायालय द्वारा प्रतिवादी को बरी किया जा सकता है। ४५,

समन मामलों में निर्वहन- मैं शिकायत के अलावा अन्य मामलों में संस्थित मामलों को समन करता हूँ। धारा 258 प्रथम श्रेणी मजिस्ट्रेट को मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट की पूर्व स्वीकृति के साथ किसी भी चरण में कार्यवाही रोकने के लिए अधिकृत करती है। इसलिए यदि वह श्साक्ष के अभिलेख के पश्चातर् कार्यवाही रोक देता है तो यह दोषमुक्ति का निर्णय सुनाया जाता है, और यदि श्साक्ष के अभिलेख से पहले कार्यवाही रोक दी जाती है तो उसे मुक्त कर दिया जाता है जिसका प्रभाव उन्मुक्ति के समान होता है। यह विवादास्पद है कि शिकायत पर शुरू किए गए समन मामले में मजिस्ट्रेट के पास मामले को खत्म करने का कोई अधिकार नहीं है, भले ही उसके पास आरोपी के खिलाफ आगे बढ़ने के लिए पर्याप्त आधार न हो। ऐसा इसलिए है क्योंकि अगर मजिस्ट्रेट ऐसा करता है तो वह अपना ही आदेश वापस ले लेगा। सुप्रीम कोर्ट ने कहा कि प्रक्रिया जारी करना मजिस्ट्रेट का अंतरिम आदेश है, फैसला नहीं, इसलिए इसे वापस लिया जा सकता है। ऐसी परिस्थितियों में मजिस्ट्रेट को मामला खत्म करने का अधिकार देने के लिए किसी प्रावधान की आवश्यकता नहीं है खू, । शिकायत पर शुरू किए गए समन मामलों में मजिस्ट्रेट प्रक्रिया जारी करने के आदेश को खारिज, समीक्षा और वापस नहीं ले सकते। मामले को खत्म नहीं किया जा सकता है, ट्रायल कोर्ट को सुनवाई पूरी करनी होती है। ख 6 , समन मामलों में ट्रायल कोर्ट के मजिस्ट्रेट के पास कानून में ऐसे प्रावधान के अभाव में कार्यवाही खत्म करने का कोई अधिकार नहीं है। ऐसी परिस्थितियों में कोई व्यक्ति सीआरपीसी की धारा 482 के तहत उच्च न्यायालय का दरवाजा खटखटा सकता है

विश्लेषण-समन मामलों की सुनवाई अन्य सुनवाई प्रक्रियाओं की तुलना में कम औपचारिक होती है, ताकि त्वरित उपचार हो सके। इसलिए धारा 258, जो मजिस्ट्रेट को पर्याप्त आधार के अभाव में भी मामले को छोड़ने का अधिकार नहीं देती, किसी तरह से अभियुक्त के प्रति पक्षपातपूर्ण है। केएम मैथ्यू मामले में न्यायालय की राय थी कि यदि अभियुक्त के खिलाफ आरोप किसी अपराध के किए जाने को साबित नहीं करते हैं तो मजिस्ट्रेट के पास मामले को छोड़ने का निहित अधिकार है। विभिन्न न्यायिक घोषणाओं में इसने असहमति जताई है। अरविंद केजरीवाल मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने माना कि कानून मजिस्ट्रेट को धारा 258 के तहत मामले को छोड़ने के संबंध में विशेष रूप से सशक्त नहीं बनाता है और मामले को धारा 482 के तहत निपटाने के लिए उच्च न्यायालय को सौंप दिया। लेकिन इस बिंदु पर विचार करने की आवश्यकता है कि उच्च न्यायालय को भी मामले को फिर से देखने की आवश्यकता है ताकि पता लगाया जा सके कि अभियुक्त के खिलाफ आगे बढ़ने के लिए कोई पर्याप्त आधार है या नहीं, यह सब समन मामले के मुख्य उद्देश्य यानी त्वरित सुनवाई में बाधा डालेगा। यद्यपि यह मामला विभिन्न मामलों में सर्वोच्च न्यायालय के समक्ष उठाया गया था, लेकिन ऐसी परिस्थितियों में निष्पक्ष सुनवाई और अभियुक्त के अधिकारों को खतरे में डालने से बचाने के लिए इसकी पुनः जांच की जानी चाहिए।

प्रश्न न0 4- पुलिस रिपोर्ट से भिन्न आधार पर संस्थित वारंट मामलों के विचारण की प्रक्रिया का वर्णन कीजिए।

उत्तर- पुलिस रिपोर्ट से भिन्न आधार पर संस्थित मामले में दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 244 से 247 तथा 248 से 250 पुलिस रिपोर्ट पर संस्थित मामले में विचारण की प्रक्रिया से सम्बन्धित है। इस प्रकार के मामले मजिस्ट्रेट द्वारा विचारणीय होते हैं। इनकी प्रक्रिया निम्नलिखित है-

धारा 244 अभियोजन का साक्ष्य- धारा 244 में कहा गया है कि पुलिस रिपोर्ट के अलावा किसी अन्य तरीके से शुरू किए गए वारंट मामलों में और सीधे मजिस्ट्रेट के पास दायर किए गए मामलों में, आरोपी को मजिस्ट्रेट के सामने पेश किया जाता है, जो अभियोजन पक्ष द्वारा नामित गवाहों को बुलाकर और पेश किए गए सभी सबूतों को लेकर सुनवाई की प्रक्रिया शुरू करता है। भारतीय साक्ष्य अधिनियम की धारा 138 के तहत सभी सबूतों पर विचार किया जाना चाहिए और मजिस्ट्रेट द्वारा रिकॉर्ड में दर्ज किया जाना चाहिए।

धारा 245- सीआरपीसी की धारा 245 में कहा गया है कि यदि अभियोजन पक्ष द्वारा अभियुक्त के खिलाफ कोई मामला नहीं बनाया गया है, तो मजिस्ट्रेट द्वारा अभियुक्त को बरी कर दिया जाएगा, जिसे चुनौती न दिए जाने पर उसे दोषी ठहराया जा सकता है। और यदि अभियोजन पक्ष द्वारा प्रस्तुत आरोपों को मजिस्ट्रेट द्वारा निराधार माना जाता है, तो मजिस्ट्रेट को किसी भी पिछले चरण में अभियुक्त को बरी करने से कोई नहीं रोक सकता है।

धारा 246 प्रक्रिया जहाँ अभियुक्त उन्मोचित नहीं किया जाता- क बार जब अभियोजन पक्ष द्वारा मजिस्ट्रेट के समक्ष सभी साक्ष्य प्रस्तुत कर दिए जाते हैं और उनके द्वारा उक्त साक्ष्य की जांच कर ली जाती है, तो मजिस्ट्रेट की राय होती है कि शिकायत में उल्लिखित आरोपों के लिए उचित आधार मौजूद है और आरोपी अपराध करने में सक्षम है। आरोप तय किया जाता है और निष्पक्ष सुनवाई की जाती है। आरोपी को अपना बचाव करने का अवसर दिया जाता है। **रतिलाल भानजी मिठानी बनाम महाराष्ट्र राज्य, 1978** के मामले में, यह निर्धारित किया गया था कि यह मानने के लिए उचित आधार थे कि आरोपी ने अपराध किया है, और मजिस्ट्रेट ने धारा 246(1) के तहत मामले को खारिज करने से इनकार करके मुकदमे की कार्यवाही शुरू की।

धारा 246(2) में कहा गया है कि अभियुक्त के खिलाफ आरोप उसे पढ़कर सुनाया और समझाया जाना चाहिए, और उससे पूछा जाएगा कि क्या वह आरोपों में दोषी होना चाहता है या मुकदमा चलाकर उक्त आरोपों का मुकाबला करना चाहता है। धारा 246(3) अभियुक्त को दोषी होने की दलील देने और न्यायालय के समक्ष खुद को प्रस्तुत करने का अवसर देती है। मजिस्ट्रेट के पास दोषी होने की दलील दर्ज करने, अभियुक्त को दोषी ठहराने और उसे उचित समझकर दंडित करने का अधिकार है। यदि अभियुक्त दोषी होने की दलील नहीं देता है, तो बाद में सुनवाई की जाएगी और अभियुक्त को निष्पक्ष सुनवाई दी जाएगी। मजिस्ट्रेट लिखित रूप में बता सकता है कि वह किसी

गवाह को जिरह के लिए वापस बुलाने के लिए किन कारणों को उचित समझता है और यदि ऐसा है, तो अभियोजन पक्ष के कौन से गवाह हैं, जिनके साक्ष्य दर्ज किए गए हैं। वही कारण दर्ज किए जाते हैं और अभियोजन पक्ष के गवाहों को मजिस्ट्रेट द्वारा जिरह के लिए वापस बुलाया जाता है। धारा 246 के तहत उपधारा (5) और (6) अभियुक्त को अभियुक्त द्वारा नामित किसी भी गवाह को वापस बुलाने और जिरह या पुनः परीक्षा करने का अधिकार देती है, जिसके बाद उन्हें बरी कर दिया जाता है। अभियोजन पक्ष द्वारा उपलब्ध कराए गए शेष गवाहों के साक्ष्य लिए जाते हैं और उन्हें आवश्यकतानुसार जिरह और पुनः परीक्षा के बाद बरी कर दिया जाता है। इसका अनुप्रयोग वरिसाई रोथर और अन्य बनाम अज्ञात, 1922 के मामले में देखा जा सकता है।

धारा 248— धारा 248 में कहा गया है कि मजिस्ट्रेट द्वारा साक्ष्य की जांच करने के बाद निर्णय लेने के बाद, निर्णय सुनाया जाता है। यदि अभियुक्त दोषी नहीं पाया जाता है, तो मजिस्ट्रेट द्वारा धारा 248(1) के तहत बरी करने का आदेश दर्ज किया जाएगा। यदि अभियुक्त दोषी पाया जाता है, तो मजिस्ट्रेट अभियुक्त की सुनवाई के बाद उसे सजा सुनाएगा, यदि वह धारा 325 या धारा 360 के प्रावधानों के अनुसार आगे नहीं बढ़ता है। और दोषसिद्धि का यह आदेश धारा 248(2) के तहत दर्ज किया जाएगा। से मामले में जहां धारा 211(7) के प्रावधानों के तहत पहले से दोषसिद्धि है, और अभियुक्त यह स्वीकार नहीं करता है कि उसे पहले भी आरोप के अनुसार दोषी ठहराया जा चुका है, मजिस्ट्रेट अभियुक्त की दोषसिद्धि के बाद कथित पिछली दोषसिद्धि के संबंध में साक्ष्य एकत्र कर सकता है और उस निष्कर्ष को दर्ज कर सकता है। हालांकि, मजिस्ट्रेट द्वारा कोई आरोप नहीं बढ़ा जाएगा, अभियुक्त को दलील देने के लिए नहीं कहा जाएगा और अभियोजन पक्ष द्वारा पिछली दोषसिद्धि का उल्लेख नहीं किया जाएगा या उसके द्वारा प्रस्तुत नहीं किया जाएगा जब तक कि अभियुक्त को धारा 248(2) के तहत दोषी नहीं ठहराया गया हो।

धारा 250 उचित कारण के बिनस अभियोग के लिए प्रतिकर— धारा 250 में उन मामलों से संबंधित प्रक्रिया पर चर्चा की गई है, जहां मजिस्ट्रेट या पुलिस अधिकारी को शिकायत करने पर मामला दर्ज किया जाता है और मजिस्ट्रेट पाता है कि आरोपी व्यक्ति के खिलाफ कोई आधार नहीं है। आरोपी को तुरंत बरी कर दिया जाएगा। शिकायतकर्ता को अपनी शिकायत को उचित ठहराने और यह बताने के लिए बुलाया जाएगा कि उसे उस व्यक्ति को मुआवजा क्यों नहीं देना चाहिए, जिसके खिलाफ शिकायत की गई थी। मजिस्ट्रेट तब आरोपी को जुर्माने की राशि से अधिक नहीं एक निश्चित राशि का मुआवजा देने का आदेश देगा, यदि वह संतुष्ट हो जाता है कि शिकायत दर्ज करने के कारण निराधार हैं और उनमें कोई आधार नहीं है।

यदि एक से अधिक आरोपी व्यक्ति हैं, तो मजिस्ट्रेट शिकायतकर्ता को सभी आरोपियों को मुआवजा देने का आदेश देगा। इसे वल्ली मिथा बनाम अज्ञात, 1919 के मामले में देखा जा सकता है।

अब्दुर रहीम बनाम सैयद अबू मोहम्मद बरकत अली शाह, 1927 के मामले में, न्यायालय ने घोषित किया था कि मुआवजे की राशि केवल आरोपी को दी जाएगी, उसके रिश्तेदारों या किसी अन्य व्यक्ति को नहीं।

शिकायतकर्ता द्वारा क्षतिपूर्ति राशि का भुगतान न करने पर उसे 30 दिन से अधिक की साधारण कारावास की सजा नहीं होगी। यदि व्यक्ति पहले से ही कारावास में है तो भारतीय दंड संहिता की धारा 68 और 69 लागू होगी। तथा जिस व्यक्ति को क्षतिपूर्ति राशि का भुगतान करने का निर्देश दिया गया है, उसे शिकायत के संबंध में किसी भी आपराधिक या सिविल दायित्व से छूट दी जाएगी। धारा 250(6) में कहा गया है कि द्वितीय श्रेणी मजिस्ट्रेट द्वारा उपधारा (2) के अंतर्गत सौ रुपए से अधिक क्षतिपूर्ति का भुगतान करने का आदेश दिए जाने पर शिकायतकर्ता या मुखबिर के विरुद्ध अपील की जा सकती है, जैसा कि **ए.एम. परेशा बनाम डी.पी. डेमेलो, 1924** के मामले में देखा गया है। अपील की अवधि समाप्त होने से पहले या न्यायालय द्वारा अपील का निर्णय दिए जाने के बाद क्षतिपूर्ति राशि का भुगतान नहीं किया जाएगा। तथा ऐसे मामलों में जहां अपील से कोई संबंध नहीं है, राशि का भुगतान आदेश पारित होने की तिथि से एक माह बाद किया जाएगा।

प्रश्न न० 5— अपील न्यायालय की शक्तियां बताइए। क्या अपील न्यायालय अतिरिक्त साक्ष्य ले सकता है?

उत्तर— दण्ड प्रक्रिया संहिता के अन्तर्गत अपील न्यायालय की शक्तियाँ प्राप्त हैं—

(1) धारा 386 के अन्तर्गत अपील न्यायालय की शक्तियाँ— संहिता की धारा 386 के अनुसार यदि न्यायालय अभिलेख का परिशीलन करने तथा अपीलार्थी एवं लोक अभियोजक को सुनने के पश्चात् उसका विचार है कि अपील में हस्तक्षेप करने का आधार नहीं तो वह अपील को खारिज कर सकता है।

(क) दोष मुक्त के विरुद्ध अपील किये जाने पर — अधीनस्थ न्यायालय के आदेश को उलट सकता है और अतिरिक्त जाँच किये जाने का निदेश दे सकता है या विचारण के लिए सुपुर्द करने का आदेश दे सकता है।

(ख) दोषसिद्ध के विरुद्ध अपील की दशा में — (1) निष्कर्ष एवं दण्डादेश को उलट सकता है और अभियुक्त को दोषमुक्त या उन्मोचित कर सकता है या मामले के पुनः विचारण का या विचारार्थ सुपुर्द किये जाने का आदेश दे सकता है।

(2) दण्डादेश का कायम रखते हुए निष्कर्ष में परिवर्तन कर सकता है।

(3) निष्कर्ष में परिवर्तन करके या किए बिना दण्ड के स्वरूप या परिणाम में परिवर्तन कर सकता है किन्तु इस प्रकार नहीं की दण्ड वृद्धि हो जाये।

(ग) दण्डादेश की वृद्धि के लिये अपील में—(1) अभियोजन पक्ष या परिवादी जब आरंभिक न्यायालय द्वारा किए गए विचारण के पश्चात् अभियुक्त के दोष सिद्ध होने के बाद आरंभिक न्यायालय द्वारा दिए गए दंड से आहत होता है

तथा दंड में वृद्धि के लिए जब अपील की जाती है तो यहां पर अपीलीय न्यायालय को क्या शक्तियां प्राप्त होती हैं इसका उल्लेख दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 386 की उपधारा 2 में किया गया है।

(2) निष्कर्ष आदेश को पलट सकता है और अभियुक्त को दोषमुक्त या उन्मोचित कर सकता है सक्षम न्यायालय को अभियुक्त के पुनर्विचार का आदेश दे सकता है।

(3) दंडादेश को यथावत रखते हुए निष्कर्ष में परिवर्तन कर सकता है।

(4) निष्कर्ष में परिवर्तन करके या किए बिना दंड के स्वरूप अथवा परिमाण में परिवर्तन कर सकता है जिससे उसमें वृद्धि एवं कमी हो जाए।

(5) यदि अपील किसी अन्य आदेश के विरुद्ध हुई है तो अपीलीय न्यायालय ऐसे आदेश को परिवर्तित कर सकता है या पलट सकता है।

(2) दण्डादेश का निलंबन तथा अपीलार्थी को छोड़ने की शक्ति— दंड प्रक्रिया संहिता 1973 की धारा 389 की उपधारा (3) के अंतर्गत जिस व्यक्ति को दोषसिद्ध किया गया है उस व्यक्ति का उतने समय के लिए दंड का निलंबन किया जा सकता है जितने समय में अपील करने संबंधी एक युक्तियुक्त समय लगता है।

दोषसिद्ध किए गए व्यक्ति को यह अधिकार अधिकार पूर्वक प्राप्त है अर्थात् वह दंड देने वाले न्यायालय से अधिकार की तरह इतनी अवधि के लिए दंड का निलंबन मांग सकता है जितनी युक्तियुक्त अवधि में अपील की जा सके। परंतु दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 389(3) के अंतर्गत यह अधिकार दोषसिद्ध किए गए व्यक्ति को 2 शर्तों पर प्राप्त होता है—

(1)— जब ऐसा दोषसिद्ध किया गया व्यक्ति जमानत पर रहते हुए 3 वर्ष तक की अवधि के लिए कारावास से दंडित किया गया है।

(2)— ऐसा दोषसिद्ध किया गया व्यक्ति उस अपराध में दोषसिद्ध किया गया है जो जमानतीय है

यदि न्यायालय इस प्रकार के प्रकरण में दोषसिद्ध किए गए व्यक्ति को जमानत पर छोड़ दिए जाने से इंकार करता है तो ऐसा इंकार करने के विशेष कारणों का उसे उल्लेख करना होगा कि ऐसा दोषसिद्ध (Convicted) किया गया व्यक्ति जमानत पर क्यों नहीं छोड़ा जा सकता और उसका दंडादेश निलंबित क्यों नहीं किया जा सकता।

कश्मीरा सिंह बनाम पंजाब राज्य 1977 सुप्रीम कोर्ट 2147 के मामले में उच्चतम न्यायालय ने कहा है कि आजीवन कारावास से दंडित अभियुक्त को जमानत पर छोड़े जाने की नीति पर गंभीरता से पुनः विचार किया जाना चाहिए क्योंकि अपील के निपटारे में अत्यधिक विलंब अपीलार्थी के लिए अहितकर होता है। यह भी अपीलार्थी को उच्चतम न्यायालय में अपील की विशेष अनुमति मंजूर की है तो साधारणतः उसे जमानत पर छोड़ा जाना चाहिए।

(3) दोषमुक्ति की दशा में अभियुक्त को गिरफ्तार करने का आदेश देने की शक्ति— यदि दोषमुक्ति का ऐसा आदेश किसी शिकायत पर संस्थित किसी मामले में पारित किया जाता है और उच्च न्यायालय, इस संबंध में शिकायतकर्ता द्वारा किए गए आवेदन पर, दोषमुक्ति के आदेश के विरुद्ध अपील करने की विशेष इजाजत देता है, तो शिकायतकर्ता ऐसी अपील उच्च न्यायालय में प्रस्तुत कर सकेगा।

अपील न्यायालय द्वारा अतिरिक्त साक्ष्य लिया जाना— आम तौर पर, अपील की अदालत अतिरिक्त साक्ष्य नहीं लेती और न ही गवाहों की सुनवाई करती है। हालांकि, कुछ मामलों में, अपील न्यायालय को असाधारण परिस्थितियों में अतिरिक्त साक्ष्य लेने का अधिकार होता है। इसके लिए, सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 41 नियम 27 के तहत निर्धारित शर्तों का पूरा होना जरूरी है। **भगवान दास मामले में** न्यायालय ने कहा कि अतिरिक्त साक्ष्य को अपील स्तर पर तभी स्वीकार अगर अतिरिक्त साक्ष्य सेशन कोर्ट या मजिस्ट्रेट ने लिया है, तो वह उसे अपील कोर्ट को प्रमाणित करेगा। इसके बाद, अपील कोर्ट आगे बढ़कर उसका निपटारा कर सकता है। अतिरिक्त साक्ष्य लिए जाने पर, अभियुक्त या उसके वकील को भी मौजूद रहने का अधिकार होता है। अगर अपील कोर्ट अतिरिक्त साक्ष्य लेने का फैसला करता है, तो उसे यह भी दर्ज करना होगा कि उसने ऐसा क्यों किया। साथ ही, यह तय करना होगा कि जो अतिरिक्त साक्ष्य मांगा गया है, क्या वह फैसला सुनाने के लिए जरूरी है या नहीं।

प्रश्न न० 6— दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 144 का उद्देश्य नागरिकों की स्वतंत्रता को प्रतिबंधित करना नहीं, अपितु अविलम्ब शान्ति भंग के खतरे को दूर करना है। व्याख्या कीजिए।

उत्तर— धारा 144 उद्देश्य—दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 144 किसी भी व्यक्ति के विरुद्ध किसी मजिस्ट्रेट को यह निर्देश जारी करने की शक्ति प्रदान करती है कि वह व्यक्ति कोई कार्य विशेष न करे या अपने कब्जे की या अपने संरक्षण में की किसी विशिष्ट सम्पत्ति के बारे में कोई उचित व्यवस्था करे ताकि विधिपूर्वक अधिकृत किसी व्यक्ति को कोई बाधा, क्षोभ या क्षति का या मानव जीवन, स्वास्थ्य या क्षेत्र जैसे खतरे का या लोक प्रशांति विक्षुब्ध होने का या बलवे या दंगे का निवारण किया जा सके। धारा 144 के अन्तर्गत मजिस्ट्रेट द्वारा दिया जाने वाला आदेश न्यायिक या कार्यपालक प्रकृति का है।

उच्चतम न्यायालय ने भी अपने हाल ही के एक निर्णय में यह स्पष्ट रूप से कहा है कि धारा 144 के अन्तर्गत दिये जाने वाले आदेश का आशय आकस्मिक शान्ति-भंग के खतरे का निवारण करना है। यह न तो स्थायी हो सकता है और अर्द्धस्थायी (आचार्य जगदीश्वरानन्द अवधूत एवं अन्य बनाम कमिश्नर ऑफ पुलिस, कलकत्ता एवं अन्य ए.आई.आर. 1984 एस.सी. 51)

शान्ति भंग आदि को रोकने के उपचार एवं आदेश—ऐसे मामलों में, जहां जिला मजिस्ट्रेट, सब-डिविजनल मजिस्ट्रेट या राज्य सरकार द्वारा विशेष रूप से सशक्त किसी अन्य कार्यपालक मजिस्ट्रेट की राय में, इस धारा के अधीन

कार्यवाही करने के लिए पर्याप्त आधार है और तत्काल रोकथाम या शीघ्र उपचार वांछनीय है, ऐसा मजिस्ट्रेट मामले के तात्त्विक तथ्यों को बताते हुए और धारा 134 द्वारा उपबंधित रीति से तामील करते हुए लिखित आदेश द्वारा किसी व्यक्ति को किसी कार्य से विरत रहने या अपने कब्जे में या अपने प्रबंध के अधीन किसी संपत्ति के संबंध में कोई निश्चित व्यवस्था करने का निर्देश दे सकेगा, यदि ऐसा मजिस्ट्रेट समझता है कि ऐसे निर्देश से विधिपूर्वक नियोजित किसी व्यक्ति को बाधा, कष्ट या चोट पहुंचने, या मानव जीवन, स्वास्थ्य या सुरक्षा को खतरा होने, या लोक शांति भंग होने, या दंगा या दंगा होने की संभावना है या रोकने की प्रवृत्ति है। इस धारा के अधीन आदेश, आपातस्थिति में या ऐसे मामलों में जहां परिस्थितियां ऐसी न हों कि उस व्यक्ति को, जिसके विरुद्ध आदेश दिया गया है, नोटिस की समय पर तामील की जा सके, एकपक्षीय रूप से पारित किया जा सकेगा।

इस धारा के अंतर्गत आदेश किसी विशेष व्यक्ति, या किसी विशेष स्थान या क्षेत्र में रहने वाले व्यक्तियों, या किसी विशेष स्थान या क्षेत्र में आने-जाने वाले आम जनता के लिए जारी किया जा सकता है। इस धारा के अधीन कोई भी आदेश उसके किए जाने की तिथि से दो मास से अधिक समय तक प्रवृत्त नहीं रहेगा। परन्तु यदि राज्य सरकार मानव जीवन, स्वास्थ्य या सुरक्षा को खतरा उत्पन्न होने से रोकने के लिए या बलवा किसी दंगे को रोकने के लिए ऐसा करना आवश्यक समझती है तो वह अधिसूचना द्वारा निदेश दे सकेगी कि इस धारा के अधीन मजिस्ट्रेट द्वारा किया गया आदेश उस तारीख से, जिसको मजिस्ट्रेट द्वारा किया गया आदेश, यदि ऐसा आदेश न होता तो, समाप्त हो जाता, छह मास से अधिक की ऐसी अतिरिक्त अवधि के लिए प्रवृत्त रहेगा, जैसा वह उक्त अधिसूचना में विनिर्दिष्ट करे। कोई भी मजिस्ट्रेट स्वप्रेरणा से या किसी व्यथित व्यक्ति के आवेदन पर इस धारा के अधीन स्वयं या अपने अधीनस्थ किसी मजिस्ट्रेट या अपने पूर्ववर्ती द्वारा दिए गए किसी आदेश को रद्द या परिवर्तित कर सकेगा।

राज्य सरकार स्वप्रेरणा से या किसी व्यथित व्यक्ति के आवेदन पर उपधारा (4) के परन्तुक के अधीन अपने द्वारा पारित किसी आदेश को रद्द या परिवर्तित कर सकेगी। जहां उपधारा (5) या उपधारा (6) के अधीन कोई आवेदन प्राप्त होता है, वहां, यथास्थिति, मजिस्ट्रेट या राज्य सरकार आवेदक को उसके समक्ष व्यक्तिगत रूप से या वकील के माध्यम से उपस्थित होने और आदेश के विरुद्ध कारण बताने का शीघ्र अवसर प्रदान करेगी और यदि, यथास्थिति, मजिस्ट्रेट या राज्य सरकार आवेदन को पूर्णतः या भागतः खारिज कर देती है तो वह ऐसा करने के कारणों को लिखित रूप में अभिलिखित करेगी।

आदेश की तामील—सीआरपीसी की धारा 144 शांति कायम करने या किसी आपात स्थिति से बचने के लिए लगाई जाती है। किसी तरह के सुरक्षा, स्वास्थ्य संबंधित खतरे या दंगे की आशंका हो। धारा-144 जहां लगती है, उस इलाके में पांच या उससे ज्यादा आदमी एक साथ जमा नहीं हो सकते हैं।

आदेश की अवधि—इस धारा के अंतर्गत कोई भी आदेश 2 महीने से अधिक अवधि तक लागू नहीं रह सकता।

राज्य सरकार अपने विवेक के अनुसार वैधता को दो महीने के लिए बढ़ाने का विकल्प चुन सकती है, जिसकी अधिकतम वैधता छह महीने तक बढ़ाई जा सकती है। स्थिति सामान्य होने पर धारा 144 हटाई जा सकती है।

आदेश में परिवर्तन करना या उसे विखण्डित करना—मजिस्ट्रेट अपनी स्वप्रेरण से या किसी व्यक्ति के आवेदन किये जाने पर ऐसे आदेश में परिवर्तन कर सकेगा या उसे विखण्डित कर सकेगा जो उसने स्वयं या किसी अधीनस्थ मजिस्ट्रेट या पूर्ववर्ती मजिस्ट्रेट ने दिया हो।

राज्य सरकार भी अपने द्वारा दिये गये आदेश को अपनी स्वप्रेरण से या किसी व्यक्ति के आवेदन किये जाने पर उसमें परिवर्तन कर सकेगी या उसे विखण्डित कर सकेगी, बशर्ते कि वह उसे छः माह जारी रखना न समझे।

आदेश में परिवर्तन या उसे विखण्डित किये जाने का आवेदन प्राप्त होने पर मजिस्ट्रेट ऐसे व्यक्ति को सुनवाई का शीघ्र अवसर देगा एवं मजिस्ट्रेट या राज्य सरकार उसके आवेदन कसे अंशतः या पूर्णतः अस्वीकार कर देती है तो ऐसे कारणों को लेखबद्ध किया जायेगा।

धारा 144 और 144 के तहत प्रतिबंध लगाने के लिए एक कार्यकारी मजिस्ट्रेट की शक्ति जैसा कि हमने ऊपर चर्चा की है, आपराधिक प्रक्रिया संहिता एक कार्यकारी मजिस्ट्रेट को किसी भी गतिविधि को शुरू होने या होने से रोकने के लिए एकतरफा आदेश जारी करने की असाधारण शक्ति प्रदान करती है, जिसके परिणामस्वरूप किसी भी व्यक्ति को, जो वैध रूप से नियोजित है, सार्वजनिक संपत्ति या बड़े पैमाने पर समाज को अधिक नुकसान पहुंचाने का परिणाम है खपप,। यह खंड एक कार्यकारी मजिस्ट्रेट द्वारा आदेश के लिए प्रदान करता है, जो 2 महीने तक लागू रह सकता है और राज्य सरकार के आदेश से छह महीने तक बढ़ाया जा सकता है, यह भी प्रदान करता है कि इस तरह के आदेश को मजिस्ट्रेट या किसी भी पीड़ित व्यक्ति द्वारा, मजिस्ट्रेट या राज्य सरकार को एक आवेदन के माध्यम से रद्द भी किया जा सकता है, और इस तरह के आवेदन पर पहले विचार किया जाना चाहिए और यदि अधिकारी इसे उचित और उचित समझते हैं, तो अनुरोध के अनुसार कार्य कर सकते हैं। हालांकि, **एम.डी. गुलाम अब्बास एवं अन्य बनाम एम.डी. इब्राहिम एवं अन्य**, (1978) के मामले में, सर्वोच्च न्यायालय ने एक पुनरीक्षण याचिका में सीआरपीसी की धारा 144 के तहत प्रावधानों पर चर्चा करते हुए यह भी कहा कि इस धारा के तहत आदेश कभी-कभी ऐसे व्यक्ति पर जारी किया जा सकता है जो अपनी संपत्ति पर कोई निश्चित कानूनी कार्य कर रहा हो, लेकिन ऐसा कार्य मानव जीवन और सार्वजनिक शांति के लिए खतरा बन रहा हो। उदाहरण के लिए, यदि कोई व्यक्ति अपने घर की छत से भड़काऊ नारे लगाता है, तो ऐसी स्थिति में आदेश जारी करना उचित होगा। किसी भी कार्यकारी मजिस्ट्रेट द्वारा किसी व्यक्ति विशेष को खुद को प्रतिबंधित करने या किसी निश्चित कार्य को करने से परहेज करने का निर्देश देने वाला ऐसा आदेश या किसी विशिष्ट क्षेत्र में चार या अधिक लोगों के एकत्र

होने को प्रतिबंधित करना, जहां उस निर्दिष्ट क्षेत्र में सरकार द्वारा यातायात भी प्रतिबंधित है। इस तरह के आदेश के तहत कुछ विशेषताएं हैं जैसे कि जनता की आवाजाही नहीं होना, कोई सार्वजनिक सभा नहीं होना, आदेश वापस लिए जाने तक सभी शैक्षणिक संस्थानों को बंद करना, साथ ही कुछ मामलों में इंटरनेट को अवरुद्ध करना आदि।

हालांकि, यह धारा कार्यकारी मजिस्ट्रेटों को अधिक शक्ति प्रदान करती है, लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि वे इसका दुरुपयोग कर सकते हैं, या किसी राजनीतिक दबाव में इस धारा के साथ काम कर सकते हैं। भारत के सर्वोच्च न्यायालय की तीन न्यायाधीशों की पीठ ने **गुलाम अब्बास और अन्य बनाम उत्तर प्रदेश राज्य (1982)** के मामले में कहा कि धारा 144 के तहत शक्ति का प्रयोग मजिस्ट्रेट द्वारा किसी भी पीड़ित के स्थापित अधिकारों की रक्षा के लिए किया जाना चाहिए, जैसा कि याचिकाकर्ता के मामले में थाय और मजिस्ट्रेट की कार्रवाई गलत करने वाले के प्रति निर्देशित होनी चाहिए न कि गलत करने वाले के प्रति।

प्रश्न न0 7— सेशन न्यायालय के समक्ष विचारण सम्बन्धी प्रक्रिया का संक्षेप में वर्णन कीजिए।

उत्तर— शुरुआत में, मजिस्ट्रेट अपराध का संज्ञान लेता है और उसके बाद धारा 209 के अनुसार, वह मामले को सत्र न्यायालय को सौंप देता है। धारा 190 के तहत मजिस्ट्रेट को शिकायत मिलने पर, पुलिस रिपोर्ट पर, पुलिस अधिकारी के अलावा किसी अन्य व्यक्ति से सूचना मिलने पर या अपने ज्ञान के आधार पर अपराध का संज्ञान लेने का अधिकार है। धारा 193 के अनुसार, सत्र न्यायालय सीधे अपराध का संज्ञान नहीं ले सकता है, लेकिन सत्र न्यायालय को मामले की सुपुर्दगी के बिना अपराध का संज्ञान लेने की अनुमति है, यदि मजिस्ट्रेट मामले को उसे सौंपता है या यदि वह एक विशेष न्यायालय के रूप में कार्य करता है। धारा 207 और धारा 208 के तहत मजिस्ट्रेट को प्रथम सूचना रिपोर्ट, पुलिस या मजिस्ट्रेट द्वारा दर्ज किए गए बयान आदि जैसे दस्तावेजों की प्रतियां आरोपी को प्रदान करने की आवश्यकता होती है। धारा 209 के तहत, अगर मजिस्ट्रेट को लगता है कि अपराध केवल सेशन कोर्ट द्वारा ही सुनवाई योग्य है, तो वह मामले को सेशन कोर्ट को सौंप सकता है और सभी दस्तावेज और रिकॉर्ड उसे भेज सकता है और या तो जमानत दे सकता है या आरोपी को हिरासत में ले सकता है और सरकारी वकील को भी सूचित करेगा। सेशन कोर्ट के समक्ष सुनवाई की प्रक्रिया धारा 225 से धारा 237 तक बताई गई है। धारा 225 के अनुसार, सेशन कोर्ट के समक्ष प्रत्येक सुनवाई सरकारी वकील द्वारा संचालित की जाती है।

पक्ष (धारा 225)— सत्र न्यायालय के समक्ष मुकदमे में अभियोजन का संचालन सरकारी वकील द्वारा किया जाएगा। अभियुक्त को अपनी पसंद का वकील नियुक्त करने का अधिकार है। यदि वह बचाव पक्ष के वकील को नियुक्त करने में असमर्थ है, तो न्यायालय राज्य के खर्च पर उसे नियुक्त करता है। मुकदमा शुरू करने से पहले अभियुक्त को पुलिस रिपोर्ट, एफआईआर आदि जैसे दस्तावेजों की प्रतियां प्रदान की जाती हैं।

मामला खोलना (धारा 226)— सरकारी अभियोक्ता अभियुक्त के खिलाफ आरोप का वर्णन करके मामले की शुरुआत करता है। वह संक्षेप में बताता है कि वह किस साक्ष्य के आधार पर अपराध साबित करना चाहता है। अभियोक्ता का कर्तव्य दोषसिद्धि सुनिश्चित करना नहीं है, बल्कि न्यायाधिकरण के समक्ष मामले के तथ्यों को रखना है, जिसका काम न्याय करना है।

अभियुक्त का उन्मोचन (धारा 227)— दोनों पक्षों की सुनवाई के बाद यदि न्यायालय को लगता है कि आरोपी के खिलाफ कार्यवाही करने के लिए पर्याप्त आधार नहीं है, तो वह उसे आरोपमुक्त कर सकता है और ऐसा करने का कारण दर्ज कर सकता है। किसी गवाह से पूछताछ की गुंजाइश नहीं है, लेकिन दोनों पक्षों के पास आरोप तय करने या आरोपमुक्त करने के पक्ष में अपना पक्ष रखने की गुंजाइश है।

आरोप तय करना (धारा 228)— दोनों पक्षों को सुनने के बाद यदि न्यायालय यह मानता है कि अभियुक्त ने अपराध किया होगा तो— यदि अपराध विशेष रूप से सत्र न्यायालय द्वारा विचारणीय है, तो लिखित रूप में आरोप तैयार किया जाता है। यदि अपराध का मुकदमा विशेष रूप से सत्र न्यायालय द्वारा नहीं चलाया जा सकता है तो वह आरोप तय करता है और मामले को मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट को स्थानांतरित करता है। कांति भद्र शाह एवं अन्य बनाम पश्चिम बंगाल राज्य के मामले में यह माना गया था कि सीआरपीसी की धारा 228 के तहत शक्तियों का प्रयोग करते हुए न्यायाधीश को आरोपी के खिलाफ आरोप तय करने के लिए अपने कारणों को दर्ज करने की आवश्यकता नहीं है। आरोप तय करते समय केवल प्रथम दृष्टया मामला देखा जाना होता है। इस स्तर पर न्यायाधीश को यह देखने के लिए आवश्यक विस्तृत आदेश दर्ज करने की आवश्यकता नहीं है कि मामला उचित संदेह से परे है या नहीं, जैसा कि सर्वोच्च न्यायालय ने भावना बाई बनाम घनश्याम एवं अन्य में माना है।

रुक्मिणी नार्वेकर बनाम विजया सातार्डकर के मामले में न्यायालय ने फैसला दिया था कि आरोपी आरोप तय करने के चरण में कोई सबूत पेश नहीं कर सकता है और आरोप तय करते समय केवल उन सामग्रियों पर ही विचार किया जा सकता है जो धारा 227 में निर्दिष्ट हैं।

आरोप की व्याख्या और दलील के बारे में पूछताछ (धारा 228(2))— आरोप की विषय-वस्तु अभियुक्त को समझाई जानी चाहिए ताकि वह अपराध के लिए दोषी होने की दलील दे सके या मुकदमा चलाने का दावा कर सके। बनवारी बनाम उत्तर प्रदेश राज्य में न्यायालय ने माना कि अभियुक्त को आरोप पढ़कर सुनाने या समझाने में चूक से मुकदमा तब तक प्रभावित नहीं होगा जब तक कि यह न दिखाया जाए कि धारा 228 का पालन न करने से अभियुक्त के प्रति पक्षपात हुआ है।

दोषी होने की दलील पर दोषसिद्धि (धारा 229)— यदि अभियुक्त अपना दोष स्वीकार करता है तो न्यायाधीश उसकी दलील को दर्ज करेगा और अपने विवेक से उसे दोषी करार दे सकता है। क्वीन एम्प्रेस बनाम भादू में यह माना गया था कि दोषी होने की दलील स्पष्ट शब्दों में होनी चाहिए अन्यथा ऐसी दलील को दोषी नहीं होने की दलील के बराबर माना जाता है। धारा 229 में कहा गया है कि यदि कोई अभियुक्त अपना दोष स्वीकार करता है तो न्यायाधीश अपने विवेक के अनुसार उसे दोषी ठहराएगा और उसे दर्ज करेगा। न्यायालय दोषी होने की दलील के आधार पर किसी अभियुक्त को दोषी नहीं ठहरा सकता है जहां अपराध ऐसी प्रकृति का है जिसमें सजा मृत्यु या आजीवन कारावास है। हसरुद्दीन मोहम्मद बनाम सम्राट में न्यायालय ने माना कि न्यायालय के लिए किसी ऐसे व्यक्ति को, जिस पर अपराध का आरोप है, उसके दोषी होने की दलील के आधार पर दोषी ठहराना अनिच्छुक होगा, जिसमें सजा मृत्यु या आजीवन कारावास है। यदि अभियुक्त को उसके दोषी होने की दलील के आधार पर दोषी ठहराया जाता है तो अभियुक्त के अपील के अधिकार को धारा 375 द्वारा कम कर दिया जाता है।

अभियोजन साक्ष्य की तारीख (धारा 230)— यदि अभियुक्त दलील देने से इंकार कर देता है या दलील नहीं देता है या दावा करता है कि उस पर मुकदमा चलाया जाएगा या उसे धारा 229 के तहत दोषी नहीं ठहराया गया है, तो न्यायाधीश गवाह की परीक्षा के लिए तारीख तय करेगा या किसी गवाह को अनिवार्य रूप से उपस्थित होने या कोई वस्तु/दस्तावेज पेश करने का आदेश दे सकता है।

अभियोजन पक्ष के लिए साक्ष्य (धारा 231)— उपरोक्त निर्धारित तिथि को न्यायाधीश अभियोजन पक्ष के समर्थन में सभी साक्ष्यों को स्वीकार कर लेगा। न्यायाधीश अपने विवेकानुसार किसी भी गवाह की जिरह को तब तक के लिए टाल सकता है जब तक कि किसी अन्य गवाह की जांच न हो जाए या किसी गवाह को आगे की जिरह के लिए वापस बुला सकता है। राम प्रसाद बनाम उत्तर प्रदेश राज्य में, सर्वोच्च न्यायालय ने माना था कि, यदि न्यायालय को लगता है कि अभियोजन पक्ष ने उचित या तर्कसंगत कारणों से गवाह की जांच नहीं की है, तो न्यायालय अभियोजन पक्ष के प्रतिकूल निष्कर्ष निकालने में न्यायसंगत होगा। केरल राज्य बनाम रशीद में न्यायालय ने देखा कि धारा 231(2) के तहत आवेदन पर निर्णय लेते समय अभियुक्त के अधिकारों और अभियोजन पक्ष के साक्ष्य प्रस्तुत करने के विशेषाधिकार के बीच संतुलन बनाया जाना चाहिए। निम्नलिखित कारकों पर विचार किया जाना चाहिए।

अभियुक्त की जांच—यह शपथ दिलाए बिना किया जाना है। यह उसे अभियोजन पक्ष द्वारा उसके विरुद्ध आरोपित परिस्थितियों को स्पष्ट करने का अवसर देने के लिए है।

बरी (धारा 232)— दोनों पक्षों को सुनने के बाद यदि न्यायाधीश को लगता है कि अभियुक्त ने अपराध नहीं किया है तो वह अभियुक्त को बरी करने का आदेश दर्ज कर सकता है।

बचाव पक्ष में प्रवेश (धारा 233)— यदि अभियुक्त को दोषमुक्त नहीं किया जाता है, तो उसे अपना बचाव प्रस्तुत करने के लिए बुलाया जाएगा। न्यायालय किसी भी स्तर पर किसी भी व्यक्ति को न्यायालय के गवाह के रूप में बुला सकता है या उससे पूछताछ कर सकता है।

तर्क (धारा 234)— बचाव पक्ष की बात दर्ज करने के बाद अभियुक्त अपना मामला संक्षेप में प्रस्तुत करता है और अभियुक्त या उसका वकील जवाब देने का हकदार होता है। बचाव पक्ष द्वारा कोई कानूनी मुद्दा उठाए जाने की स्थिति में अभियुक्त को अपना पक्ष रखने की अनुमति दी जा सकती है।

दोषमुक्ति या दोषसिद्धि का निर्णय (धारा 235)— दोनों पक्षों की दलीलें सुनने के बाद, न्यायालय दोषमुक्ति या दोषसिद्धि का निर्णय सुनाता है। इस बिंदु पर, सांता सिंह बनाम पंजाब राज्य में सर्वोच्च न्यायालय ने माना कि न्यायाधीश को पहले दोषसिद्धि या दोषमुक्ति का फैसला सुनाना चाहिए। यदि अभियुक्त को दोषी ठहराया जाता है, तो उसे सजा के सवाल पर सुना जाएगा और उसके बाद ही न्यायालय उसके खिलाफ सजा सुनाने के लिए आगे बढ़ेगा। बच्चन सिंह बनाम पंजाब राज्य में, न्यायालय ने फैसला सुनाया कि यह धारा द्विभाजित सुनवाई का प्रावधान करती है और विशेष रूप से अभियुक्त व्यक्ति को सजा से पहले सुनवाई का अधिकार देती है जो जांच के तहत विशेष अपराध से पूरी तरह से प्रासंगिक या जुड़ा हुआ नहीं हो सकता है लेकिन सजा के विकल्प पर असर डाल सकता है।

धारा 199 की उपधारा (2) के अधीन किसी अपराध का संज्ञान लेने वाला सत्र न्यायालय मजिस्ट्रेट की अदालत के समक्ष पुलिस रिपोर्ट के अलावा अन्य आधार पर संस्थित वारंट मामलों के परीक्षण की प्रक्रिया के अनुसार मामले की सुनवाई करेगा। इस धारा के अधीन प्रत्येक विचारण बंद कमरे में किया जाएगा, यदि कोई पक्षकार ऐसा चाहे या न्यायालय ऐसा करना ठीक समझे। यदि किसी ऐसे मामले में न्यायालय सभी या किसी अभियुक्त को उन्मोचित या दोषमुक्त कर देता है और उसकी यह राय है कि उनके या उनमें से किसी के विरुद्ध आरोप लगाने के लिए कोई उचित कारण नहीं था, तो वह उन्मोचित या दोषमुक्त करने के अपने आदेश का परीक्षण कर सकता है, तथा उस व्यक्ति को, जिसके विरुद्ध अपराध किया जाना अभिकथित है, यह निदेश दे सकता है कि वह कारण बताए कि वह ऐसे अभियुक्त को या ऐसे अभियुक्तों में से प्रत्येक को या किसी को, जब एक से अधिक अभियुक्त हों, प्रतिकर क्यों न दे। न्यायालय ऐसे किसी भी कारण को अभिलिखित करेगा तथा उस पर विचार करेगा, जिसे इस प्रकार निर्देशित व्यक्ति द्वारा दर्शाया गया हो, तथा यदि उसका समाधान हो जाता है कि आरोप लगाने के लिए कोई उचित कारण नहीं था, तो वह आदेश दे सकेगा कि उसके द्वारा निर्धारित 1000 रुपये से अनधिक राशि का प्रतिकर, ऐसे व्यक्ति द्वारा अभियुक्त को अथवा उनमें से प्रत्येक को या उनमें से किसी को दिया जाए। उपधारा (4) के अंतर्गत दिया गया मुआवजा इस प्रकार वसूल किया जाएगा मानो वह मजिस्ट्रेट द्वारा लगाया गया जुर्माना हो। उप-धारा (4) के

अंतर्गत प्रतिकर का भुगतान करने के लिए निर्देशित किसी भी व्यक्ति को इस धारा के अंतर्गत की गई शिकायत के संबंध में किसी भी सिविल या आपराधिक दायित्व से छूट नहीं दी जाएगी। वह व्यक्ति जिसे उपधारा (4) के अन्तर्गत प्रतिकर देने का आदेश दिया गया है, उच्च न्यायालय में अपील कर सकता है। जब किसी अभियुक्त व्यक्ति को प्रतिकर के भुगतान का आदेश दिया जाता है, तो अपील प्रस्तुत करने के लिए दी गई अवधि बीत जाने से पहले या यदि अपील प्रस्तुत की जाती है, तो अपील पर निर्णय होने से पहले प्रतिकर का भुगतान नहीं किया जाएगा।

प्रश्न न० 8— उपेक्षित किशोरों के सम्बन्ध में अपनायी जाने वाली प्रक्रिया का वर्णन कीजिए।

उत्तर— किशोर न्याय अधिनियम से संबंधित पिछले आलेख में इस अधिनियम का सामान्य परिचय तथा इस अधिनियम में दिए गए विशेष शब्दों की परिभाषाओं का अध्ययन किया गया था। इस आलेख के अंतर्गत विधि विरोधी किशोर के संबंध में अपनाई जाने वाली प्रक्रिया तथा किशोर न्याय बोर्ड के गठन पर चर्चा की जा रही है।

किशोर न्याय बोर्ड— इस अधिनियम की धारा 4 किशोर न्याय बोर्ड से संबंधित धारा है। इस धारा के अंतर्गत किशोर न्याय बोर्ड का गठन किया गया है। इस धारा में विधि-विरोधी कार्यों में लिप्त किशोरों के मामलों में जाँच एवं सुनवाई आदि हेतु किशोर न्याय बोर्ड के गठन तथा इसके सदस्यों की नियुक्ति, उनकी अर्हताएँ एवं पद-च्युति के बारे में भी उपबंध है। बोर्ड में तीन सदस्य होंगे जिनमें से एक महानगर मजिस्ट्रेट या प्रथम श्रेणी मजिस्ट्रेट, और दो सामाजिक कार्यकर्ता होंगे। बोर्ड के दो सामाजिक कार्यकर्ता सदस्यों में से कम से कम एक महिला होना अनिवार्य है। बोर्ड को दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1973 के अधीन महानगर मजिस्ट्रेट या प्रथम श्रेणी न्यायिक मजिस्ट्रेट यथास्थिति की शक्तियाँ प्रदत्त की गयी हैं। इस धारा की उपधारा (5) में यह उपबंधित है कि (i) राज्य द्वारा किशोर न्याय बोर्ड के किसी भी सदस्य की नियुक्ति को उचित जांच के पश्चात् समाप्त किया जा सकता है, यदि उसने अपनी किसी शक्ति का 4. दुरुपयोग किया होय या (ii) उसे किसी नैतिक अधमता के लिए दोषसिद्ध ठहराया गया हो, और उसे अपराध के लिए क्षमा प्रदान न की गयी हो, या (iii) वह बिना किसी उचित कारण के निरन्तर तीन माह तक बोर्ड की कार्यवाही से अनुपस्थित रहा हो या उसने वर्ष में हुई बोर्ड की कुछ बैठकों के तीन-चौथाई से कम बैठकों में उपस्थिति दर्ज न कराई हो। किशोर न्याय बोर्ड की स्थापना का प्रमुख उद्देश्य विधि विरोधी किशोरों को सुधारने के प्रति यह सुनिश्चित करना भी है कि उनके आपराधिक कृत्यों के विधिक परिणामों का उनके भावी जीवन पर दुष्प्रभाव न पड़े और उनके चरित्र पर लांछन या कलंक न लगने पाये। यही कारण है कि किशोर को अपराधी कहा जाकर श्विधि विरोधी किशोर कहा गया है। इसी प्रकार किसी विधि-विरोधी किशोर को दोषसिद्ध पाये जाने पर उसे दण्डादेश दिये जाने के बजाय दोषसिद्धि पर पारित आदेश दिया जाता है, ताकि वह शकैदी कहलाये जाने के से बच सके।

कर्नाटक राज्य बनाम हर्षद के वाद में उच्च न्यायालय ने विनिश्चित किया कि जहां किशोर न्याय अधिनियम की धारा 4 के अन्तर्गत किशोर न्याय बोर्ड स्थापित किये गये हैं। यहां बोर्ड को विधि का उल्लंघन करने वाले किशोरध्वालकों के विचारण की अनन्य अधिकारिता होगी तथा सेशन न्यायालय या फास्ट ट्रेक न्यायालयों को ऐसे किशोरों के मामलों में विचारण की अधिकारिकता नहीं होगी। इस प्रकरण में चूंकि किशोर न्याय बोर्ड का गठन 27 जुलाई, 2003 की अधिसूचना के अधीन हो चुका था इसलिये सिद्धदोष किशोर को धारा 15 के अन्तर्गत उचित गृह में भेजे जाने का आदेश उचित था क्योंकि उसे दंडित किया जाना अधिनियम के उद्देश्य के विपरीत होगा। किशोर न्याय बोर्ड द्वारा पारित आदेश के विरुद्ध अपील के अधिकार को अत्यधिक सीमित रखा गया है ताकि विधि-विरुद्ध किशोर को न्यायिक प्रक्रिया के अधीन कम-से-कम समय रहना हो। बोर्ड द्वारा किशोर को निर्दोष पाया जाने पर या यह पाया जाने पर कि वह लावारिश या उपेक्षित नहीं है। इस आदेश के विरुद्ध अपील नहीं हो सकेगी, अर्थात् किशोर न्याय बोर्ड का निर्णय अन्तिम होगा परन्तु बोर्ड द्वारा किशोर को दोषसिद्ध या उपेक्षित घोषित किये जाने के विरुद्ध केवल एक अपील सत्र न्यायालय में हो सकती है, जिसका निर्णय अन्तिम होगा। दूसरे शब्दों में, किशोर के मामले में सत्र न्यायालय का फैसला अन्तिम होगा और इसके विरुद्ध उच्च न्यायालय में अपील का प्रावधान नहीं है।

विधि-विरोधी किशोर के मामले में उच्च न्यायालय को केवल पुनरीक्षण की शक्ति प्राप्त है न कि अपील की। किशोर न्याय नियम, 2007 के नियम 13 (6) (क) में यह उपबन्धित है कि बोर्ड द्वारा किशोर अपराधियों के प्रकरण को एक माह की अवधि में निपटा लिया जाना चाहिये, जो विशिष्ट दशा में दो माह तक हो सकती है।

संप्रेक्षण गृह— इस अधिनियम की धारा 8 में संप्रेक्षण गृह (Observation Home) के बारे में प्रावधान है। संप्रेक्षण गृह में ऐसे विधि विरोधी किशोरों को रखा जाता है जिनके विरुद्ध कोई जाँच लम्बित है। ऐसे संप्रेक्षण गृहों की स्थापना राज्य शासन द्वारा अथवा किसी करार के अन्तर्गत निजी संगठनों द्वारा की जा सकती है।

इनमें किशोर के लिए निवास की सुविधा, भरण-पोषण और चिकित्सा परीक्षण और उपचार की व्यवस्था के साथ-साथ उनके लिए उपयोगी उपजीविका की सुविधाएँ भी उपलब्ध कराई जाती हैं।

संजय प्रसाद यादव बनाम बिहार राज्य के वाद में उच्चतम न्यायालय के समक्ष प्रश्न था कि किसी ऐसे किशोर की जिसकी दोषसिद्धि भारतीय दण्ड संहिता की धारा 302/34 के अधीन हुई है और जिसे जाँच के दौरान संप्रेक्षण गृह में रखे जाने हेतु आदेशित किया गया था, किशोर-आयु पूर्ण कर लेने के परिणामस्वरूप उसे कारागार में अन्तरित किया जाना आवश्यक है। इस पर उच्चतम न्यायालय ने निर्णय दिया कि किशोर की किशोरावस्था की आयु पूर्ण हो जाने पर भी उसे कारागार या अन्यत्र स्थानान्तरित नहीं किया जाएगा और मामले के अन्तिम फैसले तक उसे संप्रेक्षण गृह में ही रखा जाएगा।

विशेष गृह— धारा 8 में विचाराधीन किशोरों को अस्थायी रूप से रखे जाने हेतु संप्रेक्षण गृहों की व्यवस्था की गयी है जबकि प्रस्तुत धारा 9 में विधि विरोधी किशोरों के लिए विशेष गृह (Special Home) का प्रावधान है। इन विशेष गृहों में अपराध के लिए सिद्धदोष पाये गये किशोरों को उनके सुधार हेतु रखे जाने की व्यवस्था है। इन गृहों में भी आयु, अपराध की प्रकृति और मानसिक तथा शारीरिक हैसियत के आधार पर किशोरों का वर्गीकरण करके उन्हें अलग अलग रखा जाता है जिससे उनकी देखरेख एवं पुनर्वास की व्यवस्था हो सके। यहाँ किशोरों को शिक्षा एवं तकनीकी प्रशिक्षण की सुविधा भी उपलब्ध करायी जाती है जिससे वह एक सामान्य नागरिक बन सकें।

शीला बरसे बनाम भारत संघ के वाद में उच्चतम न्यायालय ने स्पष्ट निर्देश दिये कि किशोर अपराधियों को किसी भी दशा में जेल नहीं भेजा जाना चाहिए तथा उन्हें किशोर न्याय अधिनियम के उपबन्धों का लाभ देकर विशेषगृह या किशोर गृह जैसी किसी अन्य सुधारक संस्था में रखा जाना चाहिए।

हवासिंह बनाम हरियाणा राज्य के वाद में विधि-विरोधी किशोर को भारतीय दण्ड संहिता की धारा 302/34 के अधीन सिद्धदोष पाया जाने के कारण आजीवन कारावास से दण्डित करके पंजाब बोस्टल अधिनियम, 1926 के अन्तर्गत बोस्टल संस्था में भेजा गया। वहाँ 21 वर्ष की आयु पूरी होने के परिणाम स्वरूप उसे शेष सजा भोगने के लिए कारागार में अन्तर्गत कर दिया गया और उसने अगले सात वर्ष जेल में बिताए। उच्चतम न्यायालय ने अपीलार्थी को तत्काल रिहा किये जाने के आदेश देते हुए विनिश्चित किया कि अभियुक्त का विचारण सेशन न्यायालय द्वारा किया गया होने के कारण वह सात वर्ष की अधिकतम निरोध की अवधि पूरा कर चुका है। अतः उसे तत्काल रिहा किया जाए।

बाल अपराधियों पर प्रथम इतिला रिपोर्ट— धारा 11 के अनुसार पुलिस को ऐसे बाल-अपराधियों के विरुद्ध प्रथम इतिला रिपोर्ट रजिस्टर से संकोच करना चाहिये। जिन्होंने सात वर्ष से कम दण्ड से दण्डनीय अपराध किया है और जो गम्भीर प्रकृति का नहीं है। इसके बजाय पुलिस को चाहिये कि ऐसे विधि-विरोधी बालकंधकिशोरों द्वारा कारित अपराध को अपनी सामान्य दैनिक डायरी में अभिलिखित करे।

इसी प्रकार किशोर न्याय नियम, 2007 के नियम 11 (9) के अन्तर्गत किशोर अपराधियों को गिरफ्तार करना वर्जित है जब तक कि ऐसा करना न्यायिक हित में अनिवार्य न हो। पर हत्या, गम्भीर उपहति, बलात्कार आदि जैसे संगीन अपराध करने वाले बाल या किशोर अपराधियों की गिरफ्तारी की जा सकती है परन्तु उन्हें भी यथाशीघ्र मजिस्ट्रेट के समक्ष प्रस्तुत किया जाना चाहिये जिससे वह उनके विषय में उचित निर्णय ले सके तथा उनका प्रकरण किशोर न्याय बोर्ड को भेज दे। इस अधिनियम की धारा 12 के प्रावधानों से स्पष्ट है कि विधि-विरोधी किशोरों के प्रति उदारता दर्शाते हुए उन्हें यथासंभव जमानत पर रिहा किये जाने की व्यवस्था की गयी। इस धारा के अधीन किशोर व्यक्तियों को छोड़ दिए जाने की अनुशंसा की गयी है। जब तक कि इस बात की संभावना न हो कि जमानत पर छोड़े जाने से किशोर व्यक्ति घोर अपराधी की कुसंगति में पड़ सकता है या उसके लिये नैतिक खतरा उत्पन्न हो सकता है या न्याय का उद्देश्य विफल होने की संभावना है।

सुनील तथा अन्य बनाम मध्य प्रदेश राज्य के वाद में सत्र न्यायालय ने किशोर अपराधी को जमानत की अर्जी इस आधार पर नामंजूर कर दी कि उसकी मेडिकल रिपोर्ट के आधार पर वह किशोर आयु पूर्ण कर चुका था।

परन्तु उच्च न्यायालय ने निर्णय दिया कि आयु सिद्ध करने का दायित्व अभियुक्त का नहीं था और न्यायालय को स्वप्रेरणा से इसका निर्धारण करके सुनिश्चित करना चाहिये था कि अभियुक्त को किशोर-न्याय अधिनियम 1956 का लाभ देते हुए जमानत पर छोड़ा जा सकता है अथवा नहीं। आशय यह है कि सामान्यतः किशोर व्यक्ति को धारा 12 का लाभ देते हुए जमानत पर छोड़ा जाना चाहिए जब तक कि ऐसा न करने के लिए समुचित कारण न हो।

संदीप कुमार बनाम राज्य के वाद में किशोर को छह वर्षीय बालिका के साथ बलात्कार के अपराध के लिये दोषी पाया जाने के कारण उसकी जमानत नामंजूर कर दी गई। इससे यह स्पष्ट था कि किशोर आपराधिक प्रवृत्ति का था तथा उसको माता का उस पर कोई नियन्त्रण नहीं था। **जैक अहमद शेख बनाम राज्य के वाद** में राजस्थान उच्च न्यायालय ने विनिश्चित किया कि धारा 12 में प्रयुक्त शब्द 'जमानत पर छोड़ा जायेगा' से यह अर्थ निकालना कि किशोर को जमानत पर छोड़ देने के सिवाय न्यायालय के पास कोई अन्य विकल्प उपलब्ध नहीं है, गलत होगा। यदि अपराध का स्वरूप ऐसा है कि किशोर को जमानत पर छोड़े जाने से समाज को खतरा है, तो उसकी जमानत नामंजूर की जा सकती है। इस मामले में अभियुक्त किशोर उम्र का था लेकिन वह तस्करी के अवैध व्यापार में लिप्त था तथा तस्करों के गिरोह में सक्रिय होने के उसके विरुद्ध साक्ष्य थे। अतः धारा 12 के अधीन उसकी जमानत को नामंजूर किया जाना उचित माना गया।

किशोर के सम्बन्ध में पारित किए जाने वाले आदेश इस अधिनियम की धारा 15 इस संबंध में उल्लेख कर रही है। जहाँ किसी बोर्ड का जाँच करने पर यह समाधान किसी किशोर ने कोई अपराध किया है तब तत्समय प्रवृत्त किसी अन्य विधि में किसी प्रतिकूल बात के होते हुये भी, बोर्ड यदि ठीक समझता है तो किशोर के विरुद्ध समुचित जाँच करके और उसको सलाह देने और भर्त्सना करने के बाद तथा माता-पिता अथवा संरक्षक को परामर्श देकर किशोर को घर जाने की अनुमति दे सकता है। किसी अपराध के लिए आरोपित कोई किशोर जब किशोर-न्याय बोर्ड के समक्ष पेश किया जाता है, तो बोर्ड इस धारा के उपबंधों के अधीन जो आदेश पारित कर सकता है।

वह निम्नलिखित है—

किशोर को चेतावनी और सलाह देकर उसके माता-पिता या संरक्षक के साथ घर जाने दे यदि अपराध गम्भीर प्रकृति का न हो, किशोर न्याय बोर्ड विधि का उल्लंघन करने वाले को चेतावनी देकर छोड़ सकता है। इसी प्रकार के प्रावधान अपराधी परिवीक्षा अधिनियम 1958 की धारा 3 में भी है।

प्रश्न न0 9—परिवीक्षा का क्या अर्थ है? उन कारकों का वर्णन कीजिए। जिन्हें किसी व्यक्ति की परिवीक्षा पर छोड़ने के लिए चुनते समय विचार में लिया जाता है।

उत्तर— यह अधिनियम सुधारात्मक दृष्टिकोण पर आधारित है जो पिछले कुछ वर्षों में निवारण सिद्धांत से आया है। यह देखा गया है कि रिहाई के बाद अपराधी का समाज में पुनः समायोजन कम हो जाता है। पेशेवर अपराधियों के साथ काम करते समय उन्हें समस्याओं का सामना भी करना पड़ सकता है। यह दोषी व्यक्ति और उसके बाद के जीवन पर अवांछित प्रभाव डालता है। अपराधी परिवीक्षा अधिनियम 1958 नाबालिग अपराधियों को नियमित अपराधी बनने से बचाता है। ऐसा उन्हें जेल जाने के बजाय खुद को सुधारने का मौका देकर किया जाता है। परिवीक्षा अधिकारी सौहार्दपूर्ण तरीके से आरोपी की जरूरतों और कठिनाइयों तक पहुंचता है और समस्या को हल करने का प्रयास करता है। यह छोटे अपराधों के लिए दोषी व्यक्ति के लिए किया जाता है। प्रोबेशन अधिकारी प्रोबेशन प्रबंधन की प्रक्रिया में मुख्य व्यक्ति होता है। वह प्रोबेशनर से सीधे संपर्क करता है। वह न्यायालय के प्रोबेशन आदेश के प्रावधानों को बनाए रखने के लिए जिम्मेदार होता है। वह दो प्राथमिक कार्य करता है जिसमें प्रोबेशन अपराधी की वर्तमान जांच और अपराधी की निगरानी शामिल है। अपराधी परिवीक्षा अधिनियम 1958 का उद्देश्य अभियुक्त को उचित चेतावनी के बाद रिहा करना है यदि उसे मृत्यु या आजीवन कारावास से दंडनीय नहीं होने वाले किसी अपराध का दोषी नहीं पाया गया है। इसे अपराधियों को यह साबित करने का अवसर प्रदान करने के लिए अधिनियमित किया गया है कि वे अपने व्यवहार में सुधार कर सकते हैं और समाज में बिना किसी नुकसान के रह सकते हैं। यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि सुधार हमेशा कारगर नहीं होता। कई बार अपराध इतने जघन्य और घिनौने होते हैं और अपराधी इतने बेपरवाह होते हैं कि ऐसे अपराधों के लिए सजा देना जरूरी हो जाता है। कुछ मामलों में सुधार उपयोगी नहीं होता और समाज की सुरक्षा के लिए उन्हें आजीवन कारावास की सजा देना ही सबसे अच्छा होता है।

परिवीक्षा का उद्देश्य और लक्ष्य— परिवीक्षा का मुख्य उद्देश्य और लक्ष्य कानून तोड़ने वालों को स्थायी रूप से सुधारना है। इसमें पुनर्वास और सुधार के माध्यम से आदतों को रचनात्मक तरीके से ढालना शामिल है। इसका उद्देश्य असामाजिक व्यक्ति को समाज के साथ स्वेच्छा से सहयोग करने का मौका देना है। इससे उसे सामाजिक सुरक्षा और संरक्षण भी मिलेगा। यह कारावास का विकल्प है। कारावास हमेशा अपराध को खत्म करने के उद्देश्य को पूरा नहीं करेगा। परिवीक्षा कानून का उद्देश्य अपराधी को दंडित करने से ज्यादा उसे सुधारना है। इसे हम आम तौर पर परिवीक्षा कहते हैं। सरल शब्दों में, इसे अच्छे व्यवहार के वादे पर अपराधी की सशर्त रिहाई के रूप में समझा जा सकता है। इस धारा का उद्देश्य युवा अपराधियों को सुधारना था, जो बुरी संगति या अज्ञानता के प्रभाव में अपराध कर सकते थे। इसका उद्देश्य उन्हें कठोर अपराधियों से बचाना और सुधारना है, जो उन्हें अपराध के रास्ते पर ले जा सकते हैं। यह धारा परिपक्व आयु के उन व्यक्तियों की भी सहायता करती है, जिन्होंने प्रभाव में आकर अपराध किया हो। उनसे देश के अच्छे नागरिक बनने की अपेक्षा की जाती है।

अधिनियम के तहत वैधानिक प्रावधान— इस प्रावधान को मोटे तौर पर प्रक्रियात्मक और मूल सामान्य कानूनों में वर्गीकृत किया गया है जो अपराधियों की परिवीक्षा से संबंधित हैं। परिवीक्षा से निपटने के लिए पहला प्रावधान दंड प्रक्रिया संहिता, 1898 की धारा 562 में था। 1973 में संशोधन के बाद, परिवीक्षा को दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 360 में शामिल किया गया। इस धारा में कहा गया है कि यदि— कोई भी व्यक्ति जो इक्कीस वर्ष से कम आयु का न हो और किसी ऐसे अपराध के लिए दोषी ठहराया गया हो जिसके लिए सात वर्ष का कारावास है या किसी ऐसे अपराध के लिए दोषी ठहराया गया हो जिसके लिए जुर्माने से दंडनीय हो। या कोई व्यक्ति जो इक्कीस वर्ष से कम आयु का हो या कोई महिला हो जो किसी ऐसे अपराध के लिए दोषी हो जो आजीवन कारावास या मृत्युदंड से दंडनीय नहीं है और अपराधी के विरुद्ध कोई पूर्व दोष सिद्ध नहीं हुआ हो। और न्यायालय के समक्ष उपस्थित होता है, चाहे उसने जिस भी परिस्थिति में अपराध किया हो, न्यायालय अच्छे आचरण के वादे पर अपराधी को रिहा कर सकता है। न्यायालय अपराधी को कारावास की सजा देने के बजाय अच्छे आचरण और शांति के लिए बांड भरने पर उसे रिहा कर सकता है। जुगल किशोर प्रसाद बनाम बिहार राज्य के इस मामले में, सर्वोच्च न्यायालय ने कहा कि कानून का उद्देश्य किशोर अपराधियों को जेल में कारावास की सजा सुनाए जाने की स्थिति में अनुभवी वयस्क अपराधियों के साथ उनकी बातचीत के परिणामस्वरूप जिद्दी अपराधी बनने से रोकना है। यह देखा गया है कि यह अधिनियम दंडशास्त्र की वर्तमान प्रवृत्ति के अनुरूप है, जो कहता है कि अपराधी को बदलने और उसे नया रूप देने के लिए प्रभाव डाला जाना चाहिए न कि न्याय का बदला लेने के लिए। आधुनिक आपराधिक न्यायशास्त्र यह मानता है कि कोई भी व्यक्ति अपराधी नहीं पैदा होता है। बहुत सारे अपराध सामाजिक-आर्थिक वातावरण का परिणाम होते हैं। अपराधी परिवीक्षा अधिनियम, 1958 दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 360 के आवेदन को बाहर करता है, जब भी अधिनियम लागू होता है। अपराधी परिवीक्षा अधिनियम, 1958 की धारा 3 से धारा 12 अपराधियों की रिहाई से निपटने के लिए अदालत की प्रक्रियाओं से संबंधित है। प्रावधानों के महत्वपूर्ण पहलुओं पर पाँच तरीकों से चर्चा की गई है—

चेतावनी— अपराधियों की परिवीक्षा अधिनियम, 1958 की धारा 3 न्यायालय की उस शक्ति से संबंधित है जिसके तहत वह अपराधी को चेतावनी के बाद रिहा कर सकता है। शाब्दिक अर्थ में चेतावनी का अर्थ है सख्त चेतावनी या फटकार। धारा 3 में बताया गया है कि निम्नलिखित शर्तों को पूरा करने के बाद चेतावनी के आधार पर अपराधी को किस तरह से लाभ पहुंचाया जाता है—

- (1) जब कोई व्यक्ति भारतीय दंड संहिता, 1860 की धारा 379 या धारा 380 या धारा 381 या धारा 404 या धारा 420 के तहत अपराध करने का दोषी पाया जाता है या भारतीय दंड संहिता या किसी अन्य कानून के तहत दो साल से अधिक कारावास या जुर्माने या दोनों से दंडनीय कोई अपराध करता है।
- (2) किसी अपराधी को पहले उसी अपराध के लिए दोषी नहीं ठहराया जाना चाहिए।
- (3) न्यायालय अपराध की प्रकृति और अपराधी के चरित्र पर विचार करता है।
- (4) न्यायालय अपराधी को दण्ड देने के स्थान पर अधिनियम की धारा 4 के अंतर्गत अच्छे आचरण की परिवीक्षा पर रिहा कर सकता है।
- (5) न्यायालय अपराधी को सजा सुनाने के बजाय उसे उचित चेतावनी देकर रिहा कर सकता है।

केशव सीताराम साली बनाम महाराष्ट्र राज्य, एआईआर 1983 एससी 291 — इस मामले में, अपीलकर्ता पालधी रेलवे स्टेशन पर रेलवे का कर्मचारी था। उसने भुसावल के विशेष न्यायिक मजिस्ट्रेट प्रथम श्रेणी (रेलवे) के समक्ष मामले में भीकन मुराद द्वारा किए गए चारकोल चोरी के अपराध को अंजाम देने में मदद की, जिस पर चारकोल चोरी का आरोप था। विद्वान मजिस्ट्रेट ने अपीलकर्ता को उस अपराध से बरी कर दिया, और राज्य सरकार ने विद्वान मजिस्ट्रेट द्वारा पारित बरी करने के फैसले के खिलाफ बॉम्बे उच्च न्यायालय के समक्ष अपील दायर की। उस पर 500 रुपये का जुर्माना लगाया गया और भुगतान न करने पर दो महीने के कठोर कारावास की सजा सुनाई गई। चोरी का विषय कोयले की एक मात्रा थी जिसकी कीमत 250 रुपये थी। 8. सर्वोच्च न्यायालय ने कहा कि छोटी-मोटी चोरियों के मामले में उच्च न्यायालय को जुर्माना लगाने के बजाय अपराधी परिवीक्षा अधिनियम, 1958 की धारा 3 या धारा 4 या दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 360 का लाभ देना चाहिए।

बसिकेसन बनाम उड़ीसा राज्य, एआईआर 1967 ओरी 4 — इस मामले में, एक 20 वर्षीय युवक को भारतीय दंड संहिता, 1860 की धारा 380 के तहत अपराध का दोषी पाया गया। यह माना गया कि युवक ने जानबूझकर अपराध नहीं किया था और इसलिए मामले में परिवीक्षा अधिनियम की धारा 3 के तहत आवेदन किया जाना चाहिए और चेतावनी के बाद रिहा किया जाना चाहिए।

अहमद बनाम राजस्थान राज्य, एआईआर 1967 राज 190 — इस मामले में, अदालत ने कहा कि अपराधियों की परिवीक्षा अधिनियम का लाभ किसी ऐसे व्यक्ति को नहीं मिलता है जो किसी ऐसी गतिविधि में लिप्त हो जिसके परिणामस्वरूप विस्फोटक स्थिति पैदा हुई और सांप्रदायिक तनाव पैदा हुआ।

अच्छे आचरण पर परिवीक्षा— अपराधी परिवीक्षा अधिनियम, 1958 की धारा 4 अच्छे आचरण के आधार पर अपराधी की रिहाई के बारे में बात करती है। यह अधिनियम की एक बहुत ही महत्वपूर्ण धारा है। इस धारा के आवेदन के लिए याद रखने योग्य महत्वपूर्ण बिंदु ये हैं—

- (1) यदि अपराधी को मृत्युदंड या आजीवन कारावास वाले अपराध का दोषी पाया जाता है तो अधिनियम की धारा 4 लागू नहीं होती।
- (2) न्यायालय को अपराध की प्रकृति और अपराधी के चरित्र सहित मामले की परिस्थितियों पर विचार करना होता है।
- (3) न्यायालय अपराधी को अच्छे आचरण की परिवीक्षा पर रिहा करने के लिए पर्यवेक्षण आदेश पारित कर सकता है। पर्यवेक्षण अवधि एक वर्ष से कम नहीं होनी चाहिए। ऐसी स्थिति में परिवीक्षा अधिकारी को व्यक्ति की इतनी अवधि तक निगरानी करनी चाहिए। पर्यवेक्षण आदेश में परिवीक्षा अधिकारी का नाम सूचीबद्ध होना चाहिए।
- (4) न्यायालय अपराधी को जमानतदारों के साथ या उनके बिना एक बांड निष्पादित करने का निर्देश दे सकता है, ताकि वह ऐसी अवधि के दौरान उपस्थित हो और सजा भुगत सके जो तीन वर्ष से अधिक नहीं होनी चाहिए।
- (5) न्यायालय अच्छे आचरण के आधार पर अपराधी को रिहा कर सकता है।
- (6) न्यायालय पर्यवेक्षण आदेश में उचित शर्तें रख सकता है और पर्यवेक्षण आदेश देने वाला न्यायालय अपराधी को आदेश की शर्तें समझा सकता है। ऐसा पर्यवेक्षण आदेश अपराधी को तुरंत दिया जाना चाहिए।

इस नियम को लागू करने के लिए परिवीक्षा अधिकारी की रिपोर्ट अनिवार्य नहीं है, लेकिन यदि रिकॉर्ड पर सूचना की आवश्यकता है, तो न्यायालय अच्छे आचरण के लिए परिवीक्षा आदेश देने से पहले परिवीक्षा अधिकारी की सूचना को ध्यान में रखेगा।

प्रश्न न० 10— निम्नलिखित में से किन्हीं दो पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए—

उत्तर— (1) अपचारी किशोर— 8 साल से कम उम्र के किसी भी किशोर को अगर वह कोई अपराध करता है, तो उसे किशोर अपराधी माना जाता है। कानूनी तौर पर, 8 साल से ज्यादा और 16 साल से कम उम्र के बच्चे का कोई कानून-विरोधी काम करना बाल अपराध माना जाता है। किशोर अपराधियों के लिए, जेल से अलग किशोर हिरासत की व्यवस्था होती है। किशोर हिरासत केंद्र, युवा अपराधियों के पुनर्वास में मदद के लिए आयु-उपयुक्त संसाधन मुहैया कराते हैं। किशोर अपराध के कुछ कारणरू गरीबी या सामाजिक-आर्थिक स्थिति, खराब स्कूल की तैयारी या प्रदर्शन, साथियों की अस्वीकृति, हिंसा या वित्तीय कठिनाई से सुरक्षा की इच्छा।

किशोर अपराध को रोकने के लिए, घर और स्कूल में उचित देख-रेख की जरूरत होती है। अभिभावकों और शिक्षकों की भूमिका बच्चों के स्वस्थ मानसिक विकास में अहम होती है। अपराधी का आरोप लगाकर उनमें सामाजिक और मनोवैज्ञानिक सुधार के लिए गंभीरता से काम किया जाना चाहिए।

(2) पुनर्विलोकन—पुनर्विलोकन से सम्बंधित प्रावधान सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 114 एवं आदेश 47 के अंतर्गत मौजूद है। पुनर्विलोकन यानी दुबारा अवलोकन संहिता के अंतर्गत दी गयी एक व्यवस्था है जिसके अंतर्गत परिस्थिति विशेष में अदालत द्वारा पारित निर्णय एवं इसके तथ्यों की जांच की जाती है। लैटिन सिद्धांत 'फंक्टस ऑफिसियो' कानून की उचित प्रक्रिया का पालन करते हुए किसी भी अदालत द्वारा पारित निर्णय के संबंध में लागू होता है। सिद्धांत का अर्थ है कि यदि मामले में उचित और निष्पक्ष सुनवाई और परीक्षण के बाद फैसला सुनाया गया है तो मामला फिर से नहीं खोला जा सकता है। दूसरे शब्दों में, अदालत का अधिकार क्षेत्र एक बार समाप्त हो जाता है जब वह अपने कार्यों को पूरा कर लेता है जिसके लिए उसे नियुक्त किया गया था चुना गया था। निर्णय के पुनर्विलोकन को दाखिल करने का अधिकार फंक्शनस ऑफिसियो की लैटिन अवधारणा का अपवाद है। पुनर्विलोकन निम्नलिखित के खिलाफ दाखिल किया जा सकता है—

(1) किसी आदेश अथवा डिक्री के खिलाफ जिसके लिए सिविल प्रक्रिया संहिता में अपील का प्रावधान हो, किन्तु अपील नहीं की गयी हो।

(2) किसी आदेश अथवा डिक्री के खिलाफ जिसके लिए सिविल प्रक्रिया संहिता में अपील का प्रावधान नहीं हो।

(3) लघुवाद न्यायालय के निर्देश पर पारित विनिश्चय।

यह जानना जरूरी है कि पुनर्विलोकन सम्बंधित आवेदन केवल उसी अदालत में दाखिल किया जा सकता है जिस अदालत द्वारा अपेक्षित आदेश पारित किया गया हो।

किसी आदेश का पुनर्विलोकन निम्नलिखित आधार पर ही मंजूर किया जा सकता है—

(1) नए साक्ष्य और साक्ष्य के महत्वपूर्ण मामले की खोज, जो उचित परिश्रम के अभ्यास के बाद, आवेदक के ज्ञान में नहीं था या उसके द्वारा उस समय पेश नहीं किया जा सकता था जब डिक्री पारित की गई थी या आदेश दिया गया था।

(2) किसी भूल या गलती के कारण जो अभिलेख धरिर्कोर्ड के देखने मात्र से ही प्रकट होती है।

(3) किसी अन्य पर्याप्त कारण के लिए (जिसे ऊपर निर्दिष्ट अन्य कारणों के अनुरूप समझा जा सके)।

क्या पुनर्विलोकन अदालत की अन्तर्निहित शक्ति है अथवा यह कानून द्वारा प्रदत्त है? इस सम्बन्ध में विभिन्न उच्च न्यायालयों ने अपने अपने मत पारित किये हैं। कुछ उच्च न्यायालयों का मानना है कि पुनर्विलोकन अदालत की अन्तर्निहित शक्ति है।

घोर अन्याय को रोकने के लिए या गंभीर और स्पष्ट त्रुटियों को ठीक करने के लिए पूर्ण अधिकार क्षेत्र के अंतर्गत प्रत्येक न्यायालय में पुनर्विलोकन की शक्ति निहित है। उच्च न्यायालय पूर्ण क्षेत्राधिकार का न्यायालय है और इसलिए अपने आदेश के पुनर्विलोकन करने की शक्ति रखता है। (टी. कृष्णप्पा बनाम एच. लिंगप्पा, AIR 1982 Karn. 58) किन्तु अन्य मत में यह कहा गया कि धारा 114 और आदेश 47 नियम 1 स्पष्ट रूप से सिविल न्यायालय को पुनर्विलोकन की शक्ति प्रदान करते हैं। इसलिए अदालत इस शक्ति का प्रयोग केवल इन प्रावधानों के तहत कर सकती है।

यह धारा 114 के तहत ऐसा नहीं किया जा सकता है, भले ही पुनर्विलोकन आवेदन इस धारा के तहत होने का दावा करता हो। यह अच्छी तरह से तय है कि पुनर्विलोकन की शक्ति एक अंतर्निहित शक्ति नहीं है। इसे कानून द्वारा विशेष रूप से या आवश्यक निहितार्थ द्वारा प्रदान किया जाना चाहिए। (कुमारन वैद्यर बनाम के.एस.

वेंकटेश्वरन, AIR 1992 Ker- 26)

(3) अपील एवं पुनरीक्षण में अन्तर—

(1) अपील या बदलाव का कानूनी अधिकार न्यायालय में हारने वाले व्यक्ति को अपील करने का अधिकार है, जो संविधान में लिखा है। दूसरी ओर, संशोधन न्यायालय पर निर्भर है। इसका मतलब है कि यह हो भी सकता है और नहीं भी।

(2) अदालत में सुनवाई किसी भी अन्य मामले की तरह अपील की सुनवाई अदालत में की जाती है, लेकिन पुनरीक्षण मामले की सुनवाई अदालत में नहीं की जाती है।

(3) न्यायालय का प्रकार सिविल प्रक्रिया संहिता के अनुसार, किसी अनुरोध पर उस न्यायालय द्वारा विचार किया जाता है जो उससे पहले वाले न्यायालय से बेहतर है। इसका मतलब यह है कि यह उच्च न्यायालय नहीं हो सकता। उच्च न्यायालय केवल कुछ परिवर्तन कर सकता है।

(4) अपील में न्यायालय किसी भी तरह से हस्तक्षेप कर सकता है, लेकिन पुनरीक्षण मामले में वह केवल इतना ही कर सकता है।

(5) अपील में चरणों की संख्या बनाम पुनरीक्षण में चरणों की संख्या अपील में, केवल एक चरण होता है, जो मामले की सुनवाई है। हालांकि, पुनरीक्षण में दो तरीके हैं एक प्रारंभिक और एक अंतिम।

(6) अपील तब होती है जब किसी निश्चित मामले पर अदालती मुकदमा चलता रहता है, जबकि पुनरीक्षण तब होता है जब अदालत यह जांचती है कि मामले के दौरान कानून का पालन किया गया था या नहीं।

(7) अपील या पुनरीक्षण में किस तरह की परीक्षा शामिल होती है? अपील में कानून की बुनियादी बातों और तथ्यों पर गौर किया जाता है। दूसरी ओर, पुनरीक्षण में कानूनी कार्रवाइयों, अधिकार क्षेत्र और निर्णय पर पहुँचने के लिए इस्तेमाल की जाने वाली प्रक्रिया पर गौर किया जाता है।

(8) समय सीमा अपील में, किसी पक्ष के पास अपील दायर करने के लिए एक निश्चित समय होता है। यह समय निचली अदालत द्वारा अंतिम निर्णय दिए जाने के तुरंत बाद शुरू होता है। पुनरीक्षण में, कोई निर्धारित समय सीमा नहीं होती है। कोई पक्ष किसी भी समय इसके लिए अनुरोध कर सकता है, लेकिन यह समय सीमा उचित होनी चाहिए।

(9) अपील के लिए आवेदन करना जरूरी है। अपील करने वाले व्यक्ति को अपील करनी होगी। हालाँकि, संशोधन के लिए आवेदन करना जरूरी नहीं है।

(4) निर्देश एवं पुनरीक्षण में अन्तर—निर्देश एवं पुनरीक्षण में निम्नांकित अन्तर पाया जाता है—

क्र सं	निर्देश	पुनरीक्षण
1	निर्देश में किसी अधिनियम, अध्यादेश या विनियम की विधिमान्यता के सम्बन्ध में प्रश्न अन्तर्ग्रस्त होता है।	पुनरीक्षण में किसी अभिलेख, निर्णय या दण्डादेश की शुद्धता, वैधता या औचित्य के सम्बन्ध में प्रश्न अन्तर्ग्रस्त होता है।
2	निर्देश केवल लम्बित मामलों में ही किया जा सकता है।	पुनरीक्षण लम्बित एवं निर्णीत दोनों प्रकार के मामलों में किया जा सकता है।
3	निर्देश केवल उच्च न्यायालय को ही किया जा सकता है।	पुनरीक्षण उच्च न्यायालय एवं सेशन न्यायालय दोनों में द्वारा किया जा सकता है।

(5) किशोर न्याय बोर्ड (Juvenile justice board)—किशोर न्याय बोर्ड अधिनियम की धारा 4 में किशोर न्याय बोर्ड के गठन का उपबन्ध किया गया है। ऐसे बोर्ड के गठन की शक्ति राज्य सरकार में निहित है। ऐसे बोर्ड का गठन राज्य सरकार द्वारा जारी की गई अधिसूचना में विनिर्दिष्ट जिले या जिलों के समूह के लिए किया जा सकता है।

धारा 4(2) में उन कार्मिकों के बारे में उपबन्ध किया गया है जो बोर्ड के गठन में उसके अंग होंगे। बोर्ड में यथास्थिति प्रथम श्रेणी का महानगर मजिस्ट्रेट या न्यायिक मजिस्ट्रेट होगा और दो सामाजिक कार्यकर्ता जिनमें से कम से कम एक महिला होगी। बोर्ड के प्रत्येक न्यायपीठ को दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1973 के अधीन प्रथम श्रेणी न्यायिक मजिस्ट्रेट या महानगर मजिस्ट्रेट जैसी भी स्थिति हो, की शक्तियाँ प्राप्त होंगी।

धारा 4 की उपधारा (3) में ऐसे मजिस्ट्रेट की अर्हताएँ उपबन्धित की गई हैं जिसे बोर्ड का सदस्य नियुक्त किया जा सकता है। **उपधारा (4)** में बोर्ड के सदस्यों के कार्य-काल के सम्बन्ध में उपबन्ध किया गया है और **उपधारा (5)** में वे आधार उपबन्धित किये गये हैं जिनके आधार पर बोर्ड के किसी सदस्य की नियुक्ति को समाप्त किया जा सकता है।

(6) किशोर न्याय बोर्ड की शक्तियाँ— (1) जहाँ किसी जिले [* **] के लिए बोर्ड गठित किया गया है वहाँ ऐसे बोर्ड को, तत्समय प्रवृत्त किसी अन्य विधि में किसी बात के होते हुए भी, किन्तु जैसा इस अधिनियम में अभिव्यक्त: अन्यथा उपबन्धित है उसके सिवाय, विधि का उल्लंघन करने वाले किशोर से सम्बन्धित इस अधिनियम के अधीन सभी कार्यवाहियों के सम्बन्ध में अनन्यतः कार्य करने की शक्तियाँ प्राप्त होगी।

(2) इस अधिनियम द्वारा या. इसके अधीन बोर्ड को प्रदत्त शक्तियों का प्रयोग उच्च न्यायालय और सेशन न्यायालय द्वारा भी किया जा सकेगा जब कार्यवाही अपील, पुनरीक्षण में या अन्यथा उनके समक्ष आए।

टिप्पणी

इस अधिनियम में अन्यथा उपबन्धित के सिवाय बोर्ड को इस अधिनियम के अधीन विधि का उल्लंघन करने वाले बालकों से सम्बन्धित सभी कार्यवाहियों में निर्णय लेने की अनन्य शक्ति होगी।

धारा 6(2) में यह उपबन्ध किया गया है कि इस अधिनियम द्वारा या इसके अधीन प्रदत्त शक्तियों का प्रयोग उच्च न्यायालय और सत्र न्यायालय द्वारा भी उस समय किया जायेगा जब अपील, पुनरीक्षण में या अन्यथा कार्यवाही उसके समक्ष आती है।

संगीता आर. जैन बनाम एस. ए. द्विवेदी वाले मामले में याची और उसके पिता भिवांडी में एक पावर-लूम के कारबार के मालिक थे। प्रथम प्रत्यर्थी द्वारा फाइल की गई शिकायत पर थाने में स्थित औद्योगिक न्यायालय ने 22 मार्च, 1992 को निम्नलिखित आशय का एक आदेश किया—

“प्रत्यर्थियों को निदेश दिया जाता है कि आज की तारीख से तीन सप्ताह के भीतर सम्बन्धित कर्मचारियों के 1 अक्टूबर, 1989 से इस आदेश की तारीख तक के वेतन का 50 प्रतिशत इस न्यायालय में जमा करें।”

याची और उसका पिता रामचन्द्र जैन (तीसरा प्रत्यर्थी) दोनों उपरोक्त शिकायत में प्रत्यर्थी थे। प्रथम प्रत्यर्थी ने द्वितीय श्रम न्यायालय के समक्ष प्रकीर्ण परिवाद फाइल किया जिसमें अन्य बातों के साथ-साथ यह अभिकथन किया गया था कि तृतीय प्रत्यर्थी और याची ने जानबूझकर औद्योगिक न्यायालय के निर्णय की उपेक्षा की है और इस प्रकार महाराष्ट्र ट्रेड यूनियन मान्यता एवं अनुचित श्रम व्यवहार अधिनियम, 1971 (जिसे आगे अधिनियम कहा गया

हैं) की धारा 48(1) का उल्लंघन किया है। याची ने अपने विरुद्ध शिकायत (परिवाद) को खारिज करने के लिए श्रम न्यायालय में आवेदन किया क्योंकि वह 7 अगस्त, 1992 को जब शिकायत फाइल की गई थी और संज्ञान किया गया था 18 वर्ष से कम आयु की थी। श्रम न्यायालय ने आवेदन नामंजूर कर दिया जिस पर यह आवेदन उच्च न्यायालय के समक्ष दिया गया है। इस आवेदन में प्रश्न यह था कि महाराष्ट्र वाले अधिनियम की धारा 48(1) के अधीन अभिकथित अपराध की तारीख को व्यक्ति अवयस्क था तो श्रम न्यायालय अधिनियम के उपबन्धों के अधीन उसका विचारण कर सकता है या नहीं।

यह अभिनिर्धारित किया गया कि किशोर न्याय अधिनियम, 1986 के उपबन्धों को अभिनियमित करके दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 27 के उपबन्धों की अधिकांश कर दिया गया है और जहाँ तक दोषी किशोर का सम्बन्ध है उनके लिए अनन्य अधिकारिता वाला विशेष न्यायालय बनाया गया है। अधिनियम की धारा 7 के अधीन गठित न्यायालयों से भिन्न सभी न्यायालयों को अधिकारिता को जहाँ तक किशोरों का सम्बन्ध है वर्जित कर दिया गया है।

आगे यह अभिनिर्धारित किया गया कि धारा 2 (ज) में दी गई पकेशोर की परिभाषा को ध्यान में रखते हुए यह स्पष्ट है कि याची जो लड़की थी। सुसंगत तारीख (महाराष्ट्र अधिनियम की धारा 81 (1) के अधीन अपराध की तारीख) को उसने 18 वर्ष की आयु नहीं प्राप्त की थी और धारा 2 (ड.) के अधीन किशोरी और अपचारी किशोरी थी और इसलिए उसके विचारण की अनन्य शक्ति धारा 7 के अधीन विशेष रूप से सृजित न्यायालय में निहित है। भले ही सम्बन्धित क्षेत्र में बोर्ड या किशोर न्यायालय का गठन न किया गया हो फिर भी धारा 7(2) (क), (ख) और (ग) में गिनाए गये न्यायालयों को बोर्ड या किशोर न्यायालय को प्रदत्त शक्तियों का प्रयोग करना चाहिए।

बण्डेला अइलैया बनाम आन्ध्र प्रदेश राज्य वाले मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया था कि दोषी की आयु साबित करने का भार अपचारी किशोर पर नहीं होता बल्कि न्यायालय यह पता लगाने के लिए उसकी आयु की जाँच-पड़ताल करता है कि वह व्यक्ति अधिनियम के प्रयोजनों के लिए अपचारी किशोर है या नहीं। इस मामले में न्यायालय ने अपचारी किशोर की आयु के बारे में स्पष्ट राय देने की बजाय उसकी आयु के बारे में सरसरी तौर पर जाँच करते हुए जन्मतिथि साबित करने के लिए स्कूल प्रमाणपत्र आदि प्रस्तुत करने को कहकर भार उसी पर डाल दिया और बिना किसी सामग्री के यह अभिनिर्धारित किया कि विचारण आरम्भ होने की तारीख की उसकी आयु 16 वर्ष से अधिक थी। उसने अपचारी किशोर की अधिनियम के उपबन्धों के लाभ के पूर्ण रूप से वंचित कर दिया। इसलिए विचारण न्यायालय द्वारा अधिनियमों के उपबन्धों का खुलकर उल्लंघन किया गया। इसलिए सत्र न्यायालय का विचारण दण्ड प्रक्रिया संहिता के अध्याय 18 के अधीन किशोर के विरुद्ध दोषसिद्धि के रूप में परिणत हुआ और किशोर को अन्य अपराधियों के साथ लम्बी अवधि तक कारागार में रहना पड़ा। जिससे विचारण को दोषयुक्त माना गया। अपचारी किशोर व्यक्ति की आयु की जाँच किये बिना उसका विचारण दोषपूर्ण है।

प्रश्न 11. अपराधी परिवीक्षा, अधिनियम, 1958 के उद्देश्य और कारणों का संक्षेप में वर्णन कीजिए।

उत्तर—उद्देश्यों और कारणों का कथन— अपराधियों को कारावास के लिए दण्डादिष्ट करने की बजाय अच्छे आचरण के आधार पर परिवीक्षा पर छोड़ने का प्रश्न कुछ समय से विचाराधीन था। वर्ष 1931 में भारत सरकार ने अपराधी परिवीक्षा विधेयक तैयार किया और उसे तत्कालीन स्थानीय सरकारों को उस पर विचार जानने के लिए परिचालित किया। तथापि, अन्य अधिक महत्वपूर्ण कार्यों में व्यस्त होंगे के कारण विधेयक प्रस्तुत नहीं किया जा सका। बाद में वर्ष 1934 में भारत सरकार ने प्रान्तीय सरकारों को सूचित किया कि उस समय केन्द्रीय विधान बनाना सम्भव नहीं था और यदि प्रान्तीय सरकारों स्वयं इस विधान को तैयार करती हैं तो उसे कोई आपत्ति नहीं है। तदनुसार कुछ प्रान्तों ने अपने परिवीक्षा विधान अधिनियमित किए।

तथापि, कतिपय प्रान्तों में अलग से कोई भी परिवीक्षा विधि नहीं है। जिन प्रान्तों में परिवीक्षा विधियाँ हैं उनमें एकरूपता नहीं है और वे वर्तमान अपेक्षाओं को पूर्ण करने के लिए पर्याप्त नहीं हैं। इसी बीच अपराधियों को कारावास जीवन के बुरे प्रभावों में रखे बिना समाज के उपयोग एवं आत्म-निर्भर सदस्य के रूप में सुधारने और पुनर्वास करने पर अधिक बल दिया जा रहा है देश में परिवीक्षा पद्धति, पर व्यापक रूप से दिलचस्पी को ध्यान में रखते हुए इस प्रश्न को दोबारा परीक्षा की गई और यह प्रस्ताव रखा गया कि इस विषय पर केन्द्रीय कानून बने जो सभी राज्यों में समान रूप से लागू किया जाए।

यह प्रस्तावित किया गया कि कतिपय विशिष्ट मामलों में अपराधियों को भर्त्सना कर परिवीक्षा पर छोड़ने के लिए न्यायालयों को सशक्त किया जाए। यह भी प्रस्तावित किया गया कि सभी उपयुक्त मामलों में जहाँ अभियुक्त को ऐसे अपराध का दोषी पाया गया है जो मृत्युदण्ड या आजीवन कारावास से दण्डनीय नहीं है, परिवीक्षा पर छोड़ने के लिए सशक्त किया जाये। ऐसी अपराधियों के मामले में जो 21 वर्ष से कम आयु के हो उनको कारावास देने पर प्रतिबन्ध लगाते हुए विशेष उपबन्ध किए गए हैं। परिवीक्षा की अवधि के दौरान अपराधी परिवीक्षा अधिकारी के पर्यवेक्षण के अधीन रहेंगे जिससे कि उन्हें सुधारा जा सके और समाज का उपयोगी सदस्य बनाया जा सके। विधेयक उक्त उद्देश्यों को पूरा करने के लिए तैयार किया गया है।

उद्देश्य और लागू होना—अपराधी परिवीक्षा अधिनियम, 1958 का लक्ष्य यह है कि किसी अपराधी को सम्यक रूप से भर्त्सना के बाद परिवीक्षा पर छोड़ दिया जाए। दण्ड के सुधारात्मक सिद्धान्त के प्रचलन के बाद प्रस्तुत अधिनियम के अधिनियमित किया गया है जिससे उसे अपना सुधारने का अवसर मिल सके और वह समाज में रहने लायक बन सके। इसका उद्देश्य अपराधी का पुनर्वास करना है। यदि कोई संयोग से बना अपराधी कारागार में डाल दिया जाता

है तो वह अन्य अपराधियों के सम्पर्क में आता है और उसके सुधार और समाज में रहने की सम्भावना बहुत सीमा तक समाप्त हो जाती है।

जुगल किशोर प्रसाद बनाम बिहार, राज्य वाले मामले में उच्चतम न्यायालय ने अधिनियम के उद्देश्य को दोहराते हुए बताया कि यह युवा अपराधियों को कारावास से दण्डादिष्ट किये जाने पर परिपक्व आयु के कठोर अपराधियों की संगति में दुस्साहसी अपराधी बनने से रोकने का है।

अरविन्द मोहन सिन्हा बनाम मूल्य कुमार विश्वास, वाले मामले में उच्चतम न्यायालय द्वारा उक्त उद्देश्य को दोहराया गया है जिसमें यह निष्कर्ष दिया गया है कि अपराधी परिवीक्षा अधिनियम एक सुधारात्मक उपाय है और इसका उद्देश्य यह है कि अपरिपक्व अपराधियों को सुधार कर समाज में उनका पुनर्वास किया जा सके। यह अधिनियम अपराध करने में वातावरण के महत्व को मान्यता देता है और उसके लिए उपचार विहित करता है जिसके जरिए प अपराधियों को सुधार कर उनका पुनर्वास किया जा सके।

अपराधी परिवीक्षा अधिनियम, 1958 का विस्तार जम्मू-कश्मीर को छोड़कर सम्पूर्ण भारत में है। **धारा 1 (3)** में यह उपबन्ध किया गया है कि अधिनियम किसी राज्य में ऐसी तारीख को प्रवृत्त होगा जो राज्य सरकार शासकीय राजपत्र में प्रकाशित करे। यह भी उपबन्ध किया गया है कि राज्य के भिन्न-भिन्न तिथियाँ उपबन्धित की जा सकती हैं।

पी. के. तेजानी बनाम एम. आर. डागे, वाले मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया था कि अपराधी परिवीक्षा अधिनियम के पुनर्वास सम्बन्धी प्रयोजन तकनीकी रूप से इतने व्यापक हैं कि इनके अधीन खाद्य अपमिश्रण निवारण अधिनियम के अधीन किसी अपराध को भी ग्रहण किया जा सकता है। किन्तु सामाजिक सुरक्षा के बन्धनों के कारण परिवीक्षा के सिद्धान्त का प्रवर्तन नकारात्मक हो गया है। खाद्य अपमिश्रण मानव के स्वास्थ्य के लिए घातक है। आर्थिक अपराध सफेदपोश अपराधियों द्वारा किये जाते हैं जो नरम प्रतिषेधात्मक प्रक्रिया से रोक नहीं जा सकते। भारत के विधि आयोग ने भी अपनी 47वीं रिपोर्ट में यह सिफारिश किया है कि उपयुक्त संशोधनों के जरिए अधिनियम से सामाजिक और आर्थिक अपराध अपवर्जित कर दिए जाये। भारत की वर्तमान परिस्थितियों में परिवीक्षा आन्दोलन इतना सशक्त नहीं हुआ कि इन विषमताओं को दूर किया जा सके। सम्भव है कि और विकसित परिस्थितियों में एक भिन्न दृष्टिकोण बन सके इसलिए वर्तमान में परिवीक्षा अधिनियम खाद्य अपमिश्रण निवारण अधिनियम के अधीन किये गये अपराधों को लागू नहीं होता।

ईश्वरदास बनाम पंजाब राज्य, वाले मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया था कि अपराधी परिवीक्षा अधिनियम, 1958 में खाद्य अपमिश्रण निवारण अधिनियम, 1954 के बाद में अधिनियमित किया गया था और विधानमण्डल इससे अवगत था इसलिए अपराधी परिवीक्षा अधिनियम के उपबन्धों को पूर्वतर अधिनियम के उपबन्धों के साथ अनुकूलित नहीं किया गया। अपराधी परिवीक्षा अधिनियम की **धारा 18** स्पष्ट रूप से भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम के अधीन किये गए अपराधों को लगा नहीं होती है किन्तु खाद्य अपमिश्रण निवारण अधिनियम के सम्बन्ध में ऐसा कोई अपवर्जन नहीं है। इसलिए परिवीक्षा अधिनियम के उपबन्ध खाद्य अपमिश्रण निवारण अधिनियम के अधीन अपराधों को लागू होंगे।

इसी प्रकार **राम प्रकाश बनाम हिमाचल प्रदेश**, वाले मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया है कि अपराधी अधिनियम के अधीन लाभ ऐसे व्यक्ति को भी उपलब्ध होंगे जो खाद्य अपमिश्रण निवारण अधिनियम, 1954 के अधीन अपराध के दोषी पाये जाते हैं।

प्रश्न 12. दण्ड प्रक्रिया संहिता के अंतर्गत संक्षिप्त मामलों में विचारण की प्रक्रिया का उल्लेख कीजिए।

उत्तर—संक्षिप्त विचारण खंड प्रक्रिया संहिता की धारा 260 से लेकर 265 तक में अपराधों के संक्षिप्त विवरण की प्रक्रिया का वर्णन किया गया है।

धारा 260 संक्षिप्त विचारण करने की शक्ति— धारा 260 के अंतर्गत निम्न मजिस्ट्रेट ऐसे अपराधों का विचारण कर सकते हैं—

- कोई मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट,
- कोई महानगर मजिस्ट्रेट,
- कोई प्रथम वर्ग मजिस्ट्रेट जो उच्च न्यायालय द्वारा इस हेतु नियुक्त किया गया है।

संक्षिप्त विचारणीय मामले **धारा 260** के अनुसार निम्न अपराधों का संक्षिप्त विवरण किया जा सकता है—

- (i) वे अपराध जो मृत्यु, आजीवन कारावास या दो वर्ष से अधिक की अवधि से दंडनीय हो,
- (ii) भारतीय दंड संहिता की **धारा 379, 380** या **धारा 381** के अधीन चोरी, ऐसी चुराई हुई संपत्ति जिसका मूल्य ₹2,000 से अधिक नहीं है,
- (iii) भारतीय दंड संहिता की **धारा 411** के अधीन चोरी की संपत्ति को प्राप्त करना या रखे रखना जहाँ ऐसी संपत्ति का मूल्य ₹2,000 से अधिक नहीं है,
- (iv) भारतीय दंड संहिता की **धारा 414** के अधीन चुराई हुई संपत्ति को छिपाने या उसका व्यंजन करने में सहायता करना, जहाँ ऐसी संपत्ति का मूल्य ₹2,000 से अधिक नहीं है,
- (v) भारतीय दंड संहिता की **धारा 454** और **456** के अधीन अपराध,

- (vi) भारतीय दंड संहिता की धारा 504 के अधीन लोक शांति भंग कराने को प्रकोपित करने के आशय से अपमान और धारा 506 के अधीन आपराधिक अभित्रास जो दो वर्ष के कारावास से या जुर्माने से या दोनों से दंडनीय है,
- (vii) उपरोक्त अपराधों में से किसी का दुष्प्रेरण,
- (viii) उपरोक्त अपराधों में से किसी के करने का प्रयत्न जब ऐसा प्रयत्न अपराध है,
- (ix) ऐसा अपराध जिसके लिए पशु अतिचार अधिनियम की धारा 20 के अंतर्गत परिवाद किया जा सकता है।

जब संक्षिप्त विचारण के दौरान मजिस्ट्रेट को प्रतीत होता है कि मामला इस प्रकार का है कि उसका विचारण संक्षिप्त किया जाना अवांछनीय है तो वह मजिस्ट्रेट किन्हीं साक्षियों को, जिनकी परीक्षा की जा चुकी है, पुनः बुलाएगा और मामले को इस संहिता द्वारा उपबंधित रीति से पुनः सुनने के लिए अक्सर होगा।

धारा 261 द्वितीय वर्ग के मजिस्ट्रेट द्वारा संक्षिप्त विचारण—धारा 261 के अनुसार द्वितीय वर्ग मजिस्ट्रेट भी अपराधों का संक्षिप्त विचारण कर सकता है जबकि अपराध केवल जुर्माने से या जुर्माने सहित या रहित 6 माह से अधिक के कारावास से दण्डनीय है और ऐसे अपराध का दुष्प्रेरण एवं प्रयत्न का भी उसी प्रकार विचारण होगा।

धारा 262—धारा 262 के अनुसार संक्षिप्त विचारणों में निम्नलिखित प्रक्रिया अपनाई जाती है—

- (i) सम्मन मामलों जैसी प्रक्रिया अपनाई जाती है।
- (ii) तीन माह से अधिक की अवधि के लिए कारावास का कोई दंडादेश पारित नहीं किया जाता है।

धारा 263—धारा 263 के अनुसार राज्य सरकार द्वारा निर्दिष्ट प्रारूप में मजिस्ट्रेट निम्न विशिष्टियाँ प्रविष्टि करेगा अर्थात्

- (a) मामले की क्रम संख्या
- (b) अपराध किए जाने की तारीख,
- (c) रिपोर्ट या परिवाद की तारीख,
- (d) परिवादी का (यदि कोई हो) नाम
- (e) अभियुक्त का नाम उसके माता पिता का नाम और उसका निवास;
- (f) वह अपराध जिसका परिवाद किया गया है और वह अपराध जो साबित हुआ और धारा 260 के उप धारा (1) के खंड (ii), (iii) या खंड (iv) के अधीन आने वाले मामले में उस संपत्ति का मूल्य जिसके बारे में अपराध किया गया है;
- (v) अभियुक्त का अभिवाक् और उसकी परीक्षा,
- (vi) निष्कर्ष,
- (vii) दंडादेश या अन्य अंतिम आदेश,
- (viii) कार्यवाही समाप्त होने की तारीख।

धारा 264 संक्षिप्त विचारित मामलों में निर्णय—संक्षिप्त विचारित प्रत्येक में ऐसे मामले में, जिसमें अभियुक्त दोषी होने का अभिवचन नहीं करता है, मजिस्ट्रेट साक्ष्य का सारांश और निष्कर्ष के कारणों का संक्षेप कथन देते हुए निर्णय अभिलिखित करेगा।

धारा 265 अभिलेख और निर्णय की भाषा— (1) ऐसा प्रत्येक अभिलेख और निर्णय न्यायालय की भाषा में लिखा जाएगा।

(2) उच्च न्यायालय संक्षिप्त विचारण करने के लिए सशक्त किए गए किसी मजिस्ट्रेट को प्राधिकृत कर सकता है, कि वह पूर्वक्त अभिलेख या निर्णय या दोनों उस अधिकारी से तैयार कराएँ जो मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट द्वारा इस निर्मित नियुक्त किया गया है और इस प्रकार तैयार किया गया अभिलेख या निर्णय ऐसे मजिस्ट्रेट द्वारा हस्ताक्षरित किया जाएगा।

प्रश्न 13. अभिवाक् सौदेबाजी क्या है ? अभिवाक् सौदेबाजी की प्रक्रिया का वर्णन कीजिए। कब अभिवाक् सौदेबाजी नहीं की जा सकती है।

उत्तर—अभिवाक् सौदेबाजी को दण्ड प्रक्रिया संहिता के अध्याय 21 क में दण्डिक विधि यशोधन अधिनियम 2005 द्वारा जोड़ा गया है। 7 वर्षों से कम अवधि के कारावास से दण्डनीय अपराध के लिए अभियुक्त एवं अभियोजन के समझौते किए जाने को अभिवाक् सौदेबाजी कहा जाता है। धारा 265 क के अनुसार अभिवाक् सौदेबाजी उस अभियुक्त के विरुद्ध लागू होगा जिसके विरुद्ध—

(A) पुलिस थाने के भारसाधक अधिकारी द्वारा धारा 173 के अंतर्गत यह रिपोर्ट भेजी गई है कि अभियुक्त द्वारा उस अपराध के जिसके लिए तत्समय प्रवृत्त विधि के अधीन मृत्यु या आजीवन कारावास या 7 वर्ष से अधिक अवधि के कारावास का दंड उपबंधित का दंड उपबंधित किया गया है सिवाय अन्य अपराध किया गया प्रतीत होता है या

(B) मजिस्ट्रेट ने परिवाद पर अभियुक्त के विरुद्ध तत्समय प्रवृत्त विधि के अधीन मृत्यु या आजीवन कारावास या 7 वर्ष से कम अवधि के कारावास से दण्डनीय अपराध का संज्ञान लिया है और धारा 200 के अधीन परिवादी और साक्षियों की परीक्षा के बाद धारा 204 के अधीन आदेशिका जारी किया है।

किन्तु वहाँ लागू नहीं होताए जहाँ ऐसा अपराध देश की सामाजिक आर्थिक स्थिति को प्रभावित करता है या स्त्री या 14 वर्ष से कम आयु के बालक के विरुद्ध कार्य किया गया है।

अभिवाक् सौदेबाजी के लिए आवेदन— धारा 265 ख के अनुसार अभिवाक् सौदेबाजी के लिए आवेदन उच्च न्यायालय में किया जाएगा जहाँ मामला लंबित हो।

आवेदन में उस मामले में संक्षिप्त विवरण अंतर्विष्ट होगा जिसके संबंध में आवेदन दायर किया गया है जिसमें वह अपराध शामिल है। जिससे मामला संबंधित है साथ में शपथ पत्र भी संलग्न होगा जिसमें वर्णित होगा कि अभियुक्त ने अपराध के लिए अविधि के अधीन उपबन्धित दंड की प्रकृति और विस्तार को समझने के बाद अपने मामले में स्वेच्छा अभिभावक सौदेबाजी का आवेदन दायर किया है कि उसे पहले न्यायालय द्वारा उस मामले में दोष सिद्ध नहीं किया गया है जिसमें उसे उसी अपराध से आरोपित किया गया था।

आवेदन प्राप्त होने के बाद न्यायालय लोक अभियोजक परिवादी यजैसी भी स्थिति होद्व और अभियुक्त को मामले के लिए नियम तारीख पर उपस्थित होने के लिए नोटिस जारी करेगा। जब नियत तारीख को सभी उपस्थित होते हैं तब न्यायालय अभियुक्त की परीक्षा करेगा जहाँ—

(a) मामले में अन्य पक्षकार स्वयं का यह समाधान करने के लिए उपस्थित नहीं होंगे कि अभियुक्त ने स्वेच्छा आवेदन दाखिल किया और जहाँ.

(A) न्यायालय का समाधान हो जाता है अभियुक्त ने स्वेच्छा आवेदन दाखिल किया है वहाँ वह लोक अभियोजक परिवादी और अजीत को मामले के निस्तारण के लिए समय प्रदान करेगा जिसमें अभियुक्त द्वारा पीड़ित को प्रकट और मामले के दौरान अन्य व्यय को देना शामिल हो सकेगा और इसके पश्चात् मामले की पुर्ण सुनवाई के लिए तारीख नियत करेगा।

(B) न्यायालय की यह राय है कि अभियुक्त ने आवेदन सुरक्षा दाखिल नहीं किया है या उससे पहले न्यायालय द्वारा उस मामले में दोष सिद्ध किया गया है जिसमें उसे अपराध से आरोपित किया गया था वहाँ वह इस संहिता के अनुसार कार्रवाई करेगा।

प्रक्रिया—धारा 265 ग के अनुसार न्यायालय धारा 265 (ख) के अंतर्गत समाधान हेतु निम्न प्रक्रिया का पालन करेगा—

(A) पुलिस रिपोर्ट पर संक्षिप्त मामले में न्यायालय लोक अभियोजक मामले का अन्वेषण करने वाले पुलिस अधिकारी और पीड़ित का बैठक में भाग लेने के लिए नोटिस करेगा लेकिन न्यायालय को यह सुनिश्चित करना होगा कि पक्ष का स्वेच्छा बैठक में भाग ले रहे हैं यदि अभियुक्त बांछा करता है तो वह अपने अधिवक्ता के माध्यम से बैठक में भाग ले सकता है।

(B) पुलिस रिपोर्ट से अन्यथा संस्कृत मामले में न्यायालय अभियुक्त और पीड़ित को मामले का समाधान पर निपटारा करने के लिए बैठक में भाग लेने के लिए नोटिस करेगा,

परन्तु न्यायालय यह सुनिश्चित करेगा कि बैठक में पक्षकार सुरक्षा भाग ले रहे हैं परन्तु यह और कि पीड़ित यदि बांछा करता है तो वह अपने प्लीडर के माध्यम से बैठक में उपस्थित हो सकता है।

धारा 265 घ के अनुसार यदि न्यायालय बैठक वेह मामले में समाधान व्रत निपटारा कर देता है जब उसकी रिपोर्ट तैयार करेगा जिस पर न्यायालय के पीठासीन अधिकारी तथा बैठक में भाग लेने वाले पक्षकारों के हस्ताक्षर किए जाएंगे।

प्रकरण का निस्तारण—धारा 265 (ड.) के अनुसार न्यायालय मामले का निम्नलिखित ढंग से निस्तारण करेगा।

(क) पीड़ित को प्रतिकर प्रदान करेगा और पक्ष कारों दंड की मात्रा धारा 360 के अधीन सदाचरण की परीवीक्षा पर या भत्तर्सना के बाद अभियुक्त को छोड़ने या अपराधी परीवीक्षा अधिनियम, 1958 या तत्समय प्रवृत्त किसी अन्य विधि के प्रावधानों के अधीन अभियुक्त पर विचार के लिए सुनेगा और अभियुक्त को दंड के प्रश्न पर सुनेगा,

(ख) पक्षकारों को सुनने के बाद यदि न्यायालय की यह राय है धारा 360 या अपराधी परीवीक्षा अधिनियम, 1958 या किसी अन्य तत्समय प्रवृत्त विधि के प्रावधान अभियुक्त पर लागू होते हैं तब वह अभियुक्त को परीक्षा पर छोड़ सकेगा या किसी विधि का लाभ प्रदान कर सकेगा।

(ग) यदि न्यायालय की राय है कि अभियुक्त का अपराध न्यूनतम दंड से दंडिनीय है तब अभियुक्त को न्यूनतम दंड का आधा प्रदान कर सकेगा।

(घ) यदि न्यायालय की राय है कि अभियुक्त का अपराध खंड (ख) एवं (ग) के अंतर्गत नहीं आता है तो वह ऐसे अपराध के लिए उपबन्धिन या विस्तार, योग्य दंड में से जैसी स्थिति हो, एक चौथाई अभियुक्त को प्रदान कर सकेगा।

न्यायालय का निर्णय—धारा 265 (च) के अनुसार न्यायालय उपरोक्त प्रकार का अपना निर्णय खुले न्यायालय में सुनाएगा और उस पर न्यायालय के पीठासीन अधिकारी का हस्ताक्षर किया जाएगा।

धारा 206 (छ) के अनुसार, न्यायालय का निर्णय अंतिम होगा और ऐसे निर्णय की अपील किसी न्यायालय में सिवास भारतीय संविधान के अनुच्छेद 136 के अधीन विशेष अनुमति याचिका और अनुच्छेद 226 एवं 227 के अधीन रिट याचिका के) नहीं होगा।

अभिवाक् सौदेबाजी का लागू न होना— किशोर न्याय (बालकों की देखरेख और संरक्षण) अधिनियम, 2000 की धारा 2 (ट) में परिभाषित किसी शिशु या किशोर के बारे में विवाद सौदेबाजी लागू नहीं होगी। ऐसा अपराध जो 7 वर्ष से ऊपर के कारावास से दंडनीय अपराध के लिए वहाँ अभिवाक् सौदेबाजी लागू नहीं होगी। अभिवाक् सौदेबाजी वहाँ भी लागू नहीं होगी जहाँ अपराध देश की सामाजिक—आर्थिक स्थिति को प्रभावित करता है या किसी स्त्री अथवा 14 वर्ष से कम आयु के शिशु के विरुद्ध कार्य किया गया है।

प्रश्न 14. पत्नी संतान और माता-पिता के भरण-पोषण संबंधी प्रावधानों की विस्तृत व्याख्या कीजिए भरण-पोषण की अधिकतम राशि क्या होगा। अथवा पत्नी संतान और माता-पिता के भरण-पोषण संबंधी प्रावधानों की विस्तृत व्याख्या कीजिए।

उत्तर—दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 125 से 128 तक में पत्नी, बच्चे एवं माता-पिता के भरण-पोषण के लिए उपबंध किया गया है। प्रत्येक व्यक्ति का यह स्वाभाविक एवं मूल कर्तव्य है कि वह पत्नी एवं बच्चों का तब तक भरण-पोषण करें जब तक कि वे अपने आप पोषित करने योग्य न हो जाए।

इसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति का अपने माता-पिता का भरण-पोषण करने का भी पुनीत कर्तव्य है यदि वे अपना भरण-पोषण करने में सक्षम नहीं हैं।

धारा 125 पत्नी, संतान और माता-पिता का भरण— (1) धारा 125 के अनुसार कोई भी व्यक्ति यदि वह पर्याप्त साधनों वाला है तो

(क) अपनी पत्नी का जो अपना भरण-पोषण करने में असमर्थ है, या

(ख) अपनी धर्मज या अधर्मज अवयस्क संतान का चाहे विवाहित हो या न हो, जो अपना भरण-पोषण करने में असमर्थ है, या

(ग) अपनी धर्मज या अधर्मज संतान का (जो विवाहित पुत्री नहीं है), जिसने वयस्कता प्राप्त कर ली है, जहाँ ऐसी संतान किसी शारीरिक या मानसिक असामान्यता या क्षति के कारण अपना भरण-पोषण करने में असमर्थ है, या (घ) अपने पिता या माता का, जो अपना भरण-पोषण करने में असमर्थ है,

भरण-पोषण करने में उपेक्षा करता है या भरण-पोषण करने से इनकार करता है तब प्रथम वर्ग मजिस्ट्रेट ऐसी उपेक्षा या इंकार के साबित हो जाने पर ऐसे व्यक्ति को यह निर्देश दे सकता है कि वह अपनी पत्नी, संतान या माता-पिता के भरण-पोषण के लिए ऐसी मासिक दर पर, जिसे मजिस्ट्रेट ठीक समझे मासिक भत्ता दे और उस भत्ते का संदाय ऐसे व्यक्ति को करें जिसको संदाय करने का मजिस्ट्रेट समय-समय पर निदेश दे।

धारा 125 के प्रथम परन्तुक अनुसार मजिस्ट्रेट धारा 125(1) (ख) में वर्णित अवयस्क पुत्री के पिता को निर्देश दे सकता है कि वह उस समय तक ऐसा भत्ता दे जब तक वह वयस्क नहीं हो जाती है यदि मजिस्ट्रेट का यह समाधान हो जाता है कि ऐसी अवयस्क पुत्री के, यदि वह विवाहित हो, पति के पास पर्याप्त साधन नहीं हैं,

परन्तु यह और कि धारा 125(1) के अधीन भरण-पोषण के संबंध में न्यायालय यह आदेश दे सकता है कि वह अपनी पत्नी, संतान एवं माता-पिता के अंतरिम भरण-पोषण और ऐसी कार्यवाहियों के लिए खर्च की ऐसी राशि दे जिसे मजिस्ट्रेट ठीक समझे,

परन्तुक यह और भी की अंतरिम भरण-पोषण के मासिक भत्ते और कार्यवाहियों के खर्च के लिए आवेदन का निस्तारण ऐसे आवेदन के ऐसे व्यक्ति पर सूचना की तामील हो जाने के 60 दिन के भीतर यथासंभव कर दिया जाएगा।

125(2) भरण-पोषण के लिए या अंतरिम भरण-पोषण के लिए ऐसा भत्ता या कार्यवाहियों का खर्च आदेश की तारीख से, या यदि ऐसा आदेश दिया जाता है तो भरण-पोषण या अंतरिम भरण-पोषण और कार्यवाहियों के खर्च के लिए आवेदन की तारीख से, संदेय होगा।

125(3) यदि कोई व्यक्ति जिसे आदेश दिया गया हो, उस आदेश का अनुपालन करने में पर्याप्त कारण के बिना असफल रहता है तो उस आदेश के प्रत्येक भंग के लिए ऐसा कोई मजिस्ट्रेट देय रकम के ऐसी रीति से उद्ग्रहीत किए जाने के लिए वारंट जारी कर सकता है जैसी रीति जुर्माने से उद्ग्रहीत करने के लिए उपबन्धित है, और उस वारंट के निष्पादन के पश्चात् प्रत्येक मास के न चुकाए गए (भरण-पोषण या अंतरिम भरण-पोषण के भत्ते और कार्यवाहियों के खर्च, जैसी भी स्थिति हो या उसके किसी भाग के लिए ऐसे व्यक्ति को एक मास तक की अवधि के लिए अथवा यदि यह उससे पूर्व चुका दिया जाता है तो चुका देने के समय तक के लिए, कारावास का दंडादेय दे सकता है।

परन्तु इस धारा के अधीन देय किसी रकम की वसूली के लिए कोई वारंट तब तक जारी न किया जाएगा जब तक उस रकम को उद्ग्रहीत करने के लिए, उस तारीख से जिसको वह देय हुई एक वर्ष की अवधि के अंदर न्यायालय से आवेदन नहीं किया गया है।

परन्तु यह और कि यदि ऐसा व्यक्ति इस शर्त पर भरण-पोषण करने की प्रस्थापना करता है कि उसकी पत्नी उसके साथ रहे और वह पति के साथ रहने से इंकार करती है तो ऐसा मजिस्ट्रेट उसके द्वारा कथित इन्कार के किन्हीं आधारों पर विचार कर सकता है और ऐसी प्रस्थापना के किए जाने पर भी इस धारा के अधीन आदेश दे सकता है यदि उसका समाधान हो जाता है कि ऐसा आदेश देने के लिए न्याय संगत आधार है।

(यदि पति ने अन्य स्त्री से विवाह कर लिया है या वह रखैल रखता है तो वह उसकी पत्नी द्वारा उसके साथ रहने से इंकार का न्याय संगत आधा माना जाएगा)

125(4) कोई पत्नी अपने पति से इस धारा के अधीन (भरण-पोषण या अंतरिम भरण-पोषण के भत्ते और कार्यवाहियों के खर्च जैसी भी स्थिति हो) प्राप्त करने की हकदार न होगा, यदि वह जौता की दशा में रह रही है अथवा यदि वह पर्याप्त कारण के बिना अपने पर पति के साथ रहने से इंकार करती है अथवा यदि वे पारस्परिक सम्मति से पृथक् रह रहे हैं।

125(5) मजिस्ट्रेट यह साबित होने पर आदेश को रद्द कर सकता है कि कोई पत्नी जिसके पक्ष में इस धारा के अधीन दिया गया है जारता कि स्थिति में रह रही है अथवा पर्याप्त कारण के बिना अपने पति के साथ रहने से इंकार करती है अथवा वे पारस्परिक संबंध से पृथक् रह रहे हैं।

युमनाबाई बनाम अनंतराव, 1988, कि. लॉ.ज. 793, SC के बाद में उत्तम न्यायालय ने निर्धारित किया कि इस धारा के अंतर्गत पत्नी द्वारा भरण-पोषण का दावा करने के लिए यह निश्चित रूप से साबित किया जाना कि वह पक्षकारों को लागू वैयक्तिक विधि के अंतर्गत विधि के अन्तर्गत विधिक रूप से विवाहित पत्नी थी।

इसी प्रकार **मोहम्मद अहमद खान बनाम शाह बानो बेगम, 1985 क्रि. लॉ.ज. 875, SC** के बाद में उच्चतम न्यायालय ने अवतरित किया की धारा 125 सभी पर लागू होती है चाहे वह किसी भी धर्म के हो।

देवचन्द्र बनाम महाराष्ट्र राज्य ए आई आर 1974 सुप्रीम कोर्ट 1488 के बाद में यह निर्णय लिया गया कि जहाँ पति अन्य स्त्री से विवाह करता है पत्नी पति के साथ रहने से इंकार कर सकती है और भरण-पोषण के लिए अधिकृत है।

धारा 126 प्रक्रिया (1) किसी व्यक्ति के विरुद्ध धारा 125 के अधीन कार्यवाही किसी ऐसे जिले में की जा सकती है, जहाँ वह है अथवा जहाँ वह या उसकी पत्नी निवास करती है अथवा जहाँ उसने अंतिम बार यथास्थिति अपनी पत्नी के साथ या अधर्म संतान की माता के साथ निवास किया है ऐसी कार्यवाही में सब सच है से बचके उपस्थिति में जिसके विरुद्ध भरण-पोषण के लिए संदाय का आदेश देने की स्थापना है अथवा जब उसकी वैदिक हाजिरी से अभी मुक्ति दे दी गई है तब उसके प्लीडर की उपस्थिति में लिया जाएगा और वह शरीर से और लिखित किया जाएगा जो नउंद मामलों के बीच है परन्तु यदि मजिस्ट्रेट का समाधान हो जाता है। कि ऐसा व्यक्ति जिसके विरुद्ध भरण-पोषण के लिए संदाय का आदेश देने की स्थापना है तमिल से जानबूझकर बचा है अथवा न्यायालय में हाजिर होने में जानबूझकर उपेक्षा कर रहा है तो मजिस्ट्रेट मामले में एक पक्षी रूप में सुनने और अब धारण करने के लिए अग्रसर हो सकता है और ऐसे दिया गया कोई आदेश उसकी तारीख से 3 मार्च के अंदर किए गए आवेदन पर दर से अच्छे कारण से ऐसे निबंधनों में अधीन जिनके अंतर्गत विरोधी पक्ष कार को खर्च के संदाय के बारे में ऐसे निबंधन भी हैं जो मजिस्ट्रेट न्यायोचित और उचित समझे या पास्ट किया जा सकता है।

धारा 127 भन्ते में परिवर्तन— यह धारा मजिस्ट्रेट को भरण-पोषण लेने या देने वाले व्यक्ति की परिस्थितियों में परिवर्तन के कारण भरण-पोषण की धनराशि को घटाने या बढ़ाने की शक्ति प्रदान करती है। ऐसा कोई आदेश प्रार्थना पत्र की तिथि से लागू किया जा सकता है। उस स्थिति में भी भरण-पोषण की धनराशि बढ़ायी जा सकती है जबकि मूल आदेश समझौते के आधार पर पारित किया गया हो।

धारा 128 भरण-पोषण क्या अंतरिम भरण-पोषण और कार्यवाहियों के खर्च जैसी भी—

स्थिति हो के आदेश का प्रवर्तन—धारा 128 के अनुसार भरण-पोषण या अंतरिम भरण-पोषण और कार्यवाहियों के खर्च जैसी भी स्थिति हो के आदेश के प्रति उसे व्यक्ति को जिसके पक्ष में वोट दिया गया है या उसके संरक्षक को यदि कोई हो या उस व्यक्ति को जिसे भरण-पोषण या अंतरिम भरण-पोषण के लिए भत्ता और कार्यवाहियों के खर्च जैसी भी स्थिति हो दिया जाना है, निःशुल्क दी जाएगी और ऐसे आदेश का प्रवर्तन किसी ऐसे स्थान में, जहाँ वह व्यक्ति है जिसके विरुद्ध वह आदेश दिया गया था, किसी मजिस्ट्रेट द्वारा पक्षकारों को पहचान के बारे में और देय भत्ते या खर्च जैसी भी स्थिति हो के न दिए जाने के बारे में ऐसे मजिस्ट्रेट का समाधान हो जाने पर किया जा सकता है।

प्रश्न 15. परिशांति बनाए रखने के लिए प्रतिभूति के संबंध में दंड प्रक्रिया संहिता में क्या व्यवस्था की गई है ? समझाइए।

उत्तर—परिशांति बनाए रखने के लिए प्रतिभूति लिए जाने की व्यवस्था को दो भागों में वर्गीकृत किया गया है—

(1) दोष सिद्ध हो जाने पर शांति बनाए रखने के लिए प्रतिभूति

(2) अन्य अवस्थाओं में परिशांति बनाए रखने के लिए प्रतिभूति ।

(1) दोष सिद्ध हो जाने पर शांति बनाए रखने के लिए प्रतिभूति—धारा 106 में ऐसे व्यक्ति से पर शांति बनाए रखने के संबंध में प्रतिभूति लिए जाने का प्रावधान किया गया है जिसको कि किसी मामले में दोषी ठहराया गया हो।

जब सेशन न्यायालय या प्रथम श्रेणी मजिस्ट्रेट न्यायालय का इस धारा में वर्णित अपराध में से किसी अपराध के लिए या उसके दुष्प्रेरण के लिए दोष सिद्ध ठहराता है और न्यायालय को यह प्रतीत होता है कि ऐसे व्यक्ति से शांति बनाए रखने के लिए प्रतिभूति लिया जान आवश्यक है तो वह ऐसे व्यक्ति को 3 वर्ष से अधिक अवधि तक के लिए शांति बनाए रखने हेतु प्रतिभूति सहित या रहित बंधपत्र निष्पादित करने का आदेश दे सकेगा।

इस धारा के अंतर्गत आदेश संक्षिप्त विचारण के दौरान भी दिया जा सकता है यदि इस धारा में निर्दिष्ट किसी अपराध के लिए दोष सिद्ध की गई हो, एवं ऐसा मजिस्ट्रेट ऐसी दोष सिद्ध एवं आदेश पारित करने के लिए अधिकारिता रखता हो।

निम्नलिखित अपराधों में से किसी अपराध के लिए दोष सिद्ध ठहराए जाने पर परिशांति बनाए रखने के लिए प्रतिभूति ली जा सकती है (i) भारतीय दंड संहिता के **अध्याय 8** वे अधीन दंडनीय अपराध जो धारा 153—क या धारा 153—ख या धारा 154 के अधीन दंडनीय अपराध से भिन्न है,'

- (ii) ऐसा कोई अपराध जो हमला आपराधिक बल प्रयोग या रिष्टि के रूप में हो अर्था जिनमें हमला, आपराधिक बल का प्रयोग या रिष्टि सम्मिलित हो,
- (iii) आपराधिक अभिवास का कोई अपराध,
- (iv) अन्य कोई ऐसा अपराध जिससे
 - (a) शांति भंग हुई हो, या
 - (b) शांति भंग होने की आशंका हो, या
 - (c) जिसके बारे में यह ज्ञात था कि उससे शांति भंग होने की संभावना है।

‘शांति भंग’ होना इस पद के प्रयोग में न्यायिक मतभेद है। इलाहाबाद एवं मुंबई उच्च न्यायालयों की राय में इसका विस्तार उन अपराधों तक है जो शांति भंग या ‘लोक शांति’ के भंग से ही नहीं है। इसकी राय में किसी व्यक्ति को चोट पहुँचाने का अपराध शांतिभंग से संबंधित है चाहे वह लोग स्थान या निजी स्थान में हुआ हो।

एम्परर बनाम धर्मराज एआईआर 42 इलाहाबाद 445 के वाद में कहा गया कि यदि कोई आपराधिक अतिचार शांति भंग करने के आशय से कारित किया गया है तो इस धारा के अंतर्गत प्रतिभूति का आदेश दिया जा सकेगा।

एक अन्य वाद में कोलकाता उच्च न्यायालय ने कहा कि यदि कोई अन्य आशय रहा हो तो ऐसा आदेश पारित नहीं किया जा सकेगा, जैसा प्रतिवादी की पत्नी के साथ अवैध संभोग किया जाना आदि।

अन्य अवस्थाओं में परिशांति बनाए रखने के लिए प्रतिभूति-अन्य समस्त मामलों में शांति बनाए रखने के लिए प्रतिभूति लिए जाने के बारे में व्यवस्था **धारा 107** में की गई है इस धारा के प्रावधान निम्नलिखित हैं—

(1) जब किसी कार्यपालक मजिस्ट्रेट की इत्तीला मिलती है कि संभाव्य है कि कोई व्यक्ति परिशांति भंग करेगा या लोक प्रशांति विक्षुब्ध करेगा या कोई ऐसा संदोष कार्य करेगा जिससे संभवतः परिशांति भंग हो जाएगी या लोक प्रशांति विक्षुब्ध हो जाएगी तब यदि उसकी राय में कार्यवाही करने के लिए पर्याप्त आधार हैं तो वह ऐसे व्यक्ति से इसमें इसके पश्चात् उपबंधित रीति से अपेक्षा कर सकता है कि वह कारण दर्शित करें कि 1 वर्ष से अधिक की इतनी अवधि के लिए जितनी मजिस्ट्रेट नियत करना ठीक समझे परिशांति कायम रखने के लिए उसे (प्रतिभूतों सहित या रहित) बंधपत्र निष्पादित करने के लिए आदेश क्यों दे दिया जाए।

(2) इस धारा के अधीन कार्यवाही किसी कार्यपालक मजिस्ट्रेट के समक्ष तब की जा सकती है जब या तो वह स्थान जहाँ परिशांति भंग या विक्षोभ की आशंका है, उसकी स्थानीय अधिकारिता के अंदर है या ऐसी अधिकारिता के अंदर कोई व्यक्ति है, या ऐसी अधिकारिता के परे संभाव्यतः भंग करेगा या लोक प्रशांति विक्षुब्ध करेगा या यथा पूर्वक कोई सदोष कार्य करेगा।

सेकर बनाम पदमा लोसाई. लॉ. ज 1405 मद्रास के बाद में अब धारित किया गया कि प्रतिकूल समूह के दो प्रतीक पक्षियों के विरुद्ध इस धारा के अंतर्गत एक ही कार्रवाई में आदेश नहीं दिया जा सकता है इस प्रकार का आदेश कार्रवाई को दूषित करेगा और अभी खंडित किए जाने योग्य होगा।

मिथ्या बनाम राजस्थान, 1987 क्रि. लॉ. ज 1042 राजस्थान के वाद में अवधारित किया गया कि धारा 107 के अंतर्गत मजिस्ट्रेट को 1 वर्ष से अधिक अवधि के लिए व्यक्तियों को बंधित करने की शक्ति है इस 1 वर्ष का प्रारम्भ उस तिथि से होता है जब मजिस्ट्रेट कार्रवाई करने के लिए संतुष्ट होता है और संज्ञान लेते हुए कार्रवाई आरम्भ करता है न कि वारंट के नामील या अभियुक्त की प्रथम उपस्थिति से।

धारा 107 111 एवं 116 में ऐसे कोई उपबंध नहीं हैं जो मजिस्ट्रेट को निश्चित रूप उन कार्रवाहियों, जिन्हें प्रारम्भ किया गया है, को समाप्त करने का अधिकार देते हो, परन्तु ऐसे शक्ति अनुमति की जा सकती है वह **धारा 107** के अधीन प्रारम्भ की गई कार्यवाही को किस भी अवस्था में समाप्त कर सकता है यहाँ तक कि इस संहिता की **धारा 111** के अधीन आदेश के बाद या **धारा 116** के अधीन जाँच के पूर्व भी।

प्रश्न 16. दंड प्रक्रिया संहिता के अंतर्गत किसी जिला मजिस्ट्रेट की लोक उपचार के आवश्यक मामलों में क्रा अनिवार्य शक्तियाँ हैं।

उत्तर—भारतीय दंड संहिता की **धारा 268** में पब्लिक न्यूसेंस को परिभाषित किया गया है धारा 268 के अनुसार वह व्यक्ति लोक न्यूसेंस का दोषी है, जो कोई ऐसा कार्य करता है या किसी ऐसे अवैध लोग का दोषी है, जिसमें को लोक को या जन साधारण को जो आसपास में रहते हो या आसपास की संपत्ति पर अभियोग रखते हो, यदि सामान्य क्षति, संकट या क्षोभ कारित हो या जिसमें उन व्यक्तियों को जिन्हें किसी लोक अधिकार को उपयोग में लाने का अवसर पड़े, क्षति, बाधा, संकट या क्षोभ कारित होना अवश्यभावी हो। सामान्य शब्दों में लोक न्यूसेंस वह कृत्य है, जो व्यक्तियों के किसी ऐसे वर्ग के युक्तियुक्त सुख-सुविधा को प्रभावित करते हो, जो उसके परिचालन अथवा पड़ोस के अंतर्गत आते हैं। पब्लिक न्यूसेंस के बारे में दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 133 से धारा 143 तक में प्रावधान किए गए हैं लोक न्यूसेंस को दंड प्रक्रिया संहिता में परिभाषित नहीं किया गया है।

अप्रदूषण दूर करने के लिये आदेश— जब जिला मजिस्ट्रेट या उपखण्ड मजिस्ट्रेट या राज्य सरकार द्वारा इस निमित्त विशेषतया प्राधिकृत कोई अन्य कार्यपालक मजिस्ट्रेट किसी पुलिस अधिकारी से रिपोर्ट अथवा अन्य सूचना प्राप्त होने पर और ऐसा साक्ष्य लेने पर जैसा कि वह ठीक समझे, विचार करे—

(क) किसी सार्वजनिक स्थान या मार्ग या जल-प्रवाह से, जो जनता द्वारा विधिपूर्वक उपयोग में लाया जाता है या लाया जा सकता है, कोई विधि-विरुद्ध बाधा या अप्रदूषण हटाया जाना चाहिये, अथवा

(ख) किसी व्यापार या पेशा को चलाना या किसी वस्तु या वाणिज्य को रखना, जो समुदाय के स्वास्थ्य या शारीरिक सुख के लिये क्षतिकर हो और परिणामतः ऐसा व्यापार या पेशा प्रतिषिद्ध (Prohibited) या विनियमित (Regulated) होना चाहिये या ऐसी वस्तु या वाणिज्य हटा दिया जाना चाहिये या उसका रखना विनियमित होना चाहिये, अथवा

(ग) किसी निर्माण का बनाया जाना या किसी पदार्थ का विक्रय जिसे सम्भावना हो कि अग्निकाण्ड या विस्फोट हो जायेगा, निषिद्ध या बन्द कर दिया जाना चाहिये, अथवा

(घ) कोई निर्माण, तम्बू संरचना या वृक्ष जो ऐसी दशा में है, जिससे सम्भावना है कि वह गिर जाये और पड़ोस में रहने वाले या कार्य करने वाले या पास से निकलने वाले व्यक्तियों को उससे क्षति हो, अतः ऐसे निर्माण, तम्बू या संरचना को हटाना या उसकी मरम्मत कराना या उसमें आलम्ब (Support) लगाना या ऐसे वृक्ष को हटाना या उसमें आलम्ब लगाना आवश्यक है, अथवा

(ङ.) ऐसे किसी मार्ग या सार्वजनिक स्थान के समीप किसी तालाब, कुये या उत्खात (Excavation) में बाड़ इस प्रकार से लगा दी जानी चाहिये कि जनता को होने वाले खतरे का निवारण हो सके, अथवा

(च) किसी भयानक जीव-जंतु को नष्ट करना, परिरुद्ध या अन्यथा रूप से व्यक्त किया गया जन्मोत्सव, तब ऐसा मजिस्ट्रेट ऐसी बाधा या अपद्रवण पैदा करने वाले या व्यापार या पेशा चलाने वाले या ऐसी वस्तु या वाणिज्य को रखने वाले या ऐसे निर्माण, तम्बू या संरचना, पदार्थ तालाब, कुये या उत्खात (Excavation) का स्वामित्व या आधिपत्य या नियन्त्रण में रखने वाले या ऐसे जीव-जंतु का वृक्ष का स्वामित्व या आधिपत्य रखने वाले व्यक्ति से यह अपेक्षा करते हुए सशर्त आदेश दे सकेगा कि उतने समय के अन्दर में नियत किया जायेगा, वह

(i) बाधा या अपद्रवण हटा दे, अथवा

(ii) ऐसा व्यापार या पेशा चलाने से विमुख हो जाये या उसे ऐसी रीति से बन्द कर दे विनियमित करे अथवा ऐसी वस्तु या वाणिज्य को हटाये या उसको रखना ऐसी रीति से विनियमित करे जिसका निर्देश दिया जाये, अथवा

(iii) ऐसा निर्माण बनाना निवारित या बन्द कर दे या ऐसे पदार्थ के विक्रय में परिवर्तन कर दे, अथवा

(iv) ऐसे निर्माण या तम्बू या संरचना को हटाये, उसकी मरम्मत कराये या उसमें आलम्ब लगाये या ऐसे वृक्षों को हटाये अथवा

(v) ऐसे भयानक जीव-जंतु को उस रीति से नष्ट, परिरुद्ध या विक्रय करे जो उसे आदेश में उपबन्धित है, अथवा

यदि वह ऐसा करने में आपत्ति करे तो वह स्वयं उसके समक्ष या उसके अधीनस्थ किसी कार्यपालक मजिस्ट्रेट के समक्ष उस समय और स्थान पर जो उस आदेश द्वारा नियत किया जायेगा, उपस्थिति हो और इसमें इस रीति से कारण दर्शित करें कि क्यों न उस आदेश को अन्तिम कर दिया जाये (धारा 133)।

इस प्रकार इस धारा के अन्तर्गत दिया जाने वाला आदेश सशर्त आदेश होता है (एम्परर बनाम बृजकान्त राय चौधरी, आई. एल. आर. 9 कलकत्ता 637)।

भागीरथ अग्रवाल बनाम महाराष्ट्र राज्य, (2004) क्रि. ला. जा. सु. को. के मामले में उच्चतम न्यायालय ने अभिनिर्धारित किया कि धारा 133 का लाभ पाने के लिए यह साबित/दर्शित करना चाहिए कि लोगों को असुविधा बहुत अधिक थी और बढ़ी संख्या में जनता उससे प्रभावित थी तथा मजिस्ट्रेट को जाँच करना चाहिए और यह निर्णय करना चाहिए कि आरोप का समर्थन करने के लिए विश्वसनीय साक्ष्य है या नहीं।

इस धारा में प्रयोज्यता के लिये लोक-स्वास्थ्य, सुख और सुविधा को तत्काल खतरे को सम्भावना होना आवश्यक है (मुरलीधर भील पाटिल बनाम ओंकार व्यंकट पाटिल, ए. आई. आर. 1961 बम्बई 263)।

सार्वजनिक अपद्रवण (Public Nuisance) के निवारण के लिये जहाँ नगरपालिका का यह कर्तव्य हो कि वह स्वास्थ्य रक्षा के लिये अपेक्षित सुविधायें जुटाये, वहाँ नगरपालिका अर्थाभाव के कारण अपने उक्त दायित्व से मुक्त नहीं हो सकती (नगर परिषद् रतलाम बनाम श्री विरधीचन्द्र एवं अन्य, क्रि. लॉ. रि. 1980 एस. सी. 543)।

क्रियाएँ एवं आगे की कार्यवाही — धारा 134 से 143 तक में तत्सम्बन्धी प्रक्रिया एवं आगे की कार्यवाही का उल्लेख किया गया है—

(1) **आदेश की तामील**—ऐसे आदेश की तामील सम्मन की तामील की तरह की जायेगी।

(2) **आदेश का पालन किया जाना अथवा कारण दर्शित किया जाना**—जिस व्यक्ति के विरुद्ध आदेश पारित किया गया है वह नियत तिथि के भीतर या तो आदेश का पालन करेगा या आदेशानुसार उपस्थित होकर दर्शित करेगा।

(3) **चूक करने में परिणाम**—यदि ऐसा व्यक्ति नियत समयावधि के भीतर न तो आदेश का पालन करता है और न कारण दर्शित करता है तो—

(i) वह आदेश अन्तिम कर दिया जायेगा, एवं

(ii) ऐसा व्यक्ति भारतीय दण्ड संहिता की धारा 188 के अन्तर्गत दण्डित किया गया जायेगा।

(4) **लोक-अधिकार से इन्कार किया जाना**—जहाँ ऐसा व्यक्ति लोक-अधिकार से इन्कार करता है, तो मजिस्ट्रेट उसकी जाँच करेगा। ऐसा अधिकार के सम्बन्ध में सिविल न्यायालय के विनिश्चय तक उस आदेश के प्रवर्तन को रोक देगा। लेकिन यदि वह ऐसी इन्कारी के सम्बन्ध में कोई विश्वसनीय साक्ष्य नहीं पाता है तो वह साक्ष्य आदि लेते हुए आगे कार्यवाही करेगा।

(5) आदेश का अन्तिम कर दिया जाना—मामले की सुनवाई के पश्चात् जहाँ तथा कथित आदेश को अन्तिम कर दिया जाता है वहाँ इस आशय की सूचना उस व्यक्ति को दी जायेगी और उससे यह अपेक्षा की जायेगी कि वह नियत समय में उस आदेश का पालन कर दे।

यदि ऐसे आदेश का फिर भी पालन नहीं किया जाता है तो—

(i) मजिस्ट्रेट वांछित कार्य करा सकेगा एवं उस पर होने वाला व्यय उस व्यक्ति से वसूल किया जायेगा, एवं

(ii) ऐसे व्यक्ति को भारतीय दण्ड संहिता की धारा 188 के अन्तर्गत दण्डित किया जायेगा।

(6) निषेधाज्ञा जारी किया जाना—यदि मजिस्ट्रेट का यह समाधान हो जाये कि लोक-संकट अथवा गम्भीर प्रकार की क्षति का निवारण करने के लिये व्यादेश जारी किया जाना आवश्यक है तो वह जाँच के किसी भी स्तर पर व्यादेश जारी कर सकेगा (टी. एन. सुधाकरन बनाम ई. एम. जार्ज, 1973 क्रि. लॉ. ज. 542 एवं अमर कृष्ण बनाम विप्र चरन, (1965) 1 क्रि. लॉ. ज. 520)।

LL.B.-4th Sem. Paper-V Code of Civil Procedure and Limitation Act

प्रश्न न० 1— डिक्री से आप क्या समझते हैं? डिक्री के आवश्यक तत्वों का वर्णन कीजिए। प्रारम्भिक एवं अन्तिम डिक्री में अन्तर कीजिए।

उत्तर— सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 2 उपधारा 2 के अनुसार आज्ञापत्र की परिभाषा दी गई है। जो इस प्रकार है। “आज्ञापत्र से ऐसे न्याय निर्णय की औपचारिक अभिव्यक्ति अभिप्रेत है जो कि वाद के में सभी या किन्हीं विवादास्पद विषयों के संबंध में पक्षकारों के अधिकारों को वहां तक निश्चित रूप से आधारित करता है, जहां तक की उसे अभिव्यक्त करने वाले न्यायालय का संबंध है। यह प्रारम्भिक या अन्तिम हो सकती है। डिक्री तब प्रारम्भिक होती है जब बाद में पूर्ण रूप से निपटारा कर दिए जा सकने के पहले आगे और कार्यवाही की जानी है। अन्तिम डिक्री वह होती है जो अन्तिम रूप से अधिकारों को विनिश्चय कर दे, जब ऐसा न्यायनिर्णय वाद को पूर्ण रूप से निपटा देता है। वह भागतः प्रारम्भिक और भागतः अन्तिम हो सकेगी”

किसी भी डिक्री में निम्न आवश्यक बातें होती हैं

- (1) वाद का निस्तारण हो गया हो।
- (2) वाद का निस्तारण न्यायालय के द्वारा हुआ हो।
- (3) यह निस्तारण किसी सिविल या राजस्व न्यायालय द्वारा अन्तिम रूप से हुआ हो।
- (4) निश्चित रूप से पक्षकारों के अधिकारों का अवधारण हो गया हो।
- (5) व्यतिक्रम में वाद के खारिज होने के आदेश की अभिव्यक्ति ना हो।

छोला राम बनाम मासक के मामले में राजस्थान उच्च न्यायालय द्वारा यह अभिनिर्धारित किया गया है कि वाद या अपील को अवधिरुद्ध करने वाला आदेश डिक्री नहीं है, क्योंकि इसमें पक्षकारों के अधिकारों का विनिश्चय नहीं होता है।

रतन सिंह बनाम विजय सिंह के मामले में यह तय किया गया है कि विलंब को माफ करने के लिए प्रस्तुत किए गए आवेदन पत्र को अस्वीकार करते हुए विलंब के कारण अवधिरुद्ध अपील को खारिज किए जाने का आदेश डिक्री नहीं है।

सिन्नामणि बनाम जी वेट्टीवेल के मामले में यह कहा गया है कि संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन उच्च न्यायालय द्वारा पारित आदेश डिक्री की परिभाषा में नहीं आता है समय-समय पर भारत के उच्चतम न्यायालय एवं उच्च न्यायालय द्वारा डिक्री के संबंध में निर्णय दिए जाते रहे हैं।

डिक्री के आवश्यक तत्व—

(1) एक निर्णय—अधिनिर्णय का अर्थ है विवाद में मामले का न्यायिक निर्धारण और न्यायनिर्णयन की कार्यवाही। आदेश में कि एक न्यायालय का निर्णय एक दशक के बराबर होता है, एक निर्णय होना चाहिए। दूसरे शब्दों में, यदि पार्टियों के बीच विवाद का कोई न्यायिक निर्धारण नहीं है, तो कोई निर्णय नहीं हो सकता है, उदाहरण के लिए, डिफॉल्ट रूप से खारिज की गई अपील, या पार्टियों की गैर-उपस्थिति के लिए एसयू को खारिज करने का आदेश एक की राशि नहीं है वहाँ के लिए डिक्री विवाद में मामले के न्यायिक निर्धारण के लिए है। इसके अलावा, ऐसा निर्णय एक न्यायालय द्वारा होना चाहिए।

(2) एक सूट में—डिक्री का दूसरा अनिवार्य तत्व यह है कि ऊपर उल्लिखित निर्णय एक वाद में दिया जाना चाहिए। यहां एक स्वाभाविक प्रश्न उठता है— सूट क्या है संहिता में सूट शब्द को परिभाषित नहीं किया गया है।

हंसराज बनाम देहरादून—मसूरी इलेक्ट्रिक ट्रामवेज कंपनी लिमिटेड में निम्नलिखित शब्दों में सूट को परिभाषित किया है— सूट शब्द का सामान्य अर्थ है और कुछ संदर्भों के अलावा, एक वादी की प्रस्तुति द्वारा स्थापित एक नागरिक कार्यवाही का अर्थ लिया जाना चाहिए। इस प्रकार, प्रत्येक वाद की शुरुआत एक वादपत्र प्रस्तुत करके की जाती है और जब कोई दीवानी वाद नहीं होता है तो कोई डिक्री नहीं होती है। लेकिन जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है, परिभाषा पूर्ण प्रतीत नहीं होती है क्योंकि कुछ सिविल कार्यवाही हैं, हालांकि एक आवेदन के साथ शुरू होने पर उन्हें एक दीवानी वाद माना जाता है और उसमें एक निर्णय एक डिक्री के बराबर होता है। इस प्रकार, एक विवाद प्रोबेट कार्यवाही हालांकि एक आवेदन की प्रस्तुति से शुरू होती है, फिर भी यह एक सिविल सूट के बराबर होती है। इसी तरह, एक कार्यवाही जिसमें मध्यस्थता अधिनियम, 1940 के तहत मध्यस्थता को संदर्भित करने के लिए एक समझौता दायर करने के लिए एक आवेदन किया जाता है, एक नागरिक सूट के रूप में माना जा सकता है। हिंदू विवाह अधिनियम, 1955 और भूमि के तहत कुछ कार्यवाही अधिग्रहण अधिनियम, को दीवानी वाद भी माना जा सकता है। केरल उच्च न्यायालय के एक फैसले में कहा गया है कि मोटर वाहन अधिनियम की धारा 110-ए (एक आवेदन द्वारा शुरू) के तहत कार्यवाही सिविल प्रक्रिया संहिता 2 के तहत एक मुकदमे की प्रकृति में है, इसलिए इसके तहत किए गए आवेदन पर भी कार्यवाही शुरू हो गई है। यूपी कृषक अधिनियम को भी एक वाद के रूप में माना गया। इन कार्यवाहियों के अलावा, किसी अन्य अधिनियम में किसी अन्य कार्यवाही को दीवानी वाद के रूप में

नहीं माना जा सकता है और इसलिए, इसके तहत किया गया कोई भी निर्णय धारा 2 (2) के अर्थ के भीतर एक डिक्री के बराबर नहीं होगा।

(3) विवाद के मामलों में पार्टियों का अधिकार— धारा 2 (2) के आधार पर, ऊपर उल्लिखित न्यायनिर्णय ने विवाद के सभी या किसी भी मामले के संबंध में विवाद के पक्षकारों के अधिकारों का निर्धारण किया होगा। दूसरे शब्दों में, पार्टियों के अधिकारों पर एक निर्णय होना चाहिए था। हालांकि, यह जरूरी नहीं है कि विवाद के सभी मामलों को न्यायनिर्णय ने निर्धारित किया हो। मामले को स्पष्ट करने के लिए यह कहा जा सकता है कि जहां एक मुकदमे में शामिल मुद्दा यह है कि विवादित घर का कब्जा किसके पास है, चाहे मकान मालिक हो या किरायेदार, ऐसे मुद्दे पर न्यायालय का कोई भी निर्णय अधिकारों पर निर्णय होगा। इस तरह के एक निर्णय एक डिक्री की राशि होगी। लेकिन जहां न्यायालय का निर्णय पक्षकारों के अधिकारों पर नहीं है, ऐसे निर्णय को डिक्री नहीं कहा जा सकता है। इस प्रकार, उपस्थिति में चूक के लिए एक वाद को खारिज करने का आदेश या फॉर्म पैपरिस में मुकदमा करने की अनुमति देने से इनकार करने का आदेश या डिफॉल्ट के लिए अपील को खारिज करने का आदेश या आदेश 9, नियम 2 के तहत एक आदेश, जब समन की तामील नहीं की जाती है तो एक मुकदमा खारिज कर दिया जाता है।

वादी द्वारा कोर्ट—फीस का भुगतान करने में विफलता या गैर-अभियोजन के लिए निष्पादन के लिए एक आवेदन को खारिज करने का आदेश पार्टियों के अधिकारों पर निर्धारण नहीं है, इसलिए डिक्री नहीं है। पार्टियों के अधिकारों का उल्लेख यहां किया गया है, स्थिति, सीमा, अधिकार क्षेत्र, सूट के फ्रेम और खातों आदि से संबंधित अधिकार हैं। फिर से ऐसे अधिकार मूल अधिकार हैं न कि प्रक्रियात्मक अधिकार। इस प्रकार, जहां एक वाद में निर्णय किया जाने वाला प्रश्न यह है कि विवादित संपत्ति पर विवाद करने वाले पक्षों में से किसके पास वास्तविक अधिकार है, यह वास्तविक अधिकारों से संबंधित प्रश्न है। लेकिन जहां सवाल यह है कि क्या किसी विशेष पार्टी को सम्मन विधिवत तामील किया गया है या नहीं, यह सवाल मौलिक अधिकारों से नहीं बल्कि प्रक्रियात्मक अधिकारों से संबंधित है। पार्टियों शब्द का तात्पर्य पक्षकारों से है और वे आम तौर पर वादी होते हैं जिनके पास प्रतिवादी के रूप में दूसरे के खिलाफ कार्रवाई का कारण होता है। इस प्रकार, किसी तृतीय पक्ष द्वारा किए गए आवेदन पर न्यायालय द्वारा पारित आदेश डिक्री नहीं माना जाएगा। वाद के पक्षकार उस व्यक्ति को संदर्भित करते हैं जिसके नाम पक्ष के रूप में वाद के निर्धारण के समय दर्ज किए जाते हैं और इसमें एक मध्यस्थ भी शामिल हो सकता है लेकिन इसमें वह व्यक्ति शामिल नहीं होगा जो मुकदमे के दौरान मर गया और जिसका नाम रिकॉर्ड में दर्ज है सूट गलती से इसी तरह, जो पक्ष वाद से हटता है और जिसका नाम काट दिया जाता है, वह वाद का पक्षकार नहीं होता है। पार्टियों शब्द में ऐसा व्यक्ति भी शामिल नहीं है जिसे बनाया गया है।

(4) निर्णायक निर्धारण— डिक्री होने के लिए न्यायालय का निर्णय निर्णायक प्रकृति का होना चाहिए अर्थात् यह उस न्यायालय के संबंध में पूर्ण और अंतिम होना चाहिए जिसने इसे पारित किया है। एक डिक्री दो तरह से अंतिम हो जाती है जब अपील दायर किए बिना अपील दायर करने का समय समाप्त हो जाता है या उच्चतम न्यायालय की डिक्री द्वारा तय किए गए मामले जहां डिक्री जहां तक न्यायालय द्वारा इसे पारित करने के संबंध में है, पूरी तरह से वाद का निपटारा करता है। एक अंतःक्रियात्मक आदेश जो पक्षों के अधिकारों को अंतिम रूप से तय नहीं करता है, एक डिक्री नहीं है। इस प्रकार, स्थगन से इनकार करने वाला आदेश या अपीलीय न्यायालय द्वारा कुछ मुद्दों का निर्णय करने वाला आदेश और अन्य मुद्दों को निर्धारण के लिए ट्रायल कोर्ट में भेजने का आदेश डिक्री नहीं होगा। कोई निर्णय एक डिक्री है या नहीं, इसका निर्धारण प्रत्यक्ष रूप से इसका सार और सार होगा। यदि संक्षेप में और सार रूप में कोई निर्णय अंतिम और निर्णायक है, तो यह एक डिक्री होगी, अन्यथा नहीं।

(5) औपचारिक अभिव्यक्ति— इस तरह के निर्णय को औपचारिक तरीके से व्यक्त किया जाना चाहिए। फॉर्म की सभी आवश्यकताओं का अनुपालन किया जाना चाहिए। आम तौर पर औपचारिक अभिव्यक्ति का मतलब है कि पीएलए में दावा किए गए किसी भी या सभी राहतों की स्वीकृति या अस्वीकृति और प्रारूप घोषणा में शामिल है। एक डिक्री के रूप में दिया गया ऑर्डर इसे डिक्री नहीं बना देगा, अगर फॉर्म की सभी आवश्यकताओं का पालन नहीं किया जाता है और उसके अनुसार डिक्री तैयार की जाती है। इस तरह के फैसले के खिलाफ कोई अपील नहीं होगी हालांकि, डिक्री का किसी विशेष रूप में होना जरूरी नहीं है। हालांकि, सभी औपचारिक अभिव्यक्तियाँ एक डिक्री की राशि नहीं होंगी, जब तक कि बाद की शर्तों का भी पालन नहीं किया जाता है। जहां ट्रायल कोर्ट ने एक आदेश पारित किया कि मुकदमा सीमा से वर्जित है और शब्दों की अभिव्यक्ति को खारिज करने के लिए उत्तरदायी है षनिहितार्थ द्वारा खारिज किए जाने योग्य का मतलब है कि मुकदमा खारिज कर दिया गया है और यह बर्खास्तगी की औपचारिक अभिव्यक्ति के समान हो सकता है।

प्रारम्भिक डिक्री तथा अन्तिम डिक्री में अन्तर—

प्रारम्भिक डिक्री	अंतिम डिक्री
मुकदमों के मुद्दों में शामिल पक्षों के अधिकारों को निर्धारित करने के लिए अदालत द्वारा दिया गया औपचारिक बयान प्रारम्भिक डिक्री के रूप में जाना जाता है।	अंतिम आदेश से मुकदमों का पूर्ण समाधान हो जाता है तथा भविष्य में निर्णय के लिए कोई मुद्दा नहीं बचता।

न्यायालय पक्षों के अधिकारों का निर्धारण कर सकता है और अंतिम निर्णय दिए जाने की प्रतीक्षा कर सकता है।	अंतिम डिक्री द्वारा पक्षों के अधिकार और दायित्व स्थापित हो जाने के बाद निर्णय लेने के लिए कुछ भी शेष नहीं रहता।
यदि परिस्थितियां बदलती हैं तो प्रारंभिक डिक्री को संशोधित किया जा सकता है।	अंतिम डिक्री को हमेशा प्रारंभिक डिक्री के अनुरूप होना चाहिए।
प्रारंभिक आदेश एक से अधिक बार जारी किया जा सकता है।	एक से अधिक अंतिम आदेश जारी किये जा सकते हैं।
फूलचंद बनाम गोपाल लाल (1967) के अनुसार प्रारंभिक डिक्री एक से अधिक बार जारी की जा सकती है।	शंकर बनाम चंद्रकांत शंकर 1995 के अनुसार , एक से अधिक अंतिम डिक्री हो सकती है

प्रश्न न0 2— प्रलक्षित प्राड्गन्याय के सिद्धान्त की उदाहरण सहित व्याख्या कीजिए। क्या प्राड्गन्याय एकपक्षीय डिक्री पर लागू होता है? वर्णन कीजिए।

उत्तर— रचनात्मक रिस जुडिकाटा— सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 11 में रचनात्मक रिस जुडिकाटा का नियम रिस जुडिकाटा का एक कृत्रिम रूप है। यह प्रावधान करता है कि यदि किसी पक्षकार द्वारा उसके और प्रतिवादी के बीच किसी कार्यवाही में दलील दी गई है, तो उसे उसी मामले के संदर्भ में अगली कार्यवाही में उसी पक्षकार के विरुद्ध दलील देने की अनुमति नहीं दी जाएगी। यह उन सार्वजनिक नीतियों के विरुद्ध है, जिन पर रिस जुडिकाटा का सिद्धांत आधारित है। इसका अर्थ होगा प्रतिवादी को परेशान करना और कठिनाई पहुँचाना। रचनात्मक रिस जुडिकाटा का नियम बार को ऊपर उठाने में मदद करता है। इसलिए इस नियम को रचनात्मक रिस जुडिकाटा के नियम के रूप में जाना जाता है, जो वास्तव में रिस जुडिकाटा के सामान्य सिद्धांतों के संवर्धन का एक पहलू है। उत्तर प्रदेश राज्य बनाम नवाब हुसैन के मामले में, एम एक उप-निरीक्षक था और उसे डी.आई.जी. की सेवा से बर्खास्त कर दिया गया था। उसने उच्च न्यायालय में रिट याचिका दायर करके बर्खास्तगी के आदेश को चुनौती दी। उसने कहा कि आदेश पारित होने से पहले उसे सुनवाई का उचित अवसर नहीं मिला। हालांकि, तर्क को नकार दिया गया और याचिका खारिज कर दी गई। उन्होंने फिर से इस आधार पर याचिका दायर की कि उन्हें आई.जी.पी. द्वारा नियुक्त किया गया था और उन्हें खारिज करने का कोई अधिकार नहीं था। प्रतिवादी ने तर्क दिया कि मुकदमा रचनात्मक रिस जुडिकाटा द्वारा वर्जित था। हालांकि, ट्रायल कोर्ट, प्रथम अपीलीय न्यायालय और साथ ही उच्च न्यायालय ने माना कि मुकदमा रिस जुडिकाटा के सिद्धांत द्वारा वर्जित नहीं था। सर्वोच्च न्यायालय ने माना कि मुकदमा रचनात्मक रिस जुडिकाटा द्वारा वर्जित था क्योंकि दलील वादी, एम के ज्ञान में थी और वह अपने पहले के मुकदमे में इस तर्क को ले सकता था। रचनात्मक रिस जुडिकाटा के सिद्धांत को सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 की धारा 11 के स्पष्टीकरण पट में शामिल किया गया है। स्पष्टीकरण पट में प्रावधान है कि वे सभी मामले जिन्हें बचाव का आधार बनाया जाना चाहिए था या मुकदमे से जोड़ा जाना चाहिए था, लेकिन छोड़ दिए गए थे, उन्हें भी ऐसे मुकदमे में सीधे या काफी हद तक मुद्दा माना जाएगा। यदि कोई पक्ष मुकदमे के दौरान बचाव या हमले का उचित आधार प्रस्तुत करने में विफल रहता है, तो ऐसा मुद्दा चूककर्ता पक्ष के विरुद्ध तय माना जाता है। प्रत्येक न्यायिक कार्यवाई का आधार कार्यवाई का कारण होता है। जब न्यायालय अंतिम आदेश सुनाता है, तो कार्यवाई का कारण समाप्त माना जाता है। इस प्रकार, राहत का दावा करने के लिए उसी कार्यवाई के कारण को फिर से नहीं उठाया जा सकता है, जिसका दावा प्रारंभिक मुकदमे में किया जाना चाहिए था। कार्यवाई का कारण निर्णय के बाद भी बना नहीं रह सकता है और इसे निर्णय में समाहित माना जाता है।

निमो डेबेट बिस वेक्सारी प्रो ऊना एट ईएडेम कॉसार्स इस कहावत का अर्थ है कि किसी भी व्यक्ति को एक ही कार्य के लिए दो बार अभियोजन का सामना नहीं करना पड़ेगा। इस सिद्धांत का उद्देश्य अपराधी को तुच्छ मुकदमेबाजी से बचाना है। आपराधिक न्याय प्रणाली का उद्देश्य सुधार करना है, अपराधी के खिलाफ परेशान करने वाला मुकदमा नहीं।

रेस जुडिकाटा प्रो वेरिटेट एकपिटुर— न्यायिक प्राधिकारी के निर्णय को विधिवत रूप से सही माना जाना चाहिए। यदि न्यायिक निर्णय को निर्णायक के रूप में सम्मान नहीं दिया जाता है, तो अनिश्चितकालीन मुकदमेबाजी होगी, जिससे भ्रम और अराजकता पैदा होगी।

इंटररेस्ट रिपब्लिका यूट सिट फिनिस लिटियम— राज्य का हित मुकदमेबाजी के अंत में निहित है। यह देश की सार्वजनिक नीति का एक हिस्सा है कि अदालतों पर एक ही विषय पर बार-बार मुकदमे दायर करने का बोझ न पड़े। इन तीन सिद्धांतों का न्यायशास्त्रीय महत्व रेस जुडिकाटा को एक सार्वभौमिक अवधारणा बनाता है।

प्रत्यक्ष और सारभूत रूप से मुद्दा— केवल इसलिए कि कोई मामला किसी पूर्व मुकदमे में मुद्दा था, रिस जुडिकाटा के सिद्धांत को लागू करने के लिए पर्याप्त नहीं होगा। यह आवश्यक है कि मामला पिछले मुकदमे में प्रत्यक्ष और

सारभूत रूप से मुद्दा हो। इसे एक पक्ष द्वारा आरोपित किया जाना चाहिए और दूसरे पक्ष द्वारा स्वीकार या अस्वीकार किया जाना चाहिए। स्वीकार या अस्वीकार स्पष्ट रूप से या आवश्यक निहितार्थ द्वारा किया जा सकता है।

रिस ज्यूडिकेटा का सिद्धांत तब लागू होता है जब दो मुकदमों में मुद्दे प्रकृति में समान होते हैं। इस प्रकार, भले ही दो मुकदमों में दावा किए गए कार्रवाई, उद्देश्य और राहत का कारण अलग-अलग हो, रिस ज्यूडिकेटा के सिद्धांत को तब तक लागू किया जा सकता है जब तक कि मुद्दे समान हों। एक मुकदमे में कुछ सहायक मुद्दे भी शामिल हो सकते हैं जो प्राथमिक मुद्दों के लिए गौण हैं। वे मुद्दे जो सारभूत और प्रत्यक्ष मुद्दों के सहायक हैं उन्हें संपार्श्विक या आकस्मिक मुद्दे के रूप में जाना जाता है। इन संपार्श्विक या आकस्मिक मुद्दों के संबंध में रिस ज्यूडिकेटा के सिद्धांत को लागू नहीं किया जा सकता है।

गुण-दोष के आधार पर निर्णय- किसी न्यायालय का निर्णय तभी रिस-जुडिकाटा के रूप में कार्य करेगा जब वह मामले के गुण-दोष के आधार पर दिया गया हो। इस प्रकार, यदि कोई मुकदमा अधिकार-क्षेत्र की अनुपस्थिति के कारण खारिज कर दिया जाता है या यदि न्यायालय द्वारा समझौता डिक्री पारित की जाती है, तो ऐसी बर्खास्तगी या मुकदमा रिस-जुडिकाटा के रूप में कार्य नहीं करेगा। इसी तरह, यदि कोई मुकदमा प्रक्रियात्मक आधारों जैसे कि पक्षों के गलत संयोजन या सुरक्षा प्रदान करने में विफलता के कारण खारिज किया जाता है, तो ऐसा निर्णय रिस-जुडिकाटा के रूप में कार्य नहीं करेगा।

प्रश्न न0 3- पक्षकारों के असंयोजन तथा कुसंयोजन से आप क्या समझते हैं? क्या इस कारण से वाद विफल हो सकता है? व्याख्या कीजिए।

उत्तर- उपरोक्त बिन्दु पर सिविल प्रक्रिया के आदेश 1 और 9 में उपरोक्त उपबन्ध हैं-

कुसंयोजन या असंयोजन- कोई वाद पक्षकारों के कुसंयोजन या असंयोजन विफल न किया जायेगा और न्यायालय वहाँ तक जहाँ तक कि वस्तुतः उसके अपने समकक्ष वाले पक्षकार के अधिकारों और हितों का सवाल है विवादास्पद विषय पर निपटारा प्रत्येक वाद में करेगा।

गलत वादी के नाम में वाद-(1) जहाँ कि कोई वाद या वादी के रूप में गलत व्यक्ति के नाम संस्थित किया गया है, या जहाँ कि यह संदिग्ध है कि क्या यह सही वादी के नाम से संस्थित किया गया या नहीं, वहाँ यदि वाद के किसी प्रक्रम में न्यायालय को समाधान हो जाता है कि वाद सद्भावनाजन्य भूल से संस्थित किया गया और कि विवाद में वास्तविक विषय के अवधारणा के लिए ऐसा करना आवश्यक है, तो वह ऐसे निबन्धनों पर, जिसे कि वह ठीक समझे, किसी अन्य व्यक्ति को वादी के रूप में प्रतिस्थापित किये जाते या जोड़े जाने के लिए आदेश वाद के किसी प्रक्रम में दे सकेगा।

न्यायालय पक्षकारों का नाम निकाल या जोड़ सकेगा-(2) न्यायालय कार्यवाहियों के किसी प्रक्रम में या दोनों पक्षकारों में से किसी के आवेदन पर या उसके बिना और ऐसे निबन्धनों पर जो कि न्यायालय से न्याय प्रतीत हो, आदेश दे सकेगा कि चाहे वादी के रूप में या प्रतिवादी के रूप में अनुचित रूप से संयुक्त किये गये किसी पक्षकार का नाम निकाल दिया जाय और किसी व्यक्ति का नाम, जिस वादी या प्रतिवादी के संयुक्त किया जाना चाहिए था। न्यायालय के सामने जिसकी उपस्थिति वाद में के अन्तर्ग्रस्त सब प्रश्नों का भावी के रूप में और पूरी तरह न्याय निर्णयन और निपटारा करने के लिए न्यायालय के समर्थ करने की दृष्टि से आवश्यक है, जोड़ दिया जाय।

(3) कोई व्यक्ति ऐसे वादी के रूप में, जो कि वाद प्रतिनिधि के बिना ला रहा है या ऐसे वादी प्रतिनिधि के रूप में जो कि बिना निर्योग्यता के अधीन है अपनी सम्मति के बिना जोड़ा जायेगा।

जहाँ कि प्रतिवादी जाय वहाँ वाद-पत्र संशोधित किया जायेगा-(4) जहाँ कि प्रतिवादी जोड़ा जाता है वहाँ जब तक कि न्यायालय अन्यथा निर्दिष्ट न करे वाद-पत्र ऐसे रीति से संशोधित किया जायेगा जैसा कि आवश्यक हो और वाद-पत्र की संशोधित प्रतियों की तामील नये-नये प्रतिवादी और यदि न्यायालय ठीक समझे तो मूल प्रतिवादी पर भी की जायेगी।

(5) भारतीय मर्यादा अधिनियम, 1877 की धारा 22 के उपबन्धों के अधीन रहते हुये जहाँ तक कि प्रतिवादी के रूप में जोड़े गये किसी व्यक्ति का सवाल है वहाँ तक कार्यवाहियों के बारे में यह समझा जायेगा कि वह समनों की तामील पर ही प्रारम्भ हुई है। (दीवानी कार्याविधि संहिता का आदेश 7 नियम 10)

प्रश्न न0 4- अन्तर अभिवचनीय वाद क्या है? यह कब और किसके द्वारा प्रस्तुत किया जाता है? वर्णन कीजिए।

उत्तर- अन्तराभिवाची वाद से तात्पर्य -अन्तराभिवाद वाद वह वाद है ए जिसमे वास्तविक विवाद प्रतिवादियों के बीच रहता है और वादी वाद की विषयवस्तु में कोई हित नहीं रखता है। इस वाद में प्रतिवादी ही एक दूसरे के विरुद्ध अभिवचन करते हैं और ऐसे ऋण या दावों के सम्बन्ध में अभिवचन करते हैं जिसमें वादी अपना कोई हित नहीं रखता और जिसे वह श् अधिकारी प्रतिवादी श् य जो उस संपत्ति के हक का अधिकारी है द्ध को प्रदान करने के लिए तैयार होता है।

मुल्ला के अनुसार- प्रत्येक अंतराभिवाची वाद में केवल प्रतिवादियों के बीच विवारित कुछ ऋण या धन अथवा अन्य संपत्ति होनी चाहिए और वादी एक ऐसा व्यक्ति होना चाहिए जो उस धन तथा संपत्ति के भारो और खर्चों के अतिरिक्त कोई दूसरा हित नहीं रखता है और जो उस संपत्ति को प्रतिवादी को देने अथवा परिदत्त करने के लिए तैयार हो, जिसे न्यायालय उस संपत्ति का हकदार घोषित करें।

विषयवस्तु - ऋण, धनराशि, चल अथवा अचल संपत्ति का विवाद।

आवश्यक शर्तें

- (1) कुछ प्रतिवादी एक दूसरे के विरुद्ध, जैसे — अ ए ब ए स एक दूसरे के विरुद्ध ।
- (2) उस संपत्ति का स्वामी होने का दावा करते हैं ए जैसे — हीरे की अंगूठी का स्वामी होने का दावा करते हैं ।
- (3) जो किसी अन्य व्यक्ति के पास रखी है, जैसे — वादी द के पास रखी है ।
- (4) उस अन्य व्यक्ति का विवादित संपत्ति में प्रभार एवं खर्चों के अतिरिक्त कोई अन्य दावा नहीं है ए जैसे — वादी द का 1000 रुपये रखने के अलावे कोई अन्य दावा नहीं है ।
- (5) वह अन्य व्यक्ति उस संपत्ति को असली स्वामी को देने को तैयार है, जैसे — वादी द हीरे की अंगूठी असली स्वामी को देने को तैयार है ।
- (6) ऐसी परिस्थिति में वह अन्य व्यक्ति किसी पचड़े में पड़ने से बचने के लिए उन सभी प्रतिवादियों के विरुद्ध एक अन्तराभिवचनीय वाद संस्थित करेगा, जैसे — वादी द किसी पचड़े में पड़ने से बचने के लिए उन सभी प्रतिवादियों के विरुद्ध एक अन्तराभिवचनीय वाद संस्थित करेगा । जिसमें वह न्यायालय से संपत्ति का असली स्वामी निर्णीत करने की प्रार्थना करेगा एवं अपने भार एवं खर्चों की मांग कर सकेगा छ परन्तु जहां ऐसा कोई वाद लंबित है जिसमें सभी पक्षकारों के अधिकार उचित रूप से निर्णीत किये जा सकते हैं, वहां कोई ऐसा अन्तराभिवचनीय वाद संस्थित नहीं किया जायेगा ।

प्रक्रिया —

प्रक्रिया — आदेश 35 में दिया गया है ।

आदेश 35 नियम 1 अंतराभिवाची वाद के वाद पत्र में आवश्यक कथनों के अतिरिक्त निम्नलिखित कथन शामिल किये जायेंगे—

- (1) यह कथन होगा कि वादी प्रभारों एवं खर्चों के लिए दावा करने से भिन्न किसी हित का दावा विवाद की विषय वस्तु में नहीं करता ।
- (2) यह कथन होगा कि प्रतिवादीगण पृथक दृ पृथक दावा कर रहे हैं ।
- (3) यह कथन होगा कि वादी या प्रतिवादी के मध्य कोई दुरभिसंधि नहीं है ।

आदेश 35 नियम 2 दावाकृत वस्तु का न्यायालय में जमा किया जाना — जहां दावाकृत वस्तु ऐसी है कि वह न्यायालय में जमा की जा सकती है या न्यायालय की अभिरक्षा में रखी जा सकती है तो न्यायालय आदेशित कर सकेगा कि वादी वाद में किसी भी आदेश का हकदार हो सकने से पूर्व उसे जमा कर दे या रख से ।

आदेश 35 नियम 3 प्रक्रिया जहां प्रतिवादी वादी पर वाद चला रहा है — जहां अंतराभिवाची वाद के प्रतिवादियों में से कोई प्रतिवादी ए वादी पर ऐसे वाद की विषय दृ वस्तु की बावत वास्तव में वाद चला रहा है वहां वह न्यायालय जिसमें वादी के विरुद्ध वाद लंबित है ए उस न्यायालय द्वारा जिसमें अन्तराभिवाची वाद संस्थित किया गया है, इतिला दिए जाने पर वादी के विरुद्ध कार्यवाही को रोक देगा ।

आदेश 35 नियम 4 प्रथम सुनवाई में प्रक्रिया — प्रथम सुनवाई पर न्यायालय वादी को सभी दायित्वों से उन्मोचित कर सकता है । न्यायालय उसे वाद व्यय दिलाकर वाद से पृथक कर सकता है ।

यदि न्याय या सुविधा की दृष्टि से आवश्यक हो तो न्यायालय सभी पक्षों को वाद के निस्तारण होने तक वाद में बनाए रख सकता है ।

आदेश 35 नियम 5 अंतराभिवाची वाद कौन प्रस्तुत नहीं कर सकता है— आदेश 35 नियम 5 के अधीन कोई अभिकर्ता अपने मालिक पर या अभिधारी अपने भूस्वामी पर अंतराभिवाची वाद संस्थित नहीं कर सकता है ।

जहां ऐसा अन्य व्यक्ति ऐसे भू स्वामी या मालिक के माध्यम से दावा कर रहा हो वहां स्थिति भिन्न होगी ए ऐसे मामलों में अभिकर्ता या अभिधारी अंतराभिवाची वाद प्रस्तुत कर सकेगा ।

अंतराभिवाची वाद का दृष्टांत—

- (1) **A** तथा **B** द्वारा किसी ऐसी संपत्ति के लिए दावा किया जाता है जो **C** के कब्जे में है और **C** उस संपत्ति में किसी हित का दावा नहीं करता है और वह उस व्यक्ति को संपत्ति देने के लिए तैयार तथा इच्छुक है जो व्यक्ति न्यायालय द्वारा ऐसी संपत्ति प्राप्त करने के लिए अधिकृत घोषित किया जाये ।

A वादी के रूप में **A** तथा **B** को प्रतिवादी बनाते हुए अंतराभिवाची वाद संस्थित करेगा इस प्रकार संस्थित किये गये वाद से **ष ब् ष** को उसके द्वारा किये गये प्रभार या वाद व्यय का उपबंध करने के पश्चात प्रथम सुनवाई पर वाद से हटा दिया जाएगा तथा **A** एवं **B** को अंतराभिवचन करने के लिए वाद में इस प्रकार स्थापित किया जाएगा मानो एक उसमें वादी हो और दूसरा प्रतिवादी ।

किन्तु वादी **C** को वाद से हटाने के पूर्व उसे न्यायालय में विवादित संपत्ति जमा करनी पड़ेगी ।

नेशनल इश्योरेंस बनाम धीरेन्द्र नाथ के वाद में इलाहाबाद उच्च न्यायालय ने कहा है कि **C** ; वादी) अपना नाम हटवाने के लिए न्यायालय में आवेदन कर सकता है ।

- (2) आभूषण का बाक्स अपने अभिकर्ता के रूप में **B** के पास **A** जमा करता है, **C** का यह अभिकथन है कि आभूषण **A** ने उससे सदोष अभिप्राप्त किये थे और वह उन्हें **B** से लेने का दावा करता है । **A** और **C** के बीच **B** अंतराभिवाची वाद संस्थित नहीं कर सकता है ।

प्रश्न न0 5— दीवानी प्रक्रिया संहिता के अन्तर्गत दीवानी प्रकृति के वादों का उपर्युक्त उदाहरणों सहित समझाइए।

उत्तर— सिविल प्रकृति के मुकदमों का अर्थ और दायरा— सी.पी.सी. मुकदमे को एक सिविल कार्यवाही के रूप में परिभाषित करता है, जो न्यायालय के समक्ष शिकायत या लिखित बयान प्रस्तुत करके शुरू की जाती है। सिविल प्रकृति का मुकदमा एक कानूनी कार्यवाई को संदर्भित करता है जो सिविल कानून के दायरे में आता है और सी.पी.सी. द्वारा शासित होता है। सिविल कानून में विवादों की एक विस्तृत शृंखला शामिल है, जिसमें संपत्ति, अनुबंध, अपकृत्य, पारिवारिक कानून आदि से संबंधित विवाद शामिल हैं। सी.पी.सी. के अंतर्गत सिविल प्रकृति के मुकदमों का दायरा व्यापक है और इसमें विभिन्न प्रकार के सिविल विवाद शामिल हैं। इनमें धन की वसूली के लिए मुकदमे, अनुबंधों के विशिष्ट निष्पादन के लिए मुकदमे, अधिकारों की घोषणा के लिए मुकदमे, निषेधाज्ञा के लिए मुकदमे, संपत्ति के विभाजन के लिए मुकदमे, क्षति के लिए मुकदमे और कई अन्य मुकदमे शामिल हो सकते हैं। सी.पी.सी. इन मुकदमों के संचालन के लिए एक प्रक्रियात्मक ढांचा प्रदान करता है, यह सुनिश्चित करता है कि सिविल विवादों को एक व्यवस्थित और निष्पक्ष कानूनी प्रक्रिया के माध्यम से हल किया जाए।

सिविल प्रकृति के मुकदमों के प्रकार—

सी.पी.सी. विवाद की प्रकृति के आधार पर सिविल प्रकृति के मुकदमों को विभिन्न श्रेणियों में वर्गीकृत करता है। सी.पी.सी. के तहत सिविल प्रकृति के कुछ सामान्य प्रकार के मुकदमों का विवरण इस प्रकार है—

(1) **धन की वसूली के लिए मुकदमे—** ये ऐसे मुकदमे हैं जिनमें एक पक्ष दूसरे पक्ष से बकाया धनराशि वसूलना चाहता है। यह किसी अनुबंध, ऋण या किसी अन्य कानूनी दायित्व से उत्पन्न हो सकता है।

(2) **अनुबंधों के विशिष्ट निष्पादन के लिए मुकदमे—** ये ऐसे मुकदमे हैं जहाँ एक पक्ष दूसरे पक्ष द्वारा अनुबंध के निष्पादन को लागू करने की मांग करता है। विशिष्ट निष्पादन एक विवेकाधीन उपाय है, और न्यायालय कुछ परिस्थितियों में इसे प्रदान कर सकता है।

(3) **अधिकारों की घोषणा के लिए मुकदमे—** ये ऐसे मुकदमे हैं जिनमें कोई पक्ष न्यायालय से अपने कानूनी अधिकारों या स्थिति की पुष्टि करने के लिए घोषणा चाहता है। उदाहरण के लिए, किसी संपत्ति के स्वामित्व की घोषणा के लिए मुकदमा।

(4) **निषेधाज्ञा के लिए मुकदमे—** ये ऐसे मुकदमे हैं, जिनमें एक पक्ष न्यायालय से किसी अन्य पक्ष को कोई निश्चित कार्य करने से रोकने या उसे कोई निश्चित कार्य करने के लिए बाध्य करने का आदेश मांगता है। परिस्थितियों के आधार पर निषेधाज्ञा अस्थायी (अंतरिम) या स्थायी हो सकती है।

(5) **संपत्ति के विभाजन के लिए मुकदमे—** ये ऐसे मुकदमे हैं जहाँ संपत्ति के सह-मालिक आपस में संपत्ति का विभाजन चाहते हैं।

(6) **क्षतिपूर्ति के लिए वाद—** ये ऐसे वाद हैं, जिनमें एक पक्ष दूसरे पक्ष के गलत कार्य के कारण हुई हानि या क्षति के लिए क्षतिपूर्ति की मांग करता है।

सी.पी.सी. के तहत सिविल प्रकृति के मुकदमों को नियंत्रित करने वाले प्रावधान—

सी.पी.सी. में कई प्रावधान हैं जो सिविल प्रकृति के मुकदमों को दायर करने, प्रक्रिया और निपटान को नियंत्रित करते हैं। सी.पी.सी. के तहत सिविल प्रकृति के मुकदमों से संबंधित कुछ प्रमुख प्रावधान इस प्रकार हैं—

अधिकार क्षेत्र— सी.पी.सी. सिविल मुकदमों पर विचार करने और उन पर सुनवाई करने के लिए न्यायालयों के अधिकार क्षेत्र को परिभाषित करता है। यह प्रादेशिक अधिकार क्षेत्र, आर्थिक अधिकार क्षेत्र (दावे के मूल्य के आधार पर) और विषय-वस्तु अधिकार क्षेत्र (विवाद की प्रकृति के आधार पर) को निर्दिष्ट करता है।

दलीलें— सी.पी.सी. सिविल मुकदमों में वादपत्र (वह दस्तावेज जिसके द्वारा मुकदमा शुरू किया जाता है) और लिखित बयान (वादपत्र का जवाब) दाखिल करने के नियम निर्धारित करता है। यह वादपत्र की आवश्यक सामग्री निर्धारित करता है, जैसे कि इसमें शामिल पक्ष, मामले के तथ्य और मांगी गई राहत।

साक्ष्य— सी.पी.सी. सिविल मुकदमों में साक्ष्य प्रस्तुत करने और उसे स्वीकार्य करने के नियम निर्धारित करता है। इसमें गवाहों की जांच, दस्तावेजों को प्रस्तुत करने और सबूत पेश करने के बोझ से संबंधित प्रावधान शामिल हैं।

अंतरिम आदेश— सी.पी.सी. सिविल मुकदमों में मुकदमों के लंबित रहने के दौरान पक्षों के अधिकारों की रक्षा के लिए अंतरिम आदेश देने का प्रावधान करता है। इसमें अस्थायी निषेधाज्ञा, रिसीवर की नियुक्ति और संपत्ति की कुर्की शामिल है।

अपील— सी.पी.सी. सिविल मुकदमों में पारित आदेशों और डिक्री के खिलाफ अपील दायर करने और निपटाने की प्रक्रिया की रूपरेखा तैयार करता है। यह उच्च न्यायालयों के अपीलीय क्षेत्राधिकार, अपील के आधार और अपीलीय न्यायालयों की शक्ति पर सीमाओं से संबंधित नियम निर्धारित करता है।

डिक्री का निष्पादन— सी.पी.सी. सिविल मुकदमों में पारित डिक्री के प्रवर्तन का प्रावधान करता है। इसमें धन के भुगतान, संपत्ति की डिलीवरी और न्यायालय द्वारा दी गई अन्य राहतों के लिए डिक्री के निष्पादन से संबंधित प्रावधान शामिल हैं।

सिविल प्रकृति के मुकदमों का महत्व और महत्व— भारतीय कानूनी प्रणाली में सिविल प्रकृति के मुकदमे महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं क्योंकि वे पक्षों के बीच सिविल विवादों को सुलझाने के लिए एक कानूनी तंत्र प्रदान करते हैं। वे कई कारणों से महत्वपूर्ण हैं—

अधिकारों और हितों की रक्षा— सिविल प्रकृति के मुकदमे पक्षों को अपने कानूनी अधिकारों का दावा करने और अदालत से उचित राहत पाने की अनुमति देते हैं। वे संपत्ति, अनुबंध, अपकृत्य, पारिवारिक कानून और अन्य सिविल मामलों से संबंधित विवादों को हल करने के लिए एक मंच प्रदान करते हैं, यह सुनिश्चित करते हुए कि पक्षों को अपना मामला पेश करने और उचित समाधान प्राप्त करने का अवसर मिले।

कानूनी प्रक्रियाओं का पालन सुनिश्चित करना— सी.पी.सी. सिविल मुकदमों के संचालन के लिए एक व्यापक प्रक्रियात्मक ढांचा तैयार करता है, जिसमें अधिकार क्षेत्र, दलीलें, साक्ष्य, अंतरिम आदेश, अपील और डिफ्री के निष्पादन से संबंधित प्रावधान शामिल हैं। यह सुनिश्चित करता है कि सिविल विवादों को व्यवस्थित और व्यवस्थित तरीके से हल किया जाए, जिससे कानूनी प्रक्रिया की अखंडता और निष्पक्षता बनी रहे।

न्याय तक पहुँच को सुगम बनाना— सी.पी.सी. के तहत दीवानी प्रकृति के मुकदमों को उन पक्षों को न्याय तक पहुँच प्रदान करने के लिए डिज़ाइन किया गया है, जिन्होंने कानूनी रूप से गलत काम किया हो। वे पक्षों को उनकी सामाजिक-आर्थिक स्थिति या पृष्ठभूमि की परवाह किए बिना औपचारिक कानूनी प्रक्रिया के माध्यम से अपनी शिकायतों के निवारण की मांग करने का एक रास्ता प्रदान करते हैं।

कानूनी मिसाल कायम करना— सिविल प्रकृति के मुकदमों में पारित निर्णय और फैसले अक्सर कानूनी मिसाल के तौर पर काम करते हैं जो भविष्य के मामलों में कानून की व्याख्या और आवेदन का मार्गदर्शन करते हैं। ये कानूनी मिसालें कानूनी न्यायशास्त्र को विकसित करने और विकसित करने में मदद करती हैं, जिससे कानूनी प्रणाली में स्थिरता और पूर्वानुमान सुनिश्चित होता है।

विवादों को सौहार्दपूर्ण ढंग से सुलझाना— सिविल मुकदमे भी पक्षों को वैकल्पिक विवाद समाधान तंत्र जैसे कि मध्यस्थता, सुलह और पंचनिर्णय के माध्यम से अपने विवादों को सौहार्दपूर्ण ढंग से सुलझाने का अवसर प्रदान करते हैं, जिन्हें सीपीसी द्वारा प्रोत्साहित और सुगम बनाया जाता है। इससे न्यायालयों पर बोझ कम करने में मदद मिलती है और विवादों का समय पर और लागत प्रभावी समाधान को बढ़ावा मिलता है।

कानून के शासन को कायम रखना— सी.पी.सी. के तहत दीवानी प्रकृति के मुकदमे भारतीय कानूनी व्यवस्था में कानून के शासन को कायम रखने के लिए आवश्यक हैं। वे विवादों को निष्पक्ष, निष्पक्ष और पारदर्शी तरीके से हल करने के लिए एक तंत्र प्रदान करते हैं, यह सुनिश्चित करते हुए कि पक्षों को उनके कार्यों के लिए जवाबदेह ठहराया जाता है और कानूनी अधिकारों की रक्षा की जाती है।

सी.पी.सी. की धारा 9

सिविल प्रक्रिया संहिता (CPC) की धारा 9 भारत के सिविल प्रक्रिया कानूनों में एक प्रावधान है जो किसी मुकदमे पर विचार करने के लिए अदालतों के अधिकार क्षेत्र से संबंधित है। **CPC** की धारा 9 इस प्रकार है—

“9. न्यायालयों को सभी सिविल वादों पर विचारण करने का अधिकार होगा, जब तक कि उन पर रोक न लगाई गई हो। न्यायालयों को (इसमें निहित प्रावधानों के अधीन) सिविल प्रकृति के सभी वादों पर विचारण करने का अधिकार होगा, सिवाय उन वादों के जिनका संज्ञान स्पष्ट रूप से या निहित रूप से वर्जित है।” सी.पी.सी. की धारा 9 सामान्य सिद्धांत स्थापित करती है कि भारत में सिविल न्यायालयों को सभी सिविल मुकदमों पर विचार करने और उन पर सुनवाई करने का अधिकार है, जब तक कि किसी विशेष मुकदमे का संज्ञान कानून द्वारा स्पष्ट रूप से या निहित रूप से वर्जित न हो। इसका मतलब यह है कि, डिफॉल्ट रूप से, भारत में सिविल न्यायालयों के पास सिविल मुकदमों की सुनवाई और निर्णय करने का अधिकार है, जब तक कि कोई विशिष्ट कानूनी प्रावधान न हो जो उन्हें ऐसा करने से स्पष्ट रूप से या निहित रूप से रोकता हो। सी.पी.सी. की धारा 9 में “स्पष्ट रूप से या निहित रूप से वर्जित” अभिव्यक्ति का अर्थ है कि न्यायालय के अधिकार क्षेत्र पर प्रतिबंध किसी कानून या कानूनी प्रावधान में स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है, या यह मुकदमे की प्रकृति, इसमें शामिल पक्षों, या उनके बीच कानूनी संबंध से अनुमानित या निहित हो सकता है।

उदाहरण के लिए, यदि कोई विशिष्ट कानून या कानून है जो न्यायालय को किसी विशेष प्रकार के मुकदमे की सुनवाई करने से रोकता है, जैसे कि किसी विशेष न्यायाधिकरण के अनन्य क्षेत्राधिकार के अंतर्गत आने वाले मामले से संबंधित मुकदमा, तो न्यायालय के अधिकार क्षेत्र पर स्पष्ट रूप से रोक लगाई जा सकती है। दूसरी ओर, यदि कोई कानूनी सिद्धांत या सिद्धांत है जो सुझाव देता है कि न्यायालय को किसी विशेष प्रकार के मुकदमे पर विचार नहीं करना चाहिए, भले ही कोई स्पष्ट प्रावधान न हो, तो न्यायालय के अधिकार क्षेत्र पर निहित रूप से रोक लगाई जा सकती है।

सी.पी.सी. की धारा 9 एक महत्वपूर्ण प्रावधान है जो भारत में सिविल न्यायालयों के लिए अधिकारिता का सामान्य नियम स्थापित करता है तथा यह निर्धारित करने के लिए आधार का कार्य करता है कि किसी न्यायालय को किसी विशेष सिविल मुकदमे की सुनवाई करने का अधिकार है या नहीं।

प्रश्न न0 6— अंकिचन वादों में अपनायी जाने वाली प्रक्रिया का वर्णन कीजिए। क्या प्रतिवादी को अंकिचन के रूप में प्रतिवाद करने की अनुमति दी जा सकती है? वर्णन कीजिए।

उत्तर— ‘गरीब व्यक्ति’ शब्द का अर्थ एक ऐसे व्यक्ति को संदर्भित करता है, जो अत्यधिक गरीबी, दरिद्रता (इम्पॉवरिशमेंट) से पीड़ित है, या जिसके पास सामान्य जीवन में आवश्यक बुनियादी संसाधनों की कमी है। कानूनी भाषा में, एक गरीब व्यक्ति के पास न्यायालय शुल्क का भुगतान करने की वित्तीय क्षमता नहीं होती है। ऐसे व्यक्तियों को न्याय प्रदान करने के उद्देश्य से, नागरिक प्रक्रिया संहिता (कोड ऑफ सिविल प्रोसीजर), 1908 के आदेश 33 के

तहत प्रावधान पेश किए गए थे। कोई भी व्यक्ति जो एक निर्धन व्यक्ति के रूप में प्रतिनिधित्व करना चाहता है, उसे सक्षम न्यायालय के समक्ष एक आवेदन दाखिल करना होता है, जिसमें वह खुद को एक निर्धन व्यक्ति घोषित करता है। यदि न्यायालय ऐसे आवेदन से संतुष्ट होता है और इस बात से सहमत होता है कि ऐसे व्यक्ति के पास न्यायालय शुल्क देने का कोई साधन नहीं है, तो न्यायालय ऐसे व्यक्ति को निर्धन व्यक्ति घोषित करेगा। मुख्य रूप से, "निर्धन व्यक्ति" अभिव्यक्ति की शुरुआत से पहले, "गरीब" शब्द का इस्तेमाल समाज के वंचित वर्ग को दर्शाने के लिए किया जाता था। हालांकि, बाद में इसे "निर्धन व्यक्ति" शब्द से प्रतिस्थापित किया गया। नागरिक प्रक्रिया संहिता के आदेश 33 के नियम 1-18, निर्धन व्यक्तियों द्वारा दायर किए गए मुकदमों से संबंधित है।

(क) संहिता द्वारा अकिंचन वाद लाने के लिए मान्य व्यक्ति— जैसे ही अदालत में एक दीवानी मुकदमा दायर किया जाता है, वादी(ओं) को, अपना वाद दायर करते समय, न्यायालय शुल्क अधिनियम (कोर्ट फीस एक्ट), 1870 द्वारा निर्देशित अपेक्षित अदालत शुल्क जमा करना आवश्यक होती है। हालांकि, नागरिक प्रक्रिया संहिता का आदेश 33 आवश्यक अदालती शुल्क का भुगतान करने के दायित्व से निर्धन व्यक्तियों को मुक्त करके उन्हें इससे बचाता है। इसके बाद यह ऐसे व्यक्तियों को भिखारी के रूप में मुकदमा चलाने की अनुमति देता है, जो सीपीसी के आदेश 33 के नियम 1 के तहत कुछ शर्तों के अधीन होते हैं।

वादी की अकिंचन की जाँच के लिए प्रक्रिया— सबसे पहले न्यायालय का मुख्य कार्यालय पदाधिकारी इस बात की जाँच करेगा कि वादी अकिंचन है या नहीं। नियम 1 (क) यदि वादी ने अकिंचन-वाद लाने की अनुमति के लिये आवेदन करने के बाद किन्तु उसके निर्णय के पहले कोई सम्पत्ति अर्जित कर ली, तो ऐसी सम्पत्ति ऐसी जाँच करने के लिये ध्यान में रखा जायेगा। नियम की व्याख्या 2 यदि वादी ने प्रतिनिधिक हैसियत से वाद दायर किया है तो उस साधन के सन्दर्भ में, जो उसके कब्जे में उस हैसियत में है, इस प्रश्न का निर्णय किया जायेगा कि वह अकिंचन है या नहीं। नियम की व्याख्या 3 यदि न्यायालय ठीक समझता है तो वह आवेदक का या उसके प्रतिनिधि का, आवेदक की सम्पत्ति और उसके दावा के गुणों के सम्बन्ध में परीक्षण कर सकेगा। नियम 4 कम्पनी भी निर्धन वाद ला सकती है क्योंकि वह विधिक व्यक्ति होता है।

माननीय सर्वोच्च न्यायालय ने **यूनियन बैंक ऑफ इंडिया बनाम खादर इंटरनेशनल कंस्ट्रक्शन मामले** में निर्धन व्यक्ति की परिभाषा पर चर्चा की। न्यायालय ने पाया कि निर्धन व्यक्ति वह है जिसके पास पर्याप्त मात्रा में (डिक्री के निष्पादन में कुर्की से छूट प्राप्त संपत्ति और मुकदमे की विषय-वस्तु के अलावा) नहीं है, जिससे वह ऐसे मुकदमे में वादी के लिए कानून द्वारा निर्धारित शुल्क का भुगतान कर सके। यदि ऐसा कोई शुल्क निर्धारित नहीं है, तो यदि ऐसा व्यक्ति डिक्री के निष्पादन में कुर्की से छूट प्राप्त संपत्ति और मुकदमे की विषय-वस्तु के अलावा एक हजार रुपये की संपत्ति का हकदार नहीं है, तो वह निर्धन व्यक्ति होगा।

ए.ए. हाजा मुनिउद्दीन बनाम भारतीय रेलवे के मामले में अदालत ने कहा कि "न्याय तक पहुंच से किसी व्यक्ति को केवल इसलिए इनकार नहीं किया जा सकता है कि उसके पास निर्धारित शुल्क का भुगतान करने का साधन नहीं है।" नियम 1 हमें एक निर्धन व्यक्ति की परिभाषा देता है। कोई भी व्यक्ति जिसके पास न्यायालय शुल्क अधिनियम द्वारा निर्धारित अपेक्षित शुल्क का भुगतान करने के लिए पर्याप्त साधन नहीं है। हालांकि, नियम 1 में यह भी कहा गया है कि पर्याप्त साधनों पर विचार करते हुए, एक निर्धन व्यक्ति के पास संपत्ति के मूल्यांकन को डिक्री के निष्पादन और मुकदमे की विषय-वस्तु में अटैचमेंट से छूट दी जाएगी। ऐसी छूट प्राप्त संपत्ति, व्यक्तियों के लिए जीवन यापन की मूलभूत आवश्यकता है। इस प्रकार, कानून के अनुसार, इसे अटैच करने की अनुमति नहीं है। ऐसे मामलों में जहां न्यायालय शुल्क अधिनियम द्वारा ऐसा कोई शुल्क निर्धारित नहीं किया गया है और यदि आवेदक के पास एक हजार रुपये की संपत्ति नहीं है, या जहां संपत्ति की कीमत एक हजार रुपये से कम है, तो ऐसे मामले में उस व्यक्ति को एक निर्धन व्यक्ति माना जाएगा। हालांकि, इस नियम का वही अपवाद है जो ऊपर बताया गया है। इसमें कहा गया है कि संपत्ति के मूल्यांकन की गणना करते समय नागरिक प्रक्रिया संहिता की धारा 60 को ध्यान में रखना होगा।

आवेदन की अस्वीकृति—

सीपीसी के आदेश 33 के नियम 5 के अनुसार, अदालत निम्नलिखित मामलों में एक निर्धन व्यक्ति के रूप में मुकदमा करने की अनुमति मांगने वाले आवेदन को प्रथम दृष्टया खारिज कर देगी—

(1) ऐसे मामले में जहां आवेदन निर्धारित तरीके में तैयार और प्रस्तुत नहीं किया जाता है। यहां, 'निर्धारित तरीके' शब्द का अर्थ है कि आवेदन को आदेश गगण के नियम 2 और नियम 3 का पालन करना चाहिए। नियम 2 और नियम 3 क्रमशः आवेदन की विषय-वस्तु और उसके प्रस्तुतीकरण से संबंधित हैं।

(2) यदि आवेदक निर्धन व्यक्ति नहीं है तो आवेदन न्यायालय द्वारा अस्वीकार किया जा सकता है।

(3) अदालत द्वारा आवेदन को तब खारिज किया जा सकता है जब आवेदक ने आवेदन की प्रस्तुति से दो महीने के भीतर धोखाधड़ी से किसी संपत्ति का निपटान किया हो। इसे तब भी खारिज किया जा सकता है जब आवेदक केवल एक निर्धन व्यक्ति के रूप में मुकदमा करने के लिए अदालत से अनुमति लेने के उद्देश्य से बेईमानी से आवेदन करता है।

(4) अदालत के पास एक ऐसे मामले में एक निर्धन व्यक्ति द्वारा दायर आवेदन को खारिज करने की शक्ति है, जहां कार्रवाई का कोई कारण नहीं है।

(5) ऐसे मामले में, जहां आवेदक ने किसी तीसरे पक्ष के साथ एक समझौता किया है और ऐसा समझौता मुकदमे की विषय वस्तु से संबंधित है जिसमें अन्य पक्ष (आवेदक के अलावा) ब्याज प्राप्त करता है, तो, यह अस्वीकृति के कारणों में से एक है। यह अदालत को धोखा देने के लिए आवेदक के इरादे को दर्शाता है।

(6) आवेदन की अस्वीकृति तब की जाती है जब आरोपों से संकेत मिलता है कि मुकदमा किसी भी कानून द्वारा वर्जित है।

(7) आवेदन की अस्वीकृति उन मामलों में की जाती है जहां कोई अन्य व्यक्ति आवेदक के साथ मुकदमे में आर्थिक रूप से मदद करने के लिए एक समझौता करता है।

धनलक्ष्मी बनाम सरस्वती के मामले में, वादपत्र का मूल्यांकन कम पाया गया था। इसलिए, इसे उचित मूल्यांकन और अदालत शुल्क के साथ अदालत में पेश करने के लिए वापस कर दिया गया था। ऐसा करने के लिए एक महीने का समय दिया गया और वादी ने निर्धारित अवधि के भीतर वाद दायर किया था। इसके बाद, याचिका को उप-न्यायालय में एक और याचिका के साथ पेश किया गया जिसमें निर्धन व्यक्तियों के रूप में मुकदमा करने की अनुमति मांगी गई थी, जिस पर अदालत ने देखा कि याचिका आदेश गगण के नियम 1 के तहत दायर की गई थी, लेकिन कोई यह नहीं कह सकता कि आवेदन नियम 2 के तहत दायर किया गया था। क्योंकि आदेश 33 सीपीसी के नियम 5 के अनुसार निर्धन व्यक्तियों के रूप में मुकदमा दायर करने की अनुमति को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। सीपीसी के आदेश 33 नियम 5 और आदेश 7 नियम 11 के बीच एक समानता खींची गई थी। जबकि आदेश 7 नियम 11 का उपयोग वादपत्र को अस्वीकार करने में किया जाता है और आदेश 33 का नियम 5 निर्धन व्यक्तियों के रूप में मुकदमा करने की अनुमति के लिए दायर एक आवेदन की अस्वीकृति से संबंधित है।

(1) आदेश 33 नियम 6 में प्रावधान है कि अदालत को विपक्षी और सरकारी वकील दोनों को नोटिस जारी करना आवश्यक है। जिसके बाद एक दिन तय किया जाता है, जिस पर साक्ष्य प्राप्त होते हैं। ऐसे दिन आवेदक अपने आवेदन के लिए प्रमाण प्रस्तुत करता है। विरोधी पक्ष या सरकारी वकील आवेदक की निर्धनता का विरोध करते हुए अपना साक्ष्य भी प्रस्तुत कर सकते हैं।

(2) आदेश 33 नियम 7 में आवेदन की सुनवाई में अपनाई जाने वाली प्रक्रिया का प्रावधान है। अदालत दोनों पक्षों द्वारा पेश किए गए गवाहों (यदि कोई हो) की जांच करेगी और अदालत द्वारा स्वीकार किए गए आवेदन या साक्ष्य (यदि कोई हो) पर दलीलें सुनेगी। इसके बाद, अदालत या तो आवेदन को अनुमति देगी या इसे खारिज कर देगी। आदेश 33 का नियम 8 आवेदन के प्रवेश के बाद पालन की जाने वाली प्रक्रिया की व्याख्या करता है। भर्ती होने के बाद आवेदन को क्रमांकित और पंजीकृत किया जाना चाहिए। ऐसे आवेदन को वाद में वाद (प्लेंट इन ए सूट) माना जाएगा। इसके बाद, ऐसा वाद उसी तरीके से आगे बढ़ेगा जैसे सामान्य वाद होते हैं।

(3) आदेश 33 नियम 9 में कहा गया है कि अदालत के पास वादी को एक निर्धन व्यक्ति के रूप में मुकदमा करने की दी गई अनुमति को रद्द करने का विकल्प भी है। अदालत इस विवेकाधीन शक्ति का उपयोग प्रतिवादी या सरकारी वकील द्वारा निम्नलिखित परिस्थितियों में आवेदन प्राप्त करने पर कर सकती है—

(क) जहां आवेदक वाद के दौरान तंग करने वाले या अनुचित आचरण का दोषी है; या

(ख) जहां आवेदक के साधन ऐसे हैं कि वह एक निर्धन व्यक्ति के रूप में मुकदमा करना जारी नहीं रखेगा; या

(ग) जहां आवेदक ने एक समझौता किया है जिसके तहत किसी अन्य व्यक्ति ने मुकदमे की विषय वस्तु में रुचि प्राप्त की है।

आर. जयराजा मेनन बनाम डॉ. राजकृष्णन और अन्य के मामले में केरल उच्च न्यायालय ने एक निर्धन व्यक्ति के रूप में मुकदमा करने की अनुमति वापस लेने के संबंध में एक आवेदन पर निर्णय लेते हुए कहा था कि आदेश 33 का नियम 9, एक ऐसी स्थिति प्रदान करता है जहां वादी, जिसे शुरू में एक निर्धन व्यक्ति के रूप में मुकदमा करने की अनुमति दी गई थी, मुकदमा दायर होने के बाद एक निर्धन व्यक्ति नहीं रह जाता है। यदि कोई वादी निर्धन व्यक्ति नहीं रह जाता है, तो न्यायालय उसे उस न्यायालय शुल्क का भुगतान करने के लिए बाध्य करेगा, जिसका उसने भुगतान किया होता यदि उसे एक निर्धन व्यक्ति के रूप में मुकदमा करने की अनुमति नहीं दी गई होती तो। यह स्पष्ट रूप से संहिता के नियम 9 के तहत आदेश का एक हिस्सा है, जिसमें वादी को अदालत शुल्क का भुगतान करने का निर्देश दिया गया है, जिसका अगर उसे शुरू से ही एक निर्धन व्यक्ति के रूप में दायर करने की अनुमति नहीं दी जाती, तो वह भुगतान करता है।

निर्धन व्यक्ति के रूप में वाद दायर करने की प्रक्रिया— एक निर्धन व्यक्ति के रूप में मुकदमा दायर करने से पहले, आवेदन में सभी प्रासंगिक सामग्री जोड़ना महत्वपूर्ण है, जो एक निर्धन व्यक्ति होने की अनुमति मांगता है नियम 2,। आदेश 3 के नियम 2 के अनुसार, आवेदन में वादपत्र (प्लेंट) में उल्लिखित विवरण के समान विवरण और निर्धन व्यक्ति आवेदक की सभी चल या अचल (इम्प्यूवबल) संपत्तियां उसके अनुमानित मूल्य के साथ शामिल होनी चाहिए।

निर्धन व्यक्ति/ आवेदक स्वयं व्यक्तिगत रूप से न्यायालय के समक्ष आवेदन प्रस्तुत करेगा। किसी मामले में अगर ऐसे व्यक्ति को अदालत में पेश होने से छूट दी गई है, तो एक अधिकृत (ऑथराइज्ड) एजेंट उसकी ओर से आवेदन प्रस्तुत कर सकता है। कुछ परिस्थितियों में जहां दो या दो से अधिक वादी हों, उनमें से कोई भी आवेदन प्रस्तुत कर सकता है नियम 3,। जैसे ही एक निर्धन व्यक्ति के रूप में मुकदमा करने का आवेदन न्यायालय के समक्ष विधिवत प्रस्तुत किया जाता है, वाद शुरू हो जाता है। इसके बाद, निर्धन व्यक्ति आवेदक से न्यायालय द्वारा

पूछताछ की जाती है। हालांकि, यदि आवेदक का प्रतिनिधित्व उसके एजेंट द्वारा किया जा रहा है, तो ऐसे मामले में, अदालत आयोग द्वारा आवेदक की जांच कर सकती है नियम 4,।

प्रश्न न० 7— न्यायालय की अंतर्निहित शक्तियों की व्याख्या कीजिए। इन शक्तियों का प्रयोग न्यायालय कब कर सकते हैं? व्याख्या कीजिए।

उत्तर— 'अंतर्निहित' का अर्थ किसी स्थायी, निरपेक्ष (एब्सोल्यूट), अविभाज्य (इंसेपरेबल), आवश्यक या चारित्रिक विशेषता है। न्यायालयों की अंतर्निहित शक्तियाँ वे शक्तियाँ हैं जिन्हें न्यायालय अपने समक्ष पक्षों के बीच पूर्ण न्याय करने के लिए लागू कर सकता है। न्यायालयों का यह कर्तव्य है कि वे प्रत्येक मामले में न्याय प्रदान करें, चाहे वह इस संहिता में दिया गया हो या नहीं, यह एक निश्चित या अलग प्रावधान के अभाव में न्याय करने की महत्वपूर्ण शक्ति अपने साथ लाता है। इस शक्ति को अंतर्निहित शक्ति कहा जाता है जिसे न्यायालय द्वारा बनाए रखा जाता है, हालांकि प्रदान नहीं किया जाता है। सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 151 न्यायालय की अंतर्निहित शक्तियों से संबंधित है।

सीपीसी की धारा 148 से 153B के प्रावधान— न्यायालय की अंतर्निहित शक्तियों से संबंधित कानून का उल्लेख सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 148 से धारा 153A में किया गया है, जो विभिन्न स्थितियों में शक्तियों के प्रयोग से संबंधित है। न्यायालयों की अंतर्निहित शक्तियों के प्रावधान निम्नलिखित हैं—

- (1) धारा 148 और धारा 149 अनुदान (ग्रांट) या समय के विस्तार से संबंधित है;
- (2) धारा 150 व्यवसाय के हस्तांतरण (ट्रांसफर) से संबंधित है;
- (3) धारा 151 न्यायालयों की अंतर्निहित शक्तियों की रक्षा करती है; तथा
- (4) धारा 152, 153 और धारा 153। निर्णयों, डिक्री या आदेशों में या अलग-अलग कार्यवाही में संशोधन से संबंधित है।

समय का विस्तार— सीपीसी की धारा 148 में कहा गया है कि जहां सीपीसी द्वारा प्रदान किए गए किसी भी कार्य को करने के लिए न्यायालय द्वारा कोई अवधि निर्धारित की जाती है, यह न्यायालय की विवेकाधीन शक्ति है कि न्यायालय समय-समय पर ऐसी अवधि को बढ़ा सकता है, भले ही अवधि को मूल रूप से तय किया गया हो। सरल शब्दों में, जब किसी कार्य को करने के लिए प्रावधान द्वारा एक अवधि निर्धारित की जाती है, तो न्यायालय को ऐसी अवधि को 30 दिनों तक बढ़ाने की शक्ति होती है। यह शक्ति किसी विशेष प्रावधान की कमी के विपरीत प्रयोग योग्य है जो अवधि को कम या अस्वीकार या रोक देता है। शक्ति न्यायालय के द्वारा निर्धारित समय के विस्तार तक सीमित है और विवेकाधीन प्रकृति की है।

अदालती फीस का भुगतान— सीपीसी की धारा 149 के अनुसार, जहां न्यायालय-फीस से संबंधित लागू कानून द्वारा किसी प्रमाण पत्र के लिए आदेशित किसी फीस का पूरा या उसका एक भाग पूरा नहीं किया गया हो तो न्यायालय, अपने विवेक से, किसी भी चरण पर, उस व्यक्ति को, जिसके द्वारा ऐसी फीस देय है, ऐसी अदालती फीस का पूरा या आंशिक भुगतान करने की अनुमति दे सकता है और इस तरह के भुगतान पर, दस्तावेज, जिसके संबंध में ऐसा फीस देय है, का परिणाम वैसा ही होगा जैसे कि प्रारंभिक स्थिति में इस तरह के फीस का भुगतान किया गया हो। यह अदालत को एक पक्ष को शिकायत या अपील की सूचना आदि पर देय अदालती फीस की कमी के लिए अनुमति देता है, यहां तक कि मुकदमा या अपील आदि दायर करने की सीमा अवधि की समाप्ति के बाद भी। न्यायालय में प्रस्तुत किए जाने वाले न्यायालय फीस के साथ आरोपित किसी भी दस्तावेज के लिए अपेक्षित न्यायालय फीस का भुगतान अनिवार्य है। यदि अदालत द्वारा निर्धारित समय के भीतर आवश्यक अदालती फीस का भुगतान किया जाता है, तो इसे समय-बाधित के रूप में नेगोशिएट नहीं किया जा सकता है। अदालत द्वारा निर्धारित समय के भीतर किया गया ऐसा भुगतान पूर्वव्यापी (रेट्रोस्पेक्टिवली) रूप से एक दोषपूर्ण दस्तावेज को मान्य करता है। न्यायालय की शक्ति विवेकाधीन है और इसका प्रयोग न्याय के महत्व में ही किया जाना चाहिए।

व्यवसाय का स्थानांतरण— सीपीसी की धारा 150 के अनुसार, उसके सिवाय जैसा अन्यथा उपबंधित (ग्रांटेड) है, जहां किसी भी न्यायालय का व्यवसाय किसी अन्य न्यायालय को सौंपा गया है, तो जिस न्यायालय को व्यवसाय सौंपा गया है, उसके पास वही अधिकार होगा और वह वही कर्तव्यों का पालन करेगा जो क्रमिक रूप से प्रस्तुत किए गए हो या इस संहिता के तहत उस न्यायालय के पास थे जहां से इस व्यवसाय को सौंपा गया है।

उदाहरण के लिए— जब किसी न्यायालय A का व्यवसाय किसी अन्य न्यायालय B को हस्तांतरित किया जाता है, तो न्यायालय B उसी शक्ति का प्रयोग करेगा और कर्तव्यों का पालन करेगा जो सीपीसी द्वारा स्थानांतरण न्यायालय पर आदेशित किया गया है।

सीपीसी की धारा 151— धारा 151 न्यायालय की अंतर्निहित शक्तियों की रक्षा से संबंधित है। इस धारा में कहा गया है कि सीपीसी में कुछ भी ऐसे आदेश देने के लिए न्यायालय की अंतर्निहित शक्ति को प्रतिबंधित या अन्यथा प्रभावित करने के लिए नहीं माना जाएगा जो न्याय के उद्देश्यों के लिए या न्यायालय के तरीके के दुरुपयोग को रोकने के लिए महत्वपूर्ण हो सकते हैं। अदालत के लिए संसद द्वारा बनाए गए कानून या उच्च न्यायपालिका के आदेश की प्रतीक्षा करना अनिवार्य नहीं है। न्यायालय के पास ऐसा आदेश देने की विवेकाधीन या अंतर्निहित शक्ति है जो न्याय की सुरक्षा के लिए या न्यायालय के तरीके के दुरुपयोग को रोकने के लिए कानूनों के तहत नहीं दिया गया है।

सीपीसी की धारा 151 के प्रयोग के दायरे को कुछ मामलों द्वारा निम्नानुसार दर्शाया जा सकता है—

- (1) अदालत अपने आदेशों की दोबारा जांच कर सकती है और त्रुटियों का समाधान कर सकती है;
- (2) जब मामला आदेश 39 द्वारा शामिल नहीं किया जाता है या 'एकतरफा' आदेश को हटाने के लिए नहीं होता है, तो अनंतिम प्रतिबंध जारी किया जा सकता है;
- (3) अधिकार क्षेत्र (ज्यूरिसडिक्शन) के बिना पारित किए गए अवैध आदेश रद्द किए जा सकते हैं;
- (4) मामले में बाद की घटनाओं को अदालत द्वारा ध्यान में रखा जा सकता है;
- (5) 'कैमरे में' परीक्षण जारी रखने या इसकी कार्यवाही के प्रकटीकरण को रोकने के लिए न्यायालय की शक्तिय अदालत एक न्यायाधीश के खिलाफ की गई टिप्पणियों को मिटा सकती है; तथा
- (6) अदालत मुकदमे में सुधार कर सकती है और योग्यता के आधार पर फिर से सुनवाई कर सकती है या अपने आदेश की फिर से जांच कर सकती है।

न्याय का उद्देश्य—

देवेंद्रनाथ बनाम सत्य बाला दास के मामले में, "न्याय के अंत" का अर्थ समझाया गया था। यह माना गया कि "न्याय का उद्देश्य" गंभीर शब्द हैं, इसके अलावा, शब्द न्यायिक पद्धति के अनुसार केवल एक विनम्र अभिव्यक्ति नहीं हैं। ये शब्द यह भी इंगित करते हैं कि न्याय सभी कानूनों का अनुगमन और अंत है। हालांकि, यह अभिव्यक्ति भूमि और विधियों के कानूनों के अनुसार न्याय की अस्पष्ट और अनिश्चित धारणा नहीं है।

न्यायालय को इन अंतर्निहित शक्तियों का प्रयोग ऐसे मामलों में करने की अनुमति है जैसे— अपने स्वयं के आदेश की पुनरु जांच करना और अपनी त्रुटि को ठीक करना, आदेश 39 में शामिल नहीं होने पर निषेधाज्ञा (इंजंक्शन) पारित करना, और पक्ष के खिलाफ एकतरफा आदेश देना, आदि।

न्यायालय की प्रक्रिया का दुरुपयोग— सीपीसी की धारा 151 अदालत की प्रक्रिया के उल्लंघन को रोकने के लिए अंतर्निहित शक्तियों के प्रयोग का प्रावधान करती है। अदालत की शक्तियों का दुरुपयोग जो पक्ष के साथ अन्याय होता है, उसे इस आधार पर राहत मिलनी चाहिए कि अदालत के कार्य से किसी पर प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ेगा। जब कोई पक्ष अदालत में या किसी कार्यवाही के पक्ष में धोखाधड़ी करता है, तो अंतर्निहित शक्ति के आधार पर उपचार प्रदान किया जाना चाहिए। 'दुर्व्यवहार' शब्द तब घटित होता है जब कोई न्यायालय किसी ऐसे कार्य को करने के लिए एक विधि का उपयोग करता है जिसकी उससे कभी अपेक्षा नहीं की जाती है कि वह उक्त दुरुपयोग का अपराधी है और न्याय की विफलता है। पक्ष के साथ किए गए अन्याय को एक्टस क्यूरी नेमिनेम ग्रावाबिट (अदालत का एक कार्य किसी को पूर्वाग्रह (प्रेजुडिस) नहीं देगा) के सिद्धांत के आधार पर राहत दी जानी चाहिए। किसी मामले का पक्ष उन मामलों में दुर्व्यवहार का अपराधी बन जाएगा जब उक्त पक्ष न्यायालय या कार्यवाही के पक्ष में धोखाधड़ी करके लाभ प्राप्त करने, कार्यवाही की बहुलता को बढ़ावा देने आदि जैसे कार्य करता है।

निर्णयों, डिक्री, आदेशों और अन्य रिकॉर्ड्स में संशोधन— सीपीसी की धारा 152 "निर्णयों, डिक्री और आदेश के संशोधन" से संबंधित है। सीपीसी की धारा 152 के अनुसार, न्यायालय के पास निर्णयों, डिक्री या आदेशों में लिखित या अंकगणितीय (आर्थमेटिकल) गलतियों या अप्रत्याशित (अनएक्सपेक्टेड) चूक या अपूर्णता से उत्पन्न होने वाली त्रुटियों (या तो स्वयं के कार्यों या किसी भी पक्ष के आवेदन पर) को बदलने की शक्ति है। धारा 153 "संशोधन के सामान्य अधिकार" से संबंधित है। यह धारा अदालत को किसी भी कार्यवाही में किसी भी गलती और त्रुटि में संशोधन करने का अधिकार देती है और उठाए गए मुद्दों को व्यवस्थित करने या ऐसी कार्यवाही के आधार पर सभी आवश्यक सुधार करने का भी अधिकार देती है। सीपीसी की धारा 152 और 153 यह स्पष्ट करती है कि अदालत किसी भी समय उनके अनुभवों में किसी भी गलती को ठीक कर सकती है।

डिक्री या आदेश में संशोधन करने की शक्ति जहां एक अपील को खारिज कर दिया जाता है और मुकदमे की जगह को खुली अदालत माना जाता है, सीपीसी, 1908 की धारा 153। और 153 B के तहत परिभाषित किया गया है।

सीमा— अंतर्निहित शक्तियों के प्रयोग में कुछ बाधाएँ होती हैं जैसे—

- (1) उन्हें केवल संहिता में विशेष प्रावधानों की कमी में ही लागू किया जा सकता है;
- (2) संहिता में स्पष्ट रूप से जो दिया गया है, उसके साथ विवाद में उन्हें लागू नहीं किया जा सकता है;
- (3) उन्हें दुर्लभ या असाधारण मामलों में लागू किया जा सकता है;
- (4) शक्तियों का संचालन करते समय, अदालत को विधायिका द्वारा दिखाए गए तरीके का पालन करना होता है;
- (5) न्यायालय न तो अधिकार क्षेत्र का प्रयोग कर सकते हैं और न ही उन्हें कानून द्वारा सौंप सकते हैं;
- (6) रेस ज्यूडिकाटा के सिद्धांत का पालन करना अर्थात्, उन मुद्दों को न खोलना जो पहले ही अंतिम रूप से तय हो चुके हैं;
- (7) किसी निर्णय को नए सिरे से देने के लिए मध्यस्थ (मिडिएटर) का चयन करना;
- (8) पक्षों के मूल अधिकार नहीं छीने जाने चाहिए;
- (9) किसी पक्ष को न्यायालय में कार्यवाही करने से सीमित करने के लिए; तथा
- (10) एक आदेश को रद्द करने के लिए जो उसके जारी होने के समय वैध था।

न्यायालयों की अंतर्निहित शक्तियों के प्रावधानों का सारांश—धारा 148 से धारा 153B का सारांश यह है कि न्यायालय की शक्तियाँ निम्नलिखित के दायरे के लिए काफी गहरी और व्यापक हैं—

- (1) मुकदमेबाजी को कम करना;
- (2) कार्यवाही की बहुलता से बचना; तथा

(3) पक्षों के बीच पूर्ण न्याय प्रदान करना।

प्रश्न नं० 8— अस्थायी निषेधाज्ञा क्या है? कब एवं किन मामलों में अस्थायी निषेधाज्ञा प्रदान की जा सकती है? तत्सदर्थ में सिविल प्रक्रिया संहिता (संशोधन) अधिनियम, 1999 का भी उल्लेख कीजिए।

उत्तर— अस्थायी निषेधाज्ञा का अर्थ— अस्थायी निषेधाज्ञा एक न्यायालय आदेश है जो किसी मामले के चलते समय दिया जाता है ताकि मामले का अंतिम निर्णय होने तक चीजें वैसी ही बनी रहें जैसी वे हैं। इसका मुख्य उद्देश्य किसी व्यक्ति को कानूनी प्रक्रिया के दौरान किसी अन्य पक्ष को गंभीर नुकसान पहुंचाने से रोकना है। यह विचार गुजरात पोटलिंग कंपनी लिमिटेड और अन्य बनाम कोका कोला कंपनी और अन्य (1995) के मामले में स्पष्ट किया गया था।

अस्थायी निषेधाज्ञा के नियम सिविल प्रक्रिया संहिता 1908 में दिए गए हैं और वे इस प्रकार हैं—

(1) कानून की धारा 94 न्याय में हस्तक्षेप को रोकने के बारे में है। भाग (सी) अस्थायी निषेधाज्ञा देने से संबंधित है और इसमें यह सुनिश्चित करने के नियम हैं कि लोग उनका पालन करें, जैसे किसी को सिविल जेल में डालना या उनका पालन करवाने के लिए उनकी संपत्ति बेचना।

(2) धारा 95 के अनुसार यदि वादी का दावा खारिज हो जाता है तो न्यायालय प्रतिवादी को धन देने पर विचार कर सकता है।

(3) सिविल प्रक्रिया संहिता (सीपीसी) के आदेश 39 में अस्थायी निषेधाज्ञा के बारे में कई नियम हैं।

सी.पी.सी. में अस्थायी निषेधाज्ञा

भारत में अस्थायी निषेधाज्ञाओं को सिविल प्रक्रिया संहिता 1908 द्वारा विनियमित किया जाता है तथा उनके प्रदान करने और लागू करने के विशिष्ट नियम इस प्रकार हैं—

आदेश XXXIX, नियम 1: यह नियम न्यायालय को सी.पी.सी. के अंतर्गत अस्थायी निषेधाज्ञा प्रदान करने की अनुमति देता है, जब ऐसा करना उचित और उपयुक्त समझा जाता है, ताकि किसी दायित्व के उल्लंघन को रोका जा सके या ऐसे उल्लंघन के वास्तविक भय से होने वाली हानि को रोका जा सके।

आदेश XXXIX, नियम 2: यह नियम अस्थायी निषेधाज्ञा दिए जाने के लिए आवश्यक शर्तों को बताता है। इन शर्तों में एक मजबूत प्रारंभिक मामला होना, सुविधा का संतुलन और अपूरणीय क्षति की संभावना शामिल है।

आदेश XXXIX, नियम 3: यह नियम सी.पी.सी. में अस्थायी निषेधाज्ञा प्राप्त करने की प्रक्रिया और आपको क्या करना होगा, इसकी व्याख्या करता है, जिसमें शपथ पत्र द्वारा समर्थित आवेदन प्रस्तुत करना भी शामिल है।

आदेश XXXIX, नियम 4: यह नियम न्यायालय के उस अधिकार को कवर करता है, जिसके तहत वह संपत्ति जब्त कर सकता है, जब यह सुनिश्चित करना आवश्यक हो कि अस्थायी निषेधाज्ञा कमजोर न हो।

आदेश XXXIX, नियम 5: यह नियम न्यायालय को कार्यवाही के दौरान किसी भी समय अस्थायी निषेधाज्ञा को बदलने या रद्द करने की अनुमति देता है, यदि यह स्थिति के आधार पर उचित हो।

आदेश XXXIX, नियम 6: यह नियम इस बात से संबंधित है कि ब्ळ में अस्थायी निषेधाज्ञा कितने समय तक चलती है। यह एक निश्चित समय तक या न्यायालय द्वारा अन्यथा आदेश दिए जाने तक प्रभावी रह सकती है।

आदेश XXXIX, नियम 7: यह नियम बताता है कि अगर कोई व्यक्ति अस्थायी निषेधाज्ञा का उल्लंघन करता है या उसकी अवज्ञा करता है तो क्या होगा। इसमें न्यायालय की अवमानना की कार्यवाही और पीड़ित पक्ष के लिए अन्य उपाय शामिल हैं।

ये नियम CPC के तहत अस्थायी निषेधाज्ञा देने और उसके प्रबंधन के लिए संरचना निर्धारित करते हैं। अस्थायी निषेधाज्ञा की मांग करने या उसे चुनौती देने वाले दोनों पक्षों के लिए इन नियमों से परिचित होना और उल्लिखित प्रक्रियाओं का पालन करना महत्वपूर्ण है।

सी.पी.सी. में अस्थायी निषेधाज्ञा के आधार—

दलपत कुमार एवं अन्य बनाम प्रहलाद सिंह एवं अन्य (1991) के मामले में सी.पी.सी. के तहत अस्थायी निषेधाज्ञा के लिए आवेदन करने और अस्थायी निषेधाज्ञा प्रदान करने के लिए तीन प्रमुख आवश्यकताएं स्थापित की गई हैं। वे हैं—

प्रथम दृष्टया मामला— इसका मतलब यह है कि मुकदमे में, सीपीसी में अस्थायी निषेधाज्ञा के लिए एक गंभीर और विवादित प्रश्न होना चाहिए। इस प्रश्न से जुड़े तथ्यों से यह संकेत मिलना चाहिए कि वादी या प्रतिवादी को राहत पाने का हक है। यह ध्यान रखना महत्वपूर्ण है कि प्रथम दृष्टया मामले में किसी ऐसे अकाट्य तर्क की आवश्यकता नहीं होती है जो मुकदमे में सफल होने के लिए निश्चित हो। बल्कि, इसका मतलब यह है कि निषेधाज्ञा के लिए प्रस्तुत मामले में पर्याप्त योग्यता होनी चाहिए ताकि उसे पूरी तरह से खारिज न किया जा सके।

अपूरणीय क्षति— यदि किसी व्यक्ति को मुकदमे से संबंधित कोई अपूरणीय क्षति होती है, तो उसके कानूनी अधिकारों का परीक्षण में निर्धारण होने से पहले, यह गंभीर अन्याय होगा। हालाँकि, यह समझना आवश्यक है कि किसी वस्तु के भावनात्मक मूल्य जैसे नुकसान को आमतौर पर अपूरणीय नहीं माना जाएगा। दूसरी ओर, ऐसे नुकसान जिन्हें कानूनी तरीकों से पर्याप्त रूप से ठीक नहीं किया जा सकता है, खासकर जब कोई उचित या उचित समाधान न हो, उन्हें अपूरणीय माना जा सकता है। अपूरणीय क्षति से तात्पर्य उन स्थितियों से भी हो सकता है, जहाँ चोट निरंतर या बार-बार होती है, या जहाँ इसे केवल कई कानूनी कार्रवाइयों के माध्यम से ठीक किया जा सकता है।

कभी-कभी, अपूरणीय क्षति शब्द का संबंध नुकसान की मात्रा को निर्धारित करने की कठिनाई से होता है, लेकिन चोट को साबित करने में केवल कठिनाई से अपूरणीय क्षति स्थापित नहीं होती है।

सुविधा का संतुलन— न्यायालय को दोनों पक्षों की परिस्थितियों का मूल्यांकन करना चाहिए तथा निषेधाज्ञा को रोकने अथवा इसे देने से होने वाले संभावित नुकसान या असुविधा की तुलना करनी चाहिए। संक्षेप में, न्यायालय को यह निर्धारित करना चाहिए कि निषेधाज्ञा न देने से होने वाला नुकसान या असुविधा, निषेधाज्ञा दिए जाने पर होने वाली हानि या असुविधा से अधिक होगी या नहीं।

ये तीन आवश्यकताएं कानूनी मामलों में अस्थायी निषेधाज्ञा प्रदान करने के निर्णय के लिए महत्वपूर्ण मानदंड के रूप में कार्य करती हैं।

मंडाती रंगन्ना बनाम टी. रामचंद्र (MANU/SC/7567/2008 : AIR 2008 SC 2291) में, न्यायालय ने इस बात पर बल दिया कि सी.पी.सी. में अस्थायी निषेधाज्ञा प्रदान करने के लिए आवेदन पर विचार करते समय, केवल प्रथम दृष्टया मामले के अस्तित्व, सुविधा का संतुलन और अपूरणीय क्षति जैसे मूलभूत तत्वों पर विचार करना पर्याप्त नहीं है।

निषेधाज्ञा देना एक न्यायसंगत उपाय है और न्यायालय को इसमें शामिल पक्षों के आचरण को भी ध्यान में रखना चाहिए। विशेष रूप से, यदि एक पक्ष लंबे समय तक चुप रहा है और किसी अन्य पक्ष को किसी संपत्ति से विशेष रूप से निपटने की अनुमति दी है, तो वे निषेधाज्ञा के हकदार नहीं हो सकते हैं। न्यायालय केवल इसलिए हस्तक्षेप नहीं करेगा क्योंकि संबंधित संपत्ति मूल्यवान है। न्यायालय का प्राथमिक लक्ष्य सभी संबंधित पक्षों के हितों की रक्षा करना है।

पेडसेट्टी भंनारायण बनाम पेडसेट्टी राजेश्वर राव (एआईआर 1999 ओरि 92) में, न्यायालय ने कहा कि वादी के लिए हमेशा विवादित संपत्ति पर अपना पूर्ण अधिकार साबित करना आवश्यक नहीं है। यह पर्याप्त है यदि वादी अपने द्वारा दावा किए गए अधिकार के अस्तित्व के बारे में एक वैध प्रश्न उठा सकता है। इसके अलावा, अगर वादी अदालत को यह समझा सकता है कि कानूनी सवाल हल होने तक विचाराधीन संपत्ति को उसकी मौजूदा स्थिति में संरक्षित रखा जाना चाहिए, तो यह निषेधाज्ञा देने को उचित ठहरा सकता है। यह इस बात पर प्रकाश डालता है कि कुछ मामलों में, निषेधाज्ञा चाहने वाले पक्ष को पूर्ण स्वामित्व स्थापित करने की आवश्यकता नहीं होती है, लेकिन उसे एक वास्तविक दावा दिखाना चाहिए और कानूनी कार्यवाही के दौरान संपत्ति की रक्षा करने की आवश्यकता होनी चाहिए।

अस्थायी निषेधाज्ञा कितने समय तक लागू रहती है?

अस्थायी निषेधाज्ञा की अवधि न्यायालय द्वारा निषेधाज्ञा जारी करते समय निर्धारित की जाती है। “आदेश XXXIX, सिविल प्रक्रिया संहिता 1908 के नियम 6” के अनुसार, अस्थायी निषेधाज्ञा निर्दिष्ट समय तक या न्यायालय द्वारा आगे के आदेश जारी किए जाने तक प्रभावी रह सकती है।

सी.पी.सी. में अस्थायी निषेधाज्ञा की अवधि दी गई निषेधाज्ञा के प्रकार पर निर्भर करती है—

पेंडेंट लाइट निषेधाज्ञा— इस प्रकार की निषेधाज्ञा तब तक लागू रहती है जब तक कि चल रही कानूनी कार्यवाही समाप्त नहीं हो जाती और न्यायालय का अंतिम निर्णय नहीं आ जाता। यदि मुकदमा खारिज हो जाता है, तो अस्थायी निषेधाज्ञा भी हटा ली जाती है।

स्थायी निषेधाज्ञा मुकदमा— स्थायी निषेधाज्ञा से जुड़े मामलों में, न्यायालय द्वारा जारी अस्थायी निषेधाज्ञा को अंतिम डिक्री के भाग के रूप में स्थायी बनाया जा सकता है। इसका मतलब यह है कि सीपीसी के तहत अस्थायी निषेधाज्ञा प्रभावी रूप से न्यायालय के अंतिम डिक्री द्वारा निर्धारित एक स्थायी उपाय बन जाती है।

संक्षेप में, सी.पी.सी. में अस्थायी निषेधाज्ञा की वैधता निषेधाज्ञा की प्रकृति के आधार पर भिन्न होती है। पेंडेंट लाइट निषेधाज्ञा के लिए, यह कानूनी कार्यवाही के समापन तक रहता है, जबकि स्थायी निषेधाज्ञा के लिए मुकदमों में, अस्थायी निषेधाज्ञा न्यायालय के अंतिम आदेश के माध्यम से स्थायी हो सकती है।

क्या प्रतिवादी को निषेधाज्ञा दी जा सकती है?

सर्वोच्च न्यायालय ने तम्मिनेदी रामकृष्ण आदि बनाम एन. जयलक्ष्मी के मामले में नोटिस जारी किया। मुख्य मुद्दा यह था कि क्या प्रतिवादी को संहिता के आदेश गग्न नियम 1 (सी) के तहत निषेधाज्ञा मांगने का अधिकार था।

एसएलपी (विशेष अनुमति याचिका) कर्नाटक उच्च न्यायालय के आदेश को चुनौती देती है, जिसने ट्रायल कोर्ट के फैसले की पुष्टि की और कोड की धारा 151 के साथ आदेश गग्न नियम 1 (ए), (बी) और (सी) के तहत प्रतिवादी के पक्ष में एक अस्थायी निषेधाज्ञा दी। उच्च न्यायालय ने आदेश गग्न नियम 1 के तीन उप-नियमों को अलग करने का प्रयास किया, यह सुझाव देते हुए कि उप-नियम (बी) और (सी) मुख्य रूप से वादी के लिए उपचार प्रदान करते हैं, जबकि उप-नियम (ए) एक अधिक सामान्य प्रावधान है।

विभिन्न उच्च न्यायालयों ने इस बात पर अलग-अलग राय व्यक्त की है कि क्या प्रतिवादी प्रति-दावा दायर किए बिना वादी के खिलाफ निषेधाज्ञा की मांग कर सकता है। त्रावणकोर और कोच्चि (पूर्व में) उच्च न्यायालय और कई अन्य उच्च न्यायालयों ने माना है कि प्रतिवादी वादी के खिलाफ अस्थायी निषेधाज्ञा का अनुरोध कर सकता है यदि उनका दावा वादी के कार्यवाही के कारण से संबंधित या उससे संबंधित है।

प्रश्न न० 9—मर्यादा विधि केवल उपचार को वर्जित करती है, अधिकार को नहीं । मर्यादा अधिनियम, 1963 के अधीन इस कथन की व्याख्या इसके अपवादों सहित कीजिए।

उत्तर—सीमा कानून की जड़ें "इंटरैस्ट रिपब्लिका यूट सिट फिनिस लिटियम" की उक्ति में मिलती हैं, जिसका अर्थ है कि पूरे राज्य के हित में मुकदमेबाजी की एक सीमा होनी चाहिए और "विजिलेंटीबस नॉन डॉर्मिएंटिबस जुरा सबवेनियंट" जिसका अर्थ है कि कानून केवल उन लोगों की सहायता करेगा जो अपने अधिकारों के प्रति सजग हैं, न कि उन लोगों की जो इस पर ध्यान नहीं देते। सीमा कानून वैधानिक समय सीमा को निर्दिष्ट करता है जिसके भीतर कोई व्यक्ति कानूनी कार्यवाही शुरू कर सकता है या कोई कानूनी कार्रवाई की जा सकती है। यदि कोई मुकदमा निर्धारित समय की समाप्ति के बाद दायर किया जाता है तो उसे सीमा द्वारा रोक दिया जाएगा। इसका मतलब है कि जिस समय के भीतर कानूनी कार्यवाही शुरू की जानी चाहिए थी, उस समय की समाप्ति के बाद न्यायालय के समक्ष लाया गया मुकदमा प्रतिबंधित होगा।

अधिनियम का इतिहास—परिसीमा कानून कई चरणों में विकसित हुआ और अंततः 1963 के परिसीमा अधिनियम का रूप ले लिया। 1859 से पहले, पूरे भारत में लागू होने वाला कोई परिसीमा कानून नहीं था। यह केवल 1859 में था कि परिसीमा से संबंधित एक कानून (1859 का अधिनियम गूट) अधिनियमित किया गया था जो सभी न्यायालयों पर लागू था। परिसीमा अधिनियम को बाद में 1871, 1877, 1908 में निरस्त कर दिया गया। परिसीमा अधिनियम, 1908 को तीसरे विधि आयोग द्वारा निरस्त कर दिया गया और 1963 का परिसीमा अधिनियम लागू हुआ। 1908 के अधिनियम में केवल विदेशी अनुबंधों का उल्लेख था जबकि 1963 के अधिनियम में जम्मू और कश्मीर के क्षेत्र में या किसी विदेशी देश में किए गए अनुबंधों के बारे में बात की गई थी।

अधिनियम का उद्देश्य—परिसीमा कानून एक समय अवधि निर्धारित करता है जिसके भीतर न्यायालय में किसी अधिकार को लागू किया जा सकता है। अधिनियम की अनुसूची में विभिन्न मुकदमों के लिए समय अवधि प्रदान की गई है। इस अधिनियम का मुख्य उद्देश्य मुकदमेबाजी को लंबे समय तक चलने से रोकना और मामलों का शीघ्र निपटारा करना है जिससे प्रभावी मुकदमेबाजी हो सके। जम्मू और कश्मीर पुनर्गठन अधिनियम, 2019 के अनुसार, परिसीमा अधिनियम के प्रावधान अब पूरे भारत में लागू होंगे। परिसीमा अधिनियम, 1963 में परिसीमा अवधि के लिए समय की गणना, देरी की माफी आदि से संबंधित प्रावधान हैं। परिसीमा अधिनियम में 32 धाराएँ और 137 अनुच्छेद हैं और अनुच्छेदों को 10 भागों में विभाजित किया गया है।

पूर्वव्यापी संचालन—बीके एजुकेशन सर्विसेज प्राइवेट लिमिटेड बनाम पराग गुप्ता एंड एसोसिएट्स में, सुप्रीम कोर्ट ने स्पष्ट किया कि चूंकि सीमा का कानून प्रकृति में प्रक्रियात्मक है, इसे पूर्वव्यापी रूप से लागू किया जाएगा। थिरुमलाई केमिकल्स लिमिटेड बनाम भारत संघ में सुप्रीम कोर्ट ने कहा कि सीमा के कानून पूर्वव्यापी हैं जहां तक वे पहले अर्जित कार्रवाई के कारणों को लागू करने के लिए उनके संचालन के बाद लाई गई सभी कानूनी कार्यवाहियों पर लागू होते हैं। आबकारी और कराधान बनाम मेसर्स फ्रिगो ग्लास इंडिया प्राइवेट लिमिटेड में, पंजाब और हरियाणा उच्च न्यायालय ने फैसला दिया कि यह अच्छी तरह से स्थापित है कि सीमा का कानून एक प्रक्रियात्मक कानून है और पूर्वव्यापी रूप से संचालित होता है जब तक कि इसे संशोधित कानून में अलग से प्रदान नहीं किया गया हो। दूसरे शब्दों में, जब तक कि कानून के स्पष्ट या आवश्यक निहितार्थ से कोई विपरीत इरादा प्रकट न हो

सीमा बार उपाय

धारा 3 में सामान्य नियम दिया गया है कि यदि कोई वाद, अपील या आवेदन निर्धारित समय की समाप्ति के बाद न्यायालय के समक्ष लाया जाता है, तो न्यायालय ऐसे वाद, अपील या आवेदन को समय-बाधित मानकर खारिज कर देगा। सीमा का कानून केवल न्यायिक उपचार को रोकता है और अधिकार को समाप्त नहीं करता है। दूसरे शब्दों में, इसका मतलब है कि सीमा का कानून केवल उस अवधि को निर्धारित करता है जिसके भीतर कानूनी कार्यवाही शुरू की जानी है। यह ऐसी कार्रवाइयों के लिए बचाव स्थापित करने के लिए किसी अवधि को प्रतिबंधित नहीं करता है। इसलिए, वाद दायर करने का मूल अधिकार वर्जित नहीं है। हालाँकि, धारा 27 इस नियम का अपवाद है।

पंजाब नेशनल बैंक और अन्य बनाम सुरेन्द्र प्रसाद सिन्हा मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने माना कि सीमा के नियम पक्षों के अधिकारों को नष्ट करने के लिए नहीं हैं। धारा 3 केवल उपचार पर रोक लगाती है, लेकिन उस अधिकार को नष्ट नहीं करती जिससे उपचार संबंधित है।

एस 15/1996 बनाम केजे एंथनी के मामले में फैसले के खिलाफ, न्यायालय ने माना कि एक मुकदमे में प्रतिवादी कोई भी बचाव पेश कर सकता है, हालाँकि ऐसा बचाव अदालत में लागू नहीं हो सकता है, क्योंकि वह समय-सीमा से वर्जित है।

बॉम्बे डाइंग एंड मैनुफैक्चरिंग बनाम बॉम्बे राज्य मामले में यह माना गया कि समय-सीमा का कानून केवल उपचार पर रोक लगाता है, लेकिन ऋण को समाप्त नहीं करता है।

सीमाएं बचाव पर रोक नहीं लगातीं

परिसीमा कानून प्रतिवादी को प्रतिबंधित नहीं करता है यदि वह अपने बचाव में वैध दलील देता है, भले ही मुकदमा समय-बाधित हो। यह रुलिया राम हकीम राय बनाम फतेह सिंह में माना गया था, परिसीमा का प्रतिबंध बचाव के

रास्ते में नहीं आता है। यह केवल कार्रवाई को रोकता है और केवल उसकी वसूली ही समय-बाधित है। ऐसा कोई प्रावधान नहीं है जो देनदार को उसके समय-बाधित बकाया को चुकाने से रोकता या रोकता हो।

श्रीमंत शामराव सूर्यवंशी बनाम प्रहलाद भैरोबा सूर्यवंशी मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने कहा कि, परिसीमा अधिनियम वादी से न्यायालय में मुकदमा चलाकर अपने अधिकारों को लागू करने का उपाय छीन लेता है, लेकिन यह प्रतिवादी पर अपना बचाव प्रस्तुत करने पर कोई प्रतिबंध नहीं लगाता है, यद्यपि ऐसा बचाव परिसीमा द्वारा वर्जित है और न्यायालय में लागू नहीं किया जा सकता है।

न्यायालय में आवेदन

धारा 3(सी) के तहत, उच्च न्यायालय में प्रस्ताव के नोटिस द्वारा आवेदन तब किया जा सकता है जब आवेदन उस न्यायालय के उचित अधिकारी के समक्ष प्रस्तुत किया जाता है। यदि किसी आवेदन के लिए निर्धारित अवधि उस दिन समाप्त हो जाती है जिस दिन न्यायालय बंद होता है, तो धारा 4 के अनुसार आवेदन उस दिन किया जाएगा जिस दिन न्यायालय पुनः खुलता है।

सीमा अवधि की दलील— न्यायालय का कर्तव्य

यदि कोई मुकदमा सीमा अधिनियम द्वारा निर्धारित समय के बाद दायर किया जाता है तो न्यायालय उसे खारिज करने के लिए बाध्य है। धारा 3 के प्रावधान अनिवार्य हैं और यदि समय सीमा के कारण मुकदमा दायर नहीं किया जाता है तो न्यायालय उस पर आगे नहीं बढ़ेगा। अधिनियम की धारा 3 के तहत, यह स्पष्ट रूप से उल्लेख किया गया है कि निर्धारित अवधि के बाद दायर किया गया प्रत्येक मुकदमा, अपील और आवेदन खारिज कर दिया जाएगा। भले ही सीमा को बचाव के रूप में स्थापित नहीं किया गया है।

क्राफ्ट सेंटर बनाम कोंचेरी कॉयर फैक्ट्रीज में यह माना गया था कि वादी का यह कर्तव्य है कि वह न्यायालय को यह विश्वास दिलाए कि उसका मुकदमा समय के भीतर है। यदि यह समय से बाहर है और वादी सीमाओं को बचाने के लिए किसी भी पावती पर निर्भर करता है तो उसे इनकार किए जाने पर उनका तर्क देना होगा या साबित करना होगा। न्यायालय ने आगे कहा कि धारा 3 का प्रावधान निरपेक्ष और अनिवार्य है और यदि किसी मुकदमे में समय सीमा समाप्त हो जाती है तो न्यायालय का कर्तव्य है कि वह अपीलीय चरण में भी मुकदमे को खारिज कर दे, भले ही सीमा का मुद्दा न उठाया गया हो। आईसीआईसीआई बैंक लिमिटेड बनाम त्रिशला अपैरल्स प्राइवेट लिमिटेड में यह माना गया था कि इसमें कोई संदेह नहीं है कि न्यायालय किसी मामले में मुकदमे को खारिज करने के लिए बाध्य है यदि उस पर समय सीमा समाप्त हो जाती है, भले ही विपरीत पक्ष द्वारा ऐसी कोई दलील न ली गई हो।

मुकुंद लिमिटेड बनाम मुंबई अंतर्राष्ट्रीय हवाई अड्डा मामले में यह निर्णय दिया गया कि यह स्पष्ट रूप से स्पष्ट है कि जब किसी मुकदमे पर समय-सीमा के द्वारा रोक लगा दी जाती है, तो न्यायालय को विवादों के गुण-दोष के आधार पर आगे बढ़ने से रोक दिया जाता है और वास्तव में वह मुकदमे को खारिज करने के लिए बाध्य होता है।

सीमा का प्रारंभिक बिंदु

जिस समय से परिसीमा अवधि शुरू होती है वह मामले के विषय पर निर्भर करता है और ऐसी अवधि का एक विशिष्ट प्रारंभिक बिंदु अधिनियम में अनुसूची द्वारा विस्तृत रूप से प्रदान किया गया है। यह आम तौर पर उस तारीख से शुरू होता है जब समन या नोटिस दिया जाता है, या जिस तारीख को डिक्री या निर्णय पारित किया जाता है, या जिस तारीख को मुकदमे का आधार बनने वाली घटना होती है। ट्रस्टीज पोर्ट बॉम्बे बनाम प्रीमियर ऑटोमोबाइल में सुप्रीम कोर्ट ने माना कि परिसीमा का प्रारंभिक बिंदु कार्रवाई के कारण का उपार्जन है।

न्यायालय बंद होने पर सीमा की समाप्ति अवधि

जब कोई न्यायालय किसी निश्चित दिन बंद हो और उस दिन सीमा अवधि समाप्त हो जाए तो कोई भी वाद, अपील या आवेदन उस दिन न्यायालय में लिया जाएगा जिस दिन वह पुनः खुलेगा। इसका अर्थ यह है कि किसी पक्षकार को उसकी अपनी गलती से नहीं बल्कि उस दिन न्यायालय के बंद होने के कारण रोका गया है। सीमा अधिनियम की धारा 4 में यह प्रावधान है कि जब किसी वाद, अपील या आवेदन के लिए सीमा अवधि निर्धारित की गई है और ऐसी अवधि उस दिन समाप्त हो जाती है जिस दिन न्यायालय बंद हो तो ऐसा वाद, अपील या आवेदन उस दिन संस्थित किया जाएगा, पेश किया जाएगा या किया जाएगा जिस दिन न्यायालय पुनः खुलेगा। इस धारा के स्पष्टीकरण में उल्लेख है कि इस धारा के अर्थ में किसी भी दिन न्यायालय बंद माना जाएगा यदि न्यायालय के सामान्य कामकाज के किसी भी भाग के दौरान वह उस दिन बंद रहता है।

उदाहरण के लिए, यदि कोई न्यायालय 1 जनवरी को पुनः खुलता है और अपील दायर करने का समय 30 दिसंबर (जिस दिन न्यायालय बंद रहता है) को समाप्त हो जाता है, तो अपील 1 जनवरी को न्यायालय के पुनः खुलने पर की जा सकती है।

विलंब की क्षमा

विलंब की माफी का अर्थ है कुछ मामलों में दी गई समय सीमा का विस्तार, बशर्ते ऐसे विलंब के लिए पर्याप्त कारण हो। धारा 5 कुछ मामलों में निर्धारित अवधि के विस्तार के बारे में बात करती है। यह प्रदान करती है कि यदि अपीलकर्ता या आवेदक अदालत को संतुष्ट करता है कि उसके पास उस अवधि के भीतर अपील या आवेदन न करने का पर्याप्त कारण था, तो ऐसी अपील या आवेदन निर्धारित समय के बाद स्वीकार किया जा सकता है। यह धारा आगे उल्लेख करती है कि सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 (1908 का 5) के आदेश ग्ग के किसी भी प्रावधान के

तहत किया गया आवेदन। स्पष्टीकरण में कहा गया है कि निर्धारित अवधि का पता लगाने या गणना करने में जब आवेदक या अपीलकर्ता को उच्च न्यायालय के किसी आदेश, अभ्यास या निर्णय से गुमराह किया गया हो। यह इस धारा के अर्थ के भीतर पर्याप्त कारण होगा।

हालाँकि, यदि कोई पक्ष देरी के लिए कोई ठोस आधार नहीं दिखाता है तो आवेदन, मुकदमा या अपील को अदालत द्वारा खारिज कर दिया जाएगा।

केरल राज्य बनाम के.टी. शादुली यूसुफ के मामले में, न्यायालय ने माना कि, विलम्ब को माफ करने के लिए पर्याप्त कारण है या नहीं, यह तथ्य का प्रश्न है जो किसी विशेष मामले की परिस्थितियों पर निर्भर करता है।

पर्याप्त कारण

पर्याप्त कारण का अर्थ है कि न्यायालय के पास यह मानने के लिए पर्याप्त कारण या उचित आधार होना चाहिए कि आवेदक को न्यायालय में आवेदन के साथ आगे बढ़ने से रोका गया था।

राज्य (दिल्ली राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र) बनाम अहमद जान मामले में कहा गया था कि अभिव्यक्ति पर्याप्त कारण को उदार निर्माण मिलना चाहिए। बलवंत सिंह (मृत) बनाम जगदीश सिंह और अन्य मामले में, सर्वोच्च न्यायालय ने माना कि आवेदक के लिए पर्याप्त कारण दिखाना अनिवार्य है जिसके कारण उसे मुकदमे में कार्यवाही जारी रखने से रोका गया था। इस मामले में, कानूनी प्रतिनिधियों को रिकॉर्ड पर लाने के लिए आवेदन दाखिल करने में 778 दिनों की देरी हुई।

ऑर्नेट ट्रेडर्स प्राइवेट लिमिटेड बनाम मुंबई मामले में, बॉम्बे उच्च न्यायालय ने फैसला सुनाया कि जहां पर्याप्त कारण दर्शाया गया हो और विलंब की माफी के लिए आवेदन सद्भावपूर्वक प्रस्तुत किया गया हो, तो न्यायालय आमतौर पर विलंब को माफ कर देगा, लेकिन जहां विलंब का कोई स्पष्टीकरण नहीं दिया गया हो और लापरवाही तथा असावधानी के अलावा अत्यधिक विलंब हुआ हो, तो न्यायालय का विवेक सामान्यतः आवेदक के विरुद्ध होगा।

बृज इंदर सिंह बनाम कांसी राम मामले में बॉम्बे उच्च न्यायालय ने कहा कि धारा 5 के तहत अधिकारिता का प्रयोग करते समय न्यायालय के लिए सही मार्गदर्शक यह है कि क्या वादी ने अपील पर मुकदमा चलाने में समझदारी और उचित तत्परता के साथ काम किया है।

आवेदक ने पर्याप्त कारण बताए हैं या नहीं, यह न्यायालय के विवेक और प्रत्येक मामले की परिस्थितियों पर निर्भर करता है। उदाहरण के लिए, न्यायालय चिकित्सा आधार पर देरी को माफ कर सकता है।

प्रश्न नं० 10— निम्नलिखित में से किन्हीं दो पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए—

उत्तर— (1) वाद हेतुक— सिविल प्रक्रिया संहिता (सीपीसी), 1908 के मुताबिक, वाद—हेतुक का मतलब है, उन तथ्यों का समूह, जिनके लागू होने पर वादी को प्रतिवादी के खिलाफ राहत का अधिकार मिल सकता है। साल 1996 के दक्षिण पूर्व एशिया शिपिंग बनाम नव भारत एंटरप्राइजेज मामले में, सुप्रीम कोर्ट ने माना था कि वाद—हेतुक, अनिवार्य रूप से उन तथ्यों का समूह होता है, जिनकी वजह से विवाद पैदा होता है। वाद—हेतुक की वजह से ही, वादी को अदालत जाने का कानूनी अधिकार मिलता है। इसलिए वो वादी जो अदालत के समक्ष उचित इरादे से नहीं आते हैं, वे सुनवाई के हकदार नहीं होते हैं और वास्तव में, ऐसे व्यक्ति किसी भी न्यायिक फोरम से किसी भी राहत के हकदार नहीं हैं, इस बात को ध्यान में रखते हुए सीपीसी में आदेश 7 रूल 11 को जोड़ा गया है जिससे अदालत ऐसे वादपत्रों (Plaints) को खारिज कर सके जो उचित वाद—हेतुक (Cause of Action) प्रकट नहीं करते हैं। हालाँकि, सीपीसी के आदेश 7 रूल 11 में अन्य कारक भी दिए गए हैं जिनके चलते एक वादपत्र (plaint) को निरस्त किया जा सकता है, लेकिन वो सभी स्वभाव से क्लेरिकल हैं, लेकिन जब एक वादपत्र अपने वाद—हेतुक (Cause of Action) को ही प्रस्तुत न करे तो मामला अदालत की व्याख्या पर निर्भर करता है (उच्चतम न्यायालय के तमाम फैसलों के मद्देनजर) कि आखिर कौनसा वादपत्र (Plaint), अपने वाद—हेतुक (Cause of Action) को प्रकट करता और कौन सा नहीं करता।

(2) द्वितीय अपील— सिविल प्रक्रिया संहिता (CPC), 1908 की धारा 100 के तहत, अधीनस्थ न्यायालय द्वारा पहली अपील में दिए गए फैसले के खिलाफ उच्च न्यायालय में दूसरी अपील की जा सकती है। हालाँकि, इस अधिकार का इस्तेमाल सिर्फ उन अहम कानूनी मुद्दों के लिए किया जा सकता है, जो अपील स्वीकार किए जाने के समय या बाद में उठाए जाएं। अगर मामले में कोई कानूनी मुद्दा सीधे तौर पर पार्टियों के अधिकारों को प्रभावित करता है या आम जनता की चिंता का विषय है, तो उसे अहम माना जाएगा।

आयोग को आर.टी. आई. एक्ट की धारा 19(3) के अंतर्गत दाखिल एक अपील का न्यायनिर्णयन करने और वह अपेक्षित सूचना, जब वह केन्द्रीय जन सूचना अधिकारी (सीपीआईओ) या प्रथम अपीलीय अधिकारी के स्तर से प्रदान नहीं की गई है, को प्रदान करने का आदेश जारी करने की शक्तियाँ हैं।

सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 100 के अनुसार, जिला न्यायालय के फैसले के विरुद्ध उच्च न्यायालय में अपील की जा सकती है। यदि डिफ्री एकपक्षीय रूप से पारित की जाती है तो अपील संभव है।

यदि उच्च न्यायालय को यह पता चलता है कि कोई महत्वपूर्ण कानूनी मुद्दा मौजूद है तो वह निर्णय देगा।

यह उल्लेख किया जाना चाहिए कि दूसरी अपील तथ्यात्मक अशुद्धियों के बजाय एक महत्वपूर्ण कानूनी मामले पर आधारित है।

सीपीसी के तहत दूसरी अपील : के बारे में

सी.पी.सी. के अंतर्गत दूसरी अपील का प्रावधान धारा 100 के अंतर्गत किया गया है। इसमें कहा गया है कि, जब तक कि इसके विपरीत कोई विशिष्ट नियम न हों, अधीनस्थ न्यायालय द्वारा पहली अपील में दिए गए निर्णय के विरुद्ध अपील उच्च न्यायालय में प्रस्तुत की जा सकती है। हालाँकि, इस खंड द्वारा दिया गया अधिकार अपील स्वीकार किए जाने के समय या बाद में उठाए गए महत्वपूर्ण कानूनी मुद्दों तक ही सीमित है। सीपीसी की धारा 100 के तहत दूसरी अपील उच्च न्यायालय में की जा सकती है, यदि कोई महत्वपूर्ण और सारवान मुद्दा उठाया जाता है। यदि मामले में कानूनी मुद्दा सीधे और महत्वपूर्ण रूप से पक्षों के अधिकारों को प्रभावित करता है या आम जनता की चिंता का विषय है, तो इसे सारवान माना जाएगा।

दूसरी अपीलरू प्रकृति और दायरा—

प्रकृति—

अपील करने की क्षमता विरासत में मिलने के बजाय कानून द्वारा स्थापित की जाती है। मुकदमा करने की क्षमता प्रकृति में जन्मजात होती है। यह अधिकार मुकदमा दायर करने की तारीख से प्रभावी होता है।

अपीलीय न्यायालय का निर्णय निर्णायक है। किसी अधिकार को शून्य घोषित करने से पहले कानून को उसे शून्य घोषित करना होगा।

दायरा—

निम्नलिखित स्थितियाँ ही ऐसी हैं जिनमें द्वितीय अपील का प्रयोग किया जा सकता है—

- (1) एक कानूनी सवाल उठाया गया है।
- (2) कानूनी प्रश्न महत्वपूर्ण होना चाहिए।
- (3) सी.पी.सी. धारा 100 में निर्दिष्ट अतिरिक्त स्पष्टीकरण।
- (4) तथ्य का गलत तरीके से हल किया गया प्रश्न द्वितीय अपील का मानदंड नहीं होना चाहिए।

सीपीसी के तहत दूसरी अपील का आधार क्या है ?

धारा 101 के अनुसार, “किसी अन्य आधार पर दूसरी अपील नहीं की जा सकती— धारा 100 में उल्लिखित आधार के अलावा कोई दूसरी अपील दायर नहीं की जा सकती।” नतीजतन, यह स्पष्ट रूप से किसी अन्य धारा 100 कारण के आधार पर दूसरी अपील को प्रतिबंधित करता है। दूसरी अपील के लिए निम्नलिखित औचित्य हैं—

- (1) अपील में एक महत्वपूर्ण कानूनी मामला उठाया जाना चाहिए, जिसे अदालत विकसित कर सकती है या पार्टी अपील के ज्ञापन में उठा सकती है;
- (2) कि जिन मामलों में डिफ्री एकपक्षीय रूप से जारी की गई थी, वहां द्वितीय अपील दायर की जा सकेगी;

दूसरी अपील: मामले के फैसले

अन्नापूरानी अम्मल बनाम जी. थंगापोलम मामले में यह निर्णय लिया गया था कि उच्च न्यायालय केवल तभी हस्तक्षेप कर सकता है जब कोई महत्वपूर्ण कानूनी मुद्दा हो।

ज्ञानोबा भाऊराव बनाम मारुति भाऊराव मनोर मामले में यह निर्णय लिया गया कि यहां कोई कानूनी मुद्दा नहीं है और तथ्य का निर्धारण साक्ष्य की प्रबलता के विपरीत है।

(3) डिफ्री घाटी— सी.पी.सी. की धारा 2(3) डिफ्री धारक शब्द को परिभाषित करती है। डिफ्री धारक का अर्थ है कोई भी व्यक्ति जिसके पक्ष में कोई डिफ्री पारित की गई हो या निष्पादन योग्य कोई आदेश दिया गया हो। डिफ्री धारक शब्द उस व्यक्ति को दर्शाता है जिसके पक्ष में कोई डिफ्री पारित की गई हो।

डिफ्रीधारक की विशेषताएँ—

पक्ष में डिफ्री या आदेश

डिफ्री—धारक की प्राथमिक विशेषता उनके पक्ष में एक डिफ्री या निष्पादन योग्य आदेश का अस्तित्व है। इसका मतलब यह है कि डिफ्री या आदेश को एक अधिकार प्रदान करना चाहिए या एक दायित्व लागू करना चाहिए जिसे निष्पादन प्रक्रिया के माध्यम से लागू किया जा सकता है।

मुकदमे के पक्षों तक सीमित नहीं

डिफ्री—धारक को मूल मुकदमे में पक्षकार होना आवश्यक नहीं है। धनी राम गुप्ता बनाम लाला श्री राम मामले में इस पहलू पर जोर दिया गया था, जहां सुप्रीम कोर्ट ने स्पष्ट किया था कि डिफ्री—धारक कोई भी व्यक्ति हो सकता है जिसके पक्ष में डिफ्री पारित की गई हो, भले ही मूल कार्यवाही में उनकी भागीदारी हो या न हो।

कार्यान्वयन का कानूनी अधिकार

डिफ्री—धारक को डिफ्री के निष्पादन की मांग करने के लिए कानूनी रूप से हकदार होना चाहिए। यह अधिकार डिफ्री की शर्तों से या न्यायालय द्वारा निर्धारित डिफ्री—धारक के कानूनी अधिकारों से उत्पन्न हो सकता है।

डिफ्री धारक पर न्यायिक व्याख्या

धनी राम गुप्ता बनाम लाला श्री राम इस मामले में, सुप्रीम कोर्ट ने इस बात पर प्रकाश डाला कि डिफ्री—धारक शब्द व्यापक है और इसमें कोई भी व्यक्ति शामिल है जिसके पक्ष में कोई डिफ्री पारित की गई है। कोर्ट ने कहा— “जब तक वह व्यक्ति जिसका नाम किसी डिफ्री पर अंकित है, वह व्यक्ति है जिसके पक्ष में डिफ्री पारित की गई है, तब तक ऐसे व्यक्ति को डिफ्री—धारक माना जाना चाहिए।” यह निर्णय इस बात पर बल देता है कि डिफ्री में अंकित नाम, डिफ्रीधारक की पहचान के लिए महत्वपूर्ण है, लेकिन यह आवश्यक नहीं है कि वह व्यक्ति वादी ही हो।

अजुधिया प्रसाद बनाम यूपी सरकार मामले में इलाहाबाद उच्च न्यायालय की खंडपीठ ने "डिक्री धारक" के दायरे पर आगे विस्तार से बताया—

“अब इससे यह स्पष्ट है कि जिस व्यक्ति के पक्ष में निष्पादन योग्य आदेश दिया गया है, वह डिक्री धारक भी है। इस परिभाषा से यह भी स्पष्ट है कि डिक्री धारक को मुकदमे में पक्षकार होने की आवश्यकता नहीं है। वह शर्कोई भी व्यक्ति हो सकता है।” यह मामला इस बात को रेखांकित करता है कि डिक्री-धारक कोई भी व्यक्ति हो सकता है जिसे निष्पादन योग्य आदेश का लाभ प्राप्त हो, तथा यह शब्द की व्यापक प्रयोज्यता पर बल देता है।

(4) निर्णीत श्रेणी— सी.पी.सी. की धारा 2(10) में जजमेंट—देनदार को परिभाषित किया गया है। जजमेंट—देनदार का अर्थ है कोई भी व्यक्ति जिसके विरुद्ध कोई डिक्री पारित की गई हो या निष्पादन योग्य कोई आदेश दिया गया हो। इस परिभाषा में मृतक जजमेंट—देनदार का कानूनी प्रतिनिधि शामिल नहीं है।

(5) अपीलीय न्यायालय की शक्तियाँ— (1) अपील का विषय बना किसी निर्णय आदेश या फैसले के पूरे या आंशिक हिस्से के बारे में अपनी शक्तियाँ इस्तेमाल करना।

(2) लागत आदेश बनाना।

(3) अपीलीय न्यायालय का आदेश उसी तरह लागू किया जाएगा जैसे प्रथम दृष्टया न्यायालय का आदेश लागू किया जाता है।

(4) विनियमों की धारा 12य3द्ध के तहत रहते हुए या जब तक अन्यथा आदेश न दिया जाए अपील न्यायालय मौखिक साक्ष्य या ऐसा साक्ष्य स्वीकार नहीं करेगा जो निचली अदालत के सामने न हो।

(5) किसी अपील की सुनवाई के समय कोई पक्षकार अपने आवेदन में शामिल न किए गए किसी मामले पर तब तक भरोसा नहीं कर सकता जब तक कि अपील न्यायालय इसकी अनुमति न दे।

LL.B.-4th Sem. Paper-VI Labour Law and Industrial Law-II

प्रश्न न० 1— कर्मकार प्रतिकर अधिनियम, 1923 के अन्तर्गत दी गयी परिभाषा में कर्मकार की समीक्षा कीजिए।

उत्तर— कर्मकार— कर्मकार अधिनियम की धारा 2(1) (ढ) में कर्मकार की परिभाषा उपबन्धित की गई है। इस परिभाषा के अनुसार कर्मकार अभिप्राय निम्न व्यक्ति से है—जिसकी नियुक्ति आकस्मिक प्रकृति की नहीं है और जिसकी नियुक्ति नियोजक के व्यवसाय या कारबार के प्रयोजन के लिए होने से अन्यथा से नहीं है। कर्मकार की परिभाषा में निम्नलिखित व्यक्ति सम्मिलित है—

(1) रेलवे अधिनियम, 1989 की धारा 2(34) के अनुसार, रेलवे सेवक का अर्थ है रेलवे प्रशासन द्वारा रेलवे की सेवा के संबंध में नियोजित कोई भी व्यक्ति। धारा 2(डीडी) के तहत कर्मचारी की परिभाषा के अनुसार, रेलवे सेवक एक कर्मचारी है यदि: वह रेलवे के किसी प्रशासनिक, जिला या उप-मंडल कार्यालय में स्थायी रूप से कार्यरत नहीं है; तथा वह अधिनियम की अनुसूची ८ में निर्दिष्ट किसी भी क्षमता में नियोजित नहीं है।

(2) किसी जहाज का मास्टर, नाविक या चालक दल का अन्य सदस्य किसी वायुयान का कप्तान या चालक दल का अन्य सदस्य किसी मोटर वाहन के संबंध में चालक, सहायक, मैकेनिक, क्लीनर या किसी अन्य क्षमता में भर्ती किया गया व्यक्ति किसी कंपनी द्वारा विदेश में काम के लिए भर्ती किया गया व्यक्ति और जो अनुसूची ८ में निर्दिष्ट किसी ऐसी क्षमता में भारत के बाहर नियोजित है और जहाज, वायुयान या मोटर वाहन या कंपनी, जैसा भी मामला हो, भारत में पंजीकृत है; या

(3) अनुसूची 2 में विनिर्दिष्ट किसी ऐसी हैसियत में नियोजित, चाहे नियोजन संविदा इस अधिनियम के पारित होने के पूर्व की गई हो या उसके बाद की गई हो और चाहे ऐसी संविदा अभिव्यक्त या विवक्षित, मौखिक या लिखित होय किन्तु इसके अंतर्गत संघ के सशस्त्र बलों के सदस्य की हैसियत में कार्यरत कोई व्यक्ति नहीं है और ऐसे किसी कर्मचारी के प्रति संदर्भ में, जो घायल हो गया हो, जहां कर्मचारी की मृत्यु हो गई हो, उसके आश्रितों या उनमें से किसी के प्रति संदर्भ सम्मिलित होगा।

लेकिन निम्नलिखित व्यक्तियों को कर्मकार की परिभाषा में सम्मिलित नहीं किया जा सकता है—

(1) यदि किसी व्यक्ति को नियोजन आकस्मिक प्रकृति का है और नियोजन के व्यापार अथवा व्यवसाय के प्रयोजनों के सिवाय किसी काम के निमित्त नियोजित किया गया है।

केरल बालग्राम पंजीकृत सोसायटी वीकेएम कोचुमन— इस मामले में यह माना गया है कि, काटे गए धान को छानने के उद्देश्य से नियोजित व्यक्ति को ईसीए, 1923 की धारा 2 (डीडी) के तहत कर्मचारी की परिभाषा के अंतर्गत 'कर्मचारी' माना गया है।

(2) ऐसा कोई व्यक्ति जो भारत के संघ सशस्त्र बल के सदस्य की हैसियत से काम कर रहा है। उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट परिलक्षित होता है कि यह ज्ञात करने के लिए रेलवे कर्मचारी के अतिरिक्त कौन कर्मकार है, निम्न तीन मूलभूत बातें जानना जरूरी है—

(1) अनुसूची 2 में विनिर्दिष्ट पद;

(2) कर्मकार की मासिक मजदूरी;

(3) नियोजन की प्रकृति

आकस्मिक प्रकृति का नियोजन—जिस कर्मकार की नियुक्ति आकस्मिक प्रकृति की है तथा जिसका नियोजक के व्यवसाय के अतिरिक्त अन्य प्रयोजन के लिए हुआ उसे कर्मकार की परिभाषा में सम्मिलित नहीं किया जा सकता। यहाँ दो बातें स्पष्ट करना आवश्यक है— पहली बात यह है कि नियोजित व्यक्ति कर्मकार है— यह सिद्ध करने का दायित्व नियोजक पर है। दूसरी आवश्यक बात यह है कि नियोजित व्यक्ति को कर्मकार की परिभाषा से बाहर रखने के लिए बातें सिद्ध करनी होंगी—(1) कर्मकार की नियुक्ति की प्रकृति आकस्मिक प्रकार की थी; (2) उसे नियोजक के व्यवसाय अथवा कारबार के प्रयोजन के अतिरिक्त किसी अन्य प्रयोजन के लिए नियुक्ति किया गया था।

टी०एन० सीताराम रेड्डियर बनाम ए. अय्यास्वामी गोण्डर ए.आई.आर. 1956 मद्रास 212 के विनिश्चय में मद्रास उच्च न्यायालय ने यह अवधारणा अभिव्यक्त की है कि आकस्मिक रोजगार वह रोजगार है जो संयोगवश परिस्थितियों के कारण आवश्यक हो जाता है। इस अभिव्यक्ति का प्रयोग 'स्थायी या निरंतर' रोजगार के विपरीत नहीं किया जाता है। "एजेंट की ओर से बिना किसी योजना के, या महज संयोग के रूप में घटित होना अनिश्चित समय पर या बिना नियमितता के घटित होना किसी मजदूर या कारीगर का केवल अनियमित रूप से नियोजित होना"

मदन मोहन वर्मा बनाम मोहन लाल (1983) 11 एल.एल.जे. 322 इलाहाबाद मोहन लाल ने कर्मचारी प्रतिकर अधिनियम, 1923 की धारा 3 के अंतर्गत एक आवेदन दायर किया, जिसमें प्रतिवादी मदन मोहन वर्मा से निम्नलिखित आरोपों के आधार पर प्रतिपूर्ति का दावा किया गया। मोहन लाल को मदन मोहन वर्मा ने रु. 15/- की दैनिक मजदूरी पर कपास ओटने की मशीन और चॉफ कटिंग मशीन लगाने के लिए मैकेनिक कर्मचारी के रूप में

नियुक्त किया था। 8 अक्टूबर, 1973 को जब मोहन लाल चॉफ कटिंग मशीन का ट्रायल ले रहा था, उसका दाहिना हाथ मशीन के गियर रोलर के दांतों में फंस गया और उसके दाहिने हाथ की सभी उंगलियां और अंगूठा कट गया, जिसके परिणामस्वरूप वह स्थायी रूप से पूर्ण विकलांगता का शिकार हो गया, जिससे उसके भविष्य की कमाई करने की क्षमता भी प्रभावित हुई। उसने अपने नियोक्ता मदन मोहन वर्मा से मुआवजे का दावा किया, लेकिन बाद वाले ने कोई भी मुआवजा देने से इनकार कर दिया। इस पर मोहन लाल ने कर्मचारी प्रतिकर अधिनियम की धारा 3 के अंतर्गत आवेदन दायर किया उनका मामला यह था कि मोहन लाल को अपने द्वारा स्थापित मशीन में अपने चारे को टुकड़ों में काटने की प्रक्रिया के दौरान चोटें आई थीं। परिस्थितियों के अनुसार, नियोक्ता को मुआवजा देने के लिए उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता था। इसके अलावा, चोटें मोहन लाल की लापरवाही के कारण आई थीं। इस बात से भी इनकार किया गया कि मोहन लाल एक कामगार था।

महमूद बनाम बलवन्त सिंह (1980) (इलाहाबाद) के विनिश्चय में इलाहाबाद उच्च न्यायालय ने यह अवधारित किया है कि गेहूँ मॉड़ने के लिये किये गये व्यक्ति के स्थायी आंशिक निर्योग्यता का दावा प्रस्तुत किया जा सकता है। किसी व्यक्ति को कर्मकार की श्रेणी में सम्मिलित किया जा सकेगा, यदि उसका नियोजन किसी व्यवसाय या कारबार में किया गया है चाहे नियोजन की प्रकृति आकस्मिक ही क्यों न हो।

प्रश्न न० 2— भारतीय मातृत्व लाभ अधिनियम, 1961 की मुख्य विशेषताओं की विवेचना कीजिए।

उत्तर— मातृत्व लाभ अधिनियम, 1961 एक ऐसा कानून है जो मातृत्व के समय महिलाओं के रोजगार की रक्षा करता है। यह महिला कर्मचारियों को 'मातृत्व लाभ' का अधिकार देता है, जिसमें काम से अनुपस्थिति के दौरान और अपने बच्चे की देखभाल के लिए पूरी तरह से भुगतान किया गया वेतन शामिल है। यह अधिनियम 10 या उससे अधिक कर्मचारियों को नियुक्त करने वाले प्रतिष्ठानों पर लागू होता है। मातृत्व लाभ अधिनियम, 1961 को मातृत्व (संशोधन) विधेयक 2017 के माध्यम से संशोधित किया गया है, जिसे 09 मार्च, 2017 को लोकसभा में पारित किया गया था। इसके बाद, उक्त विधेयक को 11 अगस्त, 2016 को राज्यसभा में पारित किया गया था। इसके अलावा, इसे 27 मार्च, 2017 को भारत के राष्ट्रपति से स्वीकृति प्राप्त हुई। मातृत्व लाभ (संशोधन) अधिनियम, 2017 ('संशोधन अधिनियम') के प्रावधान 1 अप्रैल, 2017 को प्रभावी हुए और क्रेच सुविधा (धारा 111 ए) के संबंध में प्रावधान 1 जुलाई, 2017 से प्रभावी हुए।

मातृत्व लाभ अधिनियम, 1961 का अवलोकन

देश की स्वतंत्रता के बाद 12 दिसंबर, 1961 को भारत संघ द्वारा मातृत्व लाभ अधिनियम 1961 पारित किया गया था। इस कानून में गर्भावस्था, प्रसव और उनसे संबंधित जटिलताओं के लिए सशर्त लाभ शामिल थे, जो तत्कालीन अंतरराष्ट्रीय मानकों के अनुरूप थे। इस अधिनियम ने बहुत से क्षेत्रों को सावधानीपूर्वक सटीकता के साथ कवर किया और मातृत्व लाभों को प्रभावित करने वाले विचारों के कई आयामों पर ध्यान दिया गया, इस तथ्य के बावजूद कि भारत अभी भी एक विकासशील राष्ट्र था और अपनी स्वतंत्रता के 14वें वर्ष में था। मातृत्व लाभ अधिनियम, 1961 भारत में मातृत्व लाभों को नियंत्रित करता है। दस (10) या अधिक कर्मचारियों वाला प्रत्येक संगठन अधिनियम के अधीन है। अधिनियम के अनुसार, मातृत्व लाभ किसी भी महिला को उपलब्ध है जिसने कम से कम अस्सी (80) दिनों तक किसी संगठन के लिए काम किया हो। मातृत्व लाभ अधिनियम, 1961 का उद्देश्य कामकाजी महिला को सम्मानजनक तरीके से सभी सुविधाएं प्रदान करना है, ताकि वह मातृत्व की स्थिति को सम्मानपूर्वक, शांतिपूर्वक, पूर्व या प्रसवोत्तर अवधि के दौरान जबर्न अनुपस्थिति के लिए पीड़ित होने के डर से विचलित हुए बिना पार कर सके, जैसा कि सुप्रीम कोर्ट ने नगर निगम ऑफ दिल्ली बनाम महिला श्रमिक (मस्टर रोल) (2000) के मामले में देखा था। मातृत्व लाभ अधिनियम 1961 के अनुसार, यदि प्रसव पूर्व प्रसव और कोई भुगतान प्रसवोत्तर देखभाल नहीं है, तो नियोक्ता को लाभार्थी को 1,000 रुपये तक का मेडिकल बोनस देना चाहिए। केंद्र सरकार ने मेडिकल बोनस को बढ़ाकर 25,000 रुपये कर दिया है। यदि महिला को गर्भपात या गर्भावस्था से संबंधित किसी अन्य जटिलता का अनुभव होता है, तो वह भुगतान वाली छुट्टी की हकदार है। काम पर वापस लौटने के बाद, माँ को छुट्टी की पात्रता होती है और उसे बच्चे को 15 महीने की उम्र तक दूध पिलाने के लिए दो बार छुट्टी दी जाती है। पचास या उससे अधिक महिला कर्मचारियों वाली हर फर्म में सुविधाजनक स्थानों पर "क्रेच की सुविधा" उपलब्ध कराना भी अनिवार्य किया गया है। महिलाओं को उनके ट्यूबेक्टोमी ऑपरेशन के लिए दिए गए प्रमाण के आधार पर वेतन के साथ छुट्टी लेने की अनुमति होगी। अधिनियम के अनुसार, नियोक्ता द्वारा गर्भवती महिला को उसके अनुपस्थित रहने के दौरान या गर्भावस्था के कारण नौकरी से निकालना या बर्खास्त करना, या उस दिन बर्खास्तगी का नोटिस देना, जब नोटिस की अवधि समाप्त हो जाएगी, जबकि वह अनुपस्थित है, या उसके रोजगार की शर्तों में से किसी को भी अपने नुकसान के लिए बदलना कानून के विरुद्ध है। कानून के अनुसार, गर्भवती महिलाओं को आवंटित हल्का काम और बच्चे को दूध पिलाने के लिए अवकाश वेतन कटौती का आधार नहीं है।

यह कानून सभी व्यवसायों पर लागू होता है, जिसमें सरकार से जुड़े व्यवसाय और वे व्यवसाय शामिल हैं जो कारखानों, खदानों और बागानों में प्रदर्शन के लिए घुड़सवारी, कलाबाजी और अन्य करतब दिखाने के लिए लोगों को नियुक्त करते हैं। इसके अतिरिक्त, यह दस या उससे अधिक कर्मचारियों वाले किसी भी स्टोर या व्यवसाय पर लागू होता है। औद्योगिक, कृषि और वाणिज्यिक प्रतिष्ठानों के लिए प्रावधानों को शामिल करने से यह अधिनियम 1928 के अल्पविकसित अधिनियम की तुलना में एक महत्वपूर्ण सुधार के रूप में चिह्नित हुआ। अधिनियम निम्नलिखित धाराओं में सभी मातृत्व लाभों को कवर करता है—

धारा 4: कुछ निश्चित अवधियों के दौरान महिलाओं का रोजगार या काम करना प्रतिबंधित है।

धारा 5: मातृत्व लाभ के भुगतान का अधिकार।

धारा 7: महिला की मृत्यु की स्थिति में मातृत्व लाभ का भुगतान।

धारा 8: चिकित्सा बोनस का भुगतान।

धारा 9: गर्भपात आदि के लिए छुट्टी।

धारा 10: गर्भावस्था, प्रसव, बच्चे का समय से पहले जन्म, गर्भपात, गर्भावस्था की चिकित्सा समाप्ति या नसबंदी ऑपरेशन से उत्पन्न बीमारी के लिए छुट्टी।

धारा 11: नर्सिंग ब्रेक।

धारा 12: गर्भावस्था की अनुपस्थिति के दौरान बर्खास्तगी।

धारा 13: कुछ मामलों में मजदूरी की कटौती नहीं की जाएगी।

धारा 18: मातृत्व लाभ की जब्ती।

महिलाओं को अधिक समावेशी मातृत्व लाभ देने के लिए भारत सरकार द्वारा 2017 में अधिनियम में संशोधन किया गया था। अन्य संशोधनों के अलावा, अधिनियम में एक नया खंड, धारा 5(5) जोड़ा गया, जिसके तहत मातृत्व अवकाश का अनुरोध करने वाली महिलाओं को घर से काम करने का लाभ मिल सकता है। अधिनियम की धारा 5(5) के अनुसार, नियोक्ता नर्सिंग माताओं को घर से काम करने के लिए अधिकृत कर सकता है, यदि उन्हें दिए गए काम की प्रकृति इसकी अनुमति देती है, पारस्परिक रूप से सहमत शर्तों के तहत।

मातृत्व लाभ अधिनियम, 1961 की विशेषताएं

छुट्टी की अवधि— अधिनियम के अनुसार एक महिला को बारह सप्ताह का मातृत्व अवकाश मिलता है, जिसमें से अधिकतम छह सप्ताह प्रसव की तिथि से पहले हो सकते हैं। उस समय प्ले के दिशा-निर्देशों में इस बात को ध्यान में रखा गया था।

नौकरी की सुरक्षा— 1961 के अधिनियम के दिशा-निर्देशों के अनुसार, नियोक्ता द्वारा किसी महिला को उसकी अनुपस्थिति के दौरान या उसके कारण किसी भी समय नौकरी से निकालना या जाने देना गैरकानूनी माना गया है। हालाँकि, अगर बर्खास्तगी या बर्खास्तगी गंभीर गलत कामों का नतीजा है, तो नियोक्ता कर्मचारी को लिखित रूप से सूचित कर सकता है।

छुट्टी के दौरान पारिश्रमिक— जो महिलाएं कानून में उल्लिखित मातृत्व अवकाश की आवश्यकताओं को पूरा करती हैं, वे उस समय के लिए औसत दैनिक वेतन की दर से मातृत्व लाभ पाने की हकदार हैं, जब वे वास्तव में काम से अनुपस्थित रहती हैं।

वित्तीय लाभ— इस कानून के अनुसार, हर महिला मातृत्व लाभ पाने की हकदार है और नियोक्ता से मेडिकल बोनस पाने का विकल्प भी है, अगर नियोक्ता द्वारा कर्मचारी को बिना किसी खर्च के प्रसवपूर्व या प्रसवोत्तर देखभाल प्रदान नहीं की जाती है। नियोक्ता महिला की मृत्यु की स्थिति में उसके नामिती या कानूनी प्रतिनिधि को मातृत्व लाभ सहित सभी ऋणों का भुगतान करने के लिए जिम्मेदार है।

मातृत्व लाभ अधिनियम 1961 के अंतर्गत कवर किए गए लाभ

अधिनियम के अनुसार कर्मचारी को प्रसव, गर्भपात या गर्भावस्था की चिकित्सा समाप्ति के दिन से तुरंत बाद छह सप्ताह तक किसी भी स्थान पर किसी भी ज्ञात महिला को काम पर रखने से बचना चाहिए। प्रसव या गर्भपात के दिन से तुरंत बाद छह सप्ताह के दौरान, कोई भी महिला किसी भी कंपनी में काम नहीं करेगी। नियोक्ता ऐसी महिलाओं से तब तक कोई काम नहीं करवाएगा जब तक कि नियोजित महिला द्वारा ऐसा करने के लिए अनुरोध न किया जाए।

(1) जो उसकी गर्भावस्था या भ्रूण के सामान्य विकास पर नकारात्मक प्रभाव डालता है,

(2) ऐसा कोई भी कार्य जिससे उसका गर्भपात हो सकता हो या उसके स्वास्थ्य पर नकारात्मक प्रभाव पड़ सकता हो।

प्रत्येक महिला को मातृत्व लाभ पाने का अधिकार है, और उसके नियोक्ता की जिम्मेदारी है कि वह उसे उस समय के लिए औसत दैनिक आय के बराबर भुगतान करे, जब वह वास्तव में काम से दूर थी, अर्थात्—

(1) उसके प्रसव के दिन तक का समय।

(2) जिस दिन उसने बच्चे को जन्म दिया और उसके तुरंत बाद की अवधि के लिए।

भौतिक लाभ में संशोधन की मुख्य विशेषताएं

मातृत्व लाभ (संशोधन) विधेयक, 2017 को 11 अगस्त, 2016 को राज्य सभा और लोकसभा द्वारा अनुमोदित किया गया था, और भारत के राष्ट्रपति ने 27 मार्च, 2017 को अपनी स्वीकृति दी थी। मातृत्व लाभ (संशोधन) अधिनियम 2017 के प्रावधान भारत में 1 अप्रैल, 2017 को लागू हुए। हालाँकि, चाइल्डकैअर सुविधा (धारा 11) से संबंधित खंड 1 जुलाई, 2017 को लागू हुए। परिवर्तन के बाद भी अधिनियम अपने मूल सिद्धांतों का पालन करता है, लेकिन बेहतर लाभ प्रदान करता है और बेहतर बाल देखभाल को बढ़ावा देता है। हमारी जाँच के अनुसार, इस कानून के चार स्तरों में निम्नलिखित परिवर्तन हुए हैं—

छुट्टी की अवधि— संशोधन में 26 सप्ताह का मातृत्व अवकाश प्रदान किया गया है, जो अनुमानित नियत तिथि से 8 सप्ताह पहले से अधिक नहीं होना चाहिए, जब तक कि उनके दो या अधिक जीवित बच्चे न हों। पिछले अधिनियम के बाद से मातृत्व अवकाश की कुल अवधि में 117 की वृद्धि हुई है। इसके अतिरिक्त, यह ILO के 18 सप्ताह या उससे अधिक के सुझाव का अनुपालन करता है। यह संशोधन माताओं को आत्म-चिकित्सा के लिए पर्याप्त समय प्रदान करने और बाल देखभाल में सुधार करने के लिए पारित किया गया था, जिससे शिशु मृत्यु दर में कमी आएगी। गोद लेना इस नियम का अपवाद है। एक कमीशनिंग माँ या एक महिला जो तीन महीने से कम उम्र के बच्चे को गोद लेती है, वह बारह सप्ताह के मातृत्व अवकाश के लिए पात्र है।

नौकरी की सुरक्षा— मूल अधिनियम का निष्कासन और बर्खास्तगी खंड अपरिवर्तित रहेगा।

वित्तीय लाभ— कोई भी तत्काल वित्तीय लाभ व्यवहार में नहीं लाया गया है। हालाँकि, संशोधन में यह प्रावधान है कि एक महिला को घर से काम करने का अधिकार है, बशर्ते कि उसका नियोक्ता और वह दोनों इस पर परस्पर सहमत हों। 50 या उससे अधिक कर्मचारियों वाले प्रत्येक व्यवसाय में स्वतंत्र रूप से या सामान्य क्षेत्रों के हिस्से के रूप में एक क्रेच सुविधा शामिल होनी चाहिए। यह एक और लाभ है। नियोक्ता महिला को चाइल्डकेयर प्रदाता के पास चार बार जाने की अनुमति देगा। सबसे महत्वपूर्ण संशोधन मातृत्व अवकाश को 12 से बढ़ाकर 26 सप्ताह करना है। डब्ल्यूएचओ के अनुसार, मृत्यु जोखिम को कम करने के लिए जन्म के बाद बच्चे को 24 सप्ताह तक स्तनपान कराया जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त, अपर्याप्त मातृत्व अवकाश के परिणामस्वरूप नौकरी छोड़ने वाली महिलाओं की संख्या को कम करना चाहिए। इसके अतिरिक्त, लंबी छुट्टी अवधि मातृत्व लाभ सम्मेलन के सुझाव (सं. 183) के अनुसार है। कमीशनिंग और गोद लेने वाली महिलाओं के लिए मातृत्व अवकाश को जोड़ना एक महत्वपूर्ण कदम है जो उन्हें अपने और अपने बच्चों की देखभाल करने के साथ-साथ अपने पितृत्व का सम्मान करने की अनुमति देता है। इन परिवर्तनों के कारण, भारत अब महिलाओं को उपलब्ध मातृत्व लाभों की संख्या के मामले में कनाडा और नॉर्वे के बाद तीसरे स्थान पर है।

मातृत्व लाभ (संशोधन) अधिनियम, 2017 का रोजगार पर प्रभाव मातृत्व लाभ (संशोधन) अधिनियम, 2017 के रोजगारपरकता पर प्रभाव नीचे सूचीबद्ध किए गए हैं—

- (1) निजी कंपनियों में कई नियोक्ता ऐसी महिलाओं को काम पर रखने से परहेज कर सकते हैं जो गर्भवती होने वाली हों, क्योंकि उन्हें उस समय (26 सप्ताह तक) के लिए मातृत्व अवकाश और मुआवजा देना आवश्यक है। संशोधन के बाद से, कई फर्म महिलाओं को काम पर रखने को एक कठिनाई के रूप में देखते हैं। नियोक्ता का आवंटित समय के दौरान सभी वेतन का पूरा भुगतान करने का विशेष दायित्व नियोक्ताओं के लिए उत्पादन लागत बढ़ाता है।
- (2) उत्पादन लागत में वृद्धि इसलिए होती है क्योंकि नियोक्ता का आवंटित समय के दौरान सभी मजदूरी का पूरा भुगतान करने का अनन्य दायित्व होता है, जिससे नियोक्ता की लागत बढ़ जाती है।
- (3) इस प्रावधान से नियोक्ताओं को उनकी वित्तीय स्थिरता के बारे में चिंता होती है, जिसके कारण वे महिलाओं की अपेक्षा पुरुषों को नौकरी पर रखने के प्रति अधिक इच्छुक हो सकते हैं।
- (4) विस्तारित मातृत्व अवकाश के कारण होने वाला घाटा, जो उन व्यवसायों के लिए लाभकारी है जो सामान्यतः महिला कर्मचारियों को नियुक्त करते हैं।
- (5) इससे महिला कर्मचारियों के लिए रोजगार की संभावनाएं कम हो जाती हैं, क्योंकि कंपनियां या तो उन्हें काम पर रखने में अनिच्छुक होती हैं या फिर आगे की देनदारी से बचने के लिए उन्हें बच्चे के जन्म से ठीक पहले नौकरी छोड़ने के लिए कह देती हैं।

प्रयोज्यता

मातृत्व लाभ अधिनियम, 1961 ('अधिनियम') की धारा 3 (ई) के साथ धारा 2 को पढ़ने पर, यह सुरक्षित रूप से निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि अधिनियम कारखानों, (फ़ारखाना जैसा कि कारखाना अधिनियम, 1948 में परिभाषित किया गया है), खानों ('खान' जैसा कि खान अधिनियम, 1952 में परिभाषित किया गया है) और बागानों ('बागान' का अर्थ बागान श्रम अधिनियम, 1951 में परिभाषित बागान है) जैसे प्रतिष्ठानों पर लागू होता है।

मातृत्व लाभ अधिनियम सरकारी प्रतिष्ठानों और उन प्रतिष्ठानों पर भी लागू होता है, जिनमें धारा 2(बी) के अनुसार घुड़सवारी, कलाबाजी और अन्य प्रदर्शन के प्रदर्शन के लिए व्यक्तियों को नियुक्त किया जाता है। उक्त अधिनियम कानून के तहत परिभाषित प्रत्येक दुकान या प्रतिष्ठान पर भी लागू होता है, जिसमें पिछले बारह महीनों के दौरान एक दिन में दस या अधिक व्यक्ति कार्यरत हैं और जो किसी विशेष राज्य में दुकानों और प्रतिष्ठानों के संबंध में लागू होता है।

इस प्रकार, उपरोक्त को ध्यान में रखते हुए, दिल्ली में यह अधिनियम सभी "प्रतिष्ठानों" और "वाणिज्यिक प्रतिष्ठानों" पर लागू होता है, जो दिल्ली दुकानों और प्रतिष्ठान अधिनियम, 1954 की धारा 2(9) और 2(5) के दायरे में आते हैं।

इसके अलावा, मातृत्व लाभ अधिनियम की धारा 2 के प्रावधान के अनुसार, राज्य सरकार, केन्द्र सरकार से अनुमोदन प्राप्त करने के अधीन, यह घोषित कर सकती है कि अधिनियम के प्रावधान किसी अन्य प्रतिष्ठान या प्रतिष्ठानों के वर्ग पर लागू होंगे जो औद्योगिक, वाणिज्यिक या कृषि गतिविधियां या अन्यथा कोई अन्य गतिविधि कर रहे हैं। यह ध्यान देने योग्य है कि इस अधिनियम में निहित प्रावधान, धारा 5ए और 5बी में अन्यथा दिए गए

प्रावधानों को छोड़कर, किसी भी कारखाने या अन्य प्रतिष्ठानों पर लागू नहीं होंगे, जो अधिनियम की धारा 2(2) के अनुसार कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम, 1948 के प्रावधानों के अंतर्गत आते हैं। इसके अलावा, अधिनियम की धारा 26 के अनुसार, उपयुक्त सरकार के पास धारा 26 में निर्धारित शर्तों के अधीन, अधिसूचना के माध्यम से किसी प्रतिष्ठान को अधिनियम के दायरे से छूट देने की शक्ति है।

मातृत्व लाभ प्रदान करने की अवधि— मातृत्व लाभ (संशोधन) अधिनियम 2017 द्वारा संशोधित धारा 5 (3) के अनुसार, एक महिला को मातृत्व लाभ मिलने का अधिकतम समय छब्बीस सप्ताह है, जिसमें उसके अनुमानित प्रसव की नियत तारीख से पहले के आठ सप्ताह शामिल नहीं हैं। इसके अलावा, इस घटना में कि इस समय के भीतर किसी महिला की मृत्यु हो जाती है, मातृत्व लाभ का भुगतान केवल उसकी मृत्यु के दिन से पहले के दिनों के लिए किया जाएगा। धारा 5 की उपधारा (4) के अनुसार, एक महिला जो कानूनी रूप से तीन महीने से कम उम्र के बच्चे को गोद लेती है या एक माँ जो गोद लेने का आदेश देती है, वह उस दिन से शुरू होने वाले बारह सप्ताह की अवधि के लिए मातृत्व लाभ के लिए पात्र होगी, जिस दिन बच्चा गोद लेने वाली माँ या कमीशन देने वाली माँ को दिया जाता है, जैसा भी लागू हो। धारा 5 की उपधारा (5) के अनुसार, यदि किसी महिला की नौकरी के लिए उसे घर से काम करने की आवश्यकता होती है।

मातृत्व लाभ का दावा करने की शर्तें— वह मातृत्व लाभ प्राप्त करने के लिए तभी पात्र होती है जब कोई महिला वास्तव में उस नियोक्ता के लिए काम करती है जिससे वह मातृत्व लाभ का दावा करती है, अपने अनुमानित प्रसव की तारीख से ठीक पहले के बारह महीनों में कम से कम अस्सी दिनों की अवधि के लिए।

मातृत्व लाभ का दावा करने के तरीके— मातृत्व लाभ के अधिकार का प्रयोग करने की इच्छा रखने वाली किसी भी महिला को अपने नियोक्ता को उस तरीके से और उस फॉर्म पर नोटिस प्रस्तुत करना होगा जो उस व्यवसाय द्वारा अपेक्षित है जिसमें वह कार्यरत है ताकि वह 1961 अधिनियम द्वारा प्रदान किए गए मातृत्व लाभ का दावा करने के योग्य हो सके। इस जानकारी को नोटिस में शामिल किया जाना चाहिए—

- (1) मातृत्व लाभ और कोई भी अतिरिक्त निधि जिसकी वह इस अधिनियम के अनुसार हकदार हो सकती है।
- (2) उस व्यक्ति का नाम जिसे ऐसे भुगतान प्राप्त होने चाहिए।
- (3) एक बयान में कहा गया है कि वह मातृत्व लाभ प्राप्त करते समय कंपनी में काम नहीं करेंगी।
- (4) वह दिन जब आधिकारिक तौर पर उनकी काम से अनुपस्थिति शुरू हुई।

महिला द्वारा अपनी गर्भावस्था को प्रमाणित करने वाले दस्तावेज प्रस्तुत करने के बाद, नियोक्ता को महिला को मातृत्व लाभ का अग्रिम भुगतान करना आवश्यक होता है।

यदि मातृत्व अवकाश की अवधि के दौरान महिला की मृत्यु हो जाती है तो क्या होगा?

मातृत्व लाभ जो किसी महिला पर लागू होता है, वह केवल उसकी मृत्यु की तिथि तक ही रहता है, यदि वह मातृत्व अवकाश की उपर्युक्त अवधि के भीतर मर जाती है। यदि माँ बच्चे को जन्म देने के तुरंत बाद मर जाती है, जिसके परिणामस्वरूप बच्चा जीवित रहता है, तो उसे पूरा मातृत्व लाभ देय होगा। यदि बच्चे की मृत्यु हो जाती है, जबकि माँ अभी भी इसके लिए पात्र है, तो नियोक्ता को बच्चे की मृत्यु की तिथि तक प्रभावी मातृत्व लाभ का भुगतान करना आवश्यक है। जब एक महिला की मृत्यु हो जाती है, तो ये भुगतान उस व्यक्ति को किया जाना चाहिए जिसे उसने अधिनियम की धारा 6 (1) के तहत दी गई अधिसूचना में निर्दिष्ट किया था, या यदि उसने किसी को नामित नहीं किया है, तो उसके कानूनी प्रतिनिधि को।

मातृत्व लाभ अधिनियम 1961 के अंतर्गत शिकायत दर्ज करना— यदि किसी महिला को मातृत्व लाभ या चिकित्सा लाभ से वंचित किया जाता है, उसे नौकरी से निकाल दिया जाता है, या मातृत्व अवकाश पर रहते हुए उसे निकाल दिया जाता है, तो उसके पास निर्णय के विरुद्ध अपील करने के लिए साठ दिन होते हैं। वह मातृत्व लाभ अधिनियम, 1961 द्वारा नामित निरीक्षक से संपर्क करके ऐसा कर सकती है। यदि वह निरीक्षक के अनुरोधों से असहमत होती है, तो उसके पास सुझाए गए विशेषज्ञ को प्रति-प्रस्ताव देने के लिए तीस दिन होते हैं। यदि वह निरीक्षक के अनुरोधों से असहमत होती है या यदि कोई अधिक महत्वपूर्ण कानूनी मुद्दा उठाया जाता है, तो वह एक वर्ष के भीतर मुकदमा भी दायर कर सकती है।

प्रश्न न० 3— मजदूरी क्या है? मजदूरी के विभिन्न प्रकारों का वर्णन कीजिए।

उत्तर— न्यूनतम मजदूरी अधिनियम, 1948 की धारा 2(एच) के अनुसार मजदूरी शब्द का अर्थ धन के रूप में व्यक्त किया जा सकने वाला समस्त पारिश्रमिक है जो यदि रोजगार अनुबंध की व्यक्त या निहित शर्तों को पूरा किया गया हो तो किसी व्यक्ति को उसके रोजगार के संबंध में या ऐसे रोजगार में किए गए कार्य के लिए देय होगा और इसमें मकान किराया भत्ता शामिल है लेकिन इसमें शामिल नहीं है—

- (1) का मूल्य —
- (2) किसी भी घर की रहने की जगह, प्रकाश पानी की आपूर्ति, चिकित्सा देखभाल या
- (3) किसी अन्य सुविधा या किसी सेवा को उपयुक्त सरकार के सामान्य या विशेष आदेश द्वारा बहिष्कृत किया गया;—
- (4) नियोक्ता द्वारा किसी व्यक्ति निधि या भविष्य निधि या सामाजिक बीमा की किसी योजना के अंतर्गत दिया गया कोई अंशदान;
- (5) कोई यात्रा भत्ता या किसी यात्रा रियायत का मूल्य;

(6) नियोजित व्यक्ति को उसके रोजगार की प्रकृति के कारण उस पर पड़ने वाले विशेष व्ययों को पूरा करने के लिए दी गई कोई राशि या

(7) सेवामुक्ति पर देय कोई उपदान;

मजदूरी के प्रकार— वर्तमान में मजदूरी के सम्बन्ध में निम्न चार अवधारणाएँ प्रचलित हैं—

(1) न्यूनतम मजदूरी— न्यूनतम मजदूरी अधिनियम, 1948 के तहत, वर्गीकरण कृषि और गैर-कृषि कार्य पर आधारित था। हालाँकि, मजदूरी संहिता के तहत, कौशल स्तर के आधार पर वर्गीकरण किया गया है, और रोजगार को अत्यधिक कुशल, अर्ध-कुशल और अकुशल में विभाजित किया गया है। कुछ रोजगारों में नियोक्ता द्वारा कर्मचारियों को भुगतान की जाने वाली न्यूनतम मजदूरी को निर्धारित और संशोधित करना। जनता के हित में सभी कर्मचारियों के लिए पर्याप्त न्यूनतम वेतन निर्धारित करना। रोजगार के प्रकार के अनुसार किसी कर्मचारी के दैनिक कार्य घंटे तय करना। श्रमिकों का शोषण रोकने के लिए। मजदूरी का भुगतान न किए जाने या कम भुगतान से संबंधित किसी भी मुद्दे को हल करना। निरीक्षकों की शक्तियों और कर्तव्यों को स्थापित करना और प्रदान करना। श्रम आयुक्तों और अन्य महत्वपूर्ण श्रम अधिकारियों की शक्तियों और कर्तव्यों को स्थापित करना और प्रदान करना। उपयुक्त सरकार को नियम बनाने की शक्तियाँ प्रदान करना। अधिनियम की धारा 2(डी) जीवन-यापन सूचकांक संख्या को एक सूचकांक संख्या के रूप में परिभाषित करती है, जिसे कर्मचारियों के संबंध में आधिकारिक राजपत्र में उपयुक्त सरकार द्वारा निर्धारित किया जाता है। अधिनियम के तहत, उपयुक्त सरकार अनुसूचित रोजगार का निर्धारण करती है, जिसके संबंध में वह नियोक्ता द्वारा कर्मचारियों को भुगतान की जाने वाली न्यूनतम मजदूरी को अधिसूचित करती है। न्यूनतम मजदूरी जीवन-यापन सूचकांक संख्या के आधार पर निर्धारित की जाती है। जीवन-यापन सूचकांक संख्या लगातार बदलते जीवन स्तर की लागत को दर्शाती है। अधिनियम की धारा 2(एच) मजदूरी की एक समावेशी परिभाषा प्रदान करती है, जिसमें वह सभी पारिश्रमिक शामिल हैं जिन्हें पैसे के रूप में व्यक्त किया जा सकता है जो नियोक्ता रोजगार के दौरान कर्मचारी को देता है। इसमें मकान किराया भत्ता भी शामिल है। हालाँकि, इसमें कोई आवास, बिजली, पानी की आपूर्ति, चिकित्सा सेवा या कोई अन्य सुविधा शामिल नहीं है जिसे उपयुक्त सरकार उचित समझे पेंशन फंड या भविष्य निधि में नियोक्ता का कोई योगदान या भत्ता भुगतान किया गया विशेष व्यय और कर्मचारी की सेवामुक्ति पर देय कोई ग्रेच्युटी। अधिनियम की धारा 2(i) के अनुसार कर्मचारी वह व्यक्ति है जो किसी कुशल या अकुशल, मैनुअल या लिपिकीय कार्य को करने के लिए नियुक्त किया जाता है, जिसके लिए न्यूनतम मजदूरी दरें तय की गई हैं। यह अधिनियम के तहत एक महत्वपूर्ण परिभाषा है क्योंकि यह इसके आवेदन के दायरे को परिभाषित करती है। सभी नियोक्ता-कर्मचारी संबंध न्यूनतम मजदूरी अधिनियम द्वारा शासित नहीं होते हैं। इसके अलावा, सभी प्रकार के कर्मचारी उचित सरकार द्वारा निर्धारित न्यूनतम मजदूरी के लाभों का दावा करने के दायरे में नहीं आते हैं।

वर्कमैन रिप्रेजेंटेटिव बाय सेक्रेटरी बनाम रेप्टाकोस ब्रेट एंड कंपनी लिमिटेड एंड अन्य (1992) में, माननीय सर्वोच्च न्यायालय ने 1957 के भारतीय श्रम सम्मेलन की त्रिपक्षीय समिति को ध्यान में रखा। समिति की रिपोर्ट में कहा गया है कि न्यूनतम मजदूरी नीति की संरचना निर्वाह स्तर से अधिक कुछ नहीं होनी चाहिए।

दिल्ली नगर निगम बनाम गणेश रजक (1995) मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने माना कि अधिनियम के तहत न्यूनतम मजदूरी की पात्रता, श्रमिक का विद्यमान अधिकार है और इसके लिए श्रम न्यायालय के अलावा किसी अन्य निर्णय की आवश्यकता नहीं है।

एनएम वाडिया चौरिटेबल अस्पताल एवं अन्य बनाम महाराष्ट्र राज्य एवं अन्य (1986) इस मामले में, महाराष्ट्र राज्य ने अस्पताल कर्मचारियों को देय न्यूनतम वेतन में संशोधन के मामले पर सलाह देने के लिए एक समिति नियुक्त की। हालाँकि, सरकार ने अपनी रिपोर्ट में समिति द्वारा अनुशंसित वेतन दरों को नहीं अपनाया, बल्कि न्यूनतम वेतन की उच्च दर को अपनाया। याचिकाकर्ताओं ने इस आधार पर अधिसूचना को चुनौती दी कि सरकार ने इस पर कोई विचार नहीं किया।

न्यायालय ने माना कि विभिन्न इलाकों के लिए न्यूनतम मजदूरी की अलग-अलग दरें तय करना अधिनियम के तहत स्वीकार्य है और यह संविधान के किसी भी प्रावधान का उल्लंघन नहीं करता है।

भिक्षुसा यमसा क्षत्रिय बनाम संगमनेर अकोला तालुका बीडी कामगार यूनियन (1958) इस मामले में, न्यूनतम मजदूरी अधिनियम, 1948 की वैधता को माननीय बॉम्बे उच्च न्यायालय के समक्ष फिर से चुनौती दी गई। बॉम्बे राज्य के कुछ जिलों में मजदूरी की न्यूनतम दरों की प्रयोज्यता पर अधिनियम की धारा 20 के तहत विभिन्न दावे थे। अन्य बातों के अलावा, नियोक्ताओं ने इस आधार पर अधिनियम की वैधता को चुनौती दी कि यह संविधान के अनुच्छेद 14 और अनुच्छेद 19(1)(जी) का उल्लंघन करता है और बॉम्बे राज्य ने मजदूरी की न्यूनतम दरें निर्धारित करने के लिए अपेक्षित प्रक्रिया का पालन नहीं किया है।

नियोक्ताओं की दलीलों को खारिज करते हुए न्यायालय ने माना कि याचिकाकर्ता यह साबित करने में विफल रहे कि न्यूनतम मजदूरी का निर्धारण और संशोधन करते समय बॉम्बे राज्य द्वारा अपेक्षित प्रक्रिया का पालन नहीं किया गया था और अधिनियम के प्रावधान संविधान के अनुच्छेद 14 या अनुच्छेद 19(1)(जी) का उल्लंघन करते हैं।

(2) उचित मजदूरी— उचित मजदूरी का मतलब है जो न्यूनतम मजदूरी से कुछ ज्यादा है। यह न्यूनतम मजदूरी और जीवनयापन मजदूरी के बीच का मतलब है। इसलिए, उचित मजदूरी की निचली सीमा निश्चित रूप से न्यूनतम मजदूरी होनी चाहिए जबकि ऊपरी सीमा उचित मजदूरी है जो उद्योग की भुगतान करने की क्षमता है और निश्चित

रूप से अन्य व्यवसायों या ट्रेडों में समान कार्य के औसत भुगतान के साथ तुलना की जाती है जिसके लिए समान क्षमता की आवश्यकता होती है। मूल रूप से, यह आर्थिक स्थिति और इसकी भविष्य की संभावनाएं हैं जिन पर उचित मजदूरी निर्भर करती है। इसके अलावा, कुछ कारक हैं जैसे न्यूनतम मजदूरी, उद्योग की भुगतान करने की क्षमता, राष्ट्रीय आय का स्तर और उसका वितरण, श्रम की उत्पादकता, देश की अर्थव्यवस्था में उद्योग का स्थान और समान या पड़ोसी इलाकों में समान या समान व्यवसायों में प्रचलित मजदूरी दरें जिन पर उचित मजदूरी निर्भर करती है। उचित मजदूरी से तात्पर्य उस पारिश्रमिक से है जो श्रमिकों को समान दक्षता, कठिनाई और कष्ट की आवश्यकता वाले कार्यों के लिए दिया जाता है।

शिव फाइन आर्ट्स लीथो वर्क्स बनाम औद्योगिक न्यायालय (1978) एलएल.जे. 532 एस.सी. के विनिश्चय में उच्च न्यायालय ने उचित मजदूरी के सम्बन्ध में निम्न अवधारणा प्रस्तुत की है—“उचित मजदूरी जीवन—निर्वाह मजदूरी तथा न्यूनतम मजदूरी के बीच की मजदूरी है जो मजदूरी उचित होनी चाहिए।

(3) जीवन—निर्वाह मजदूरी— तर्जाष्ट्रीय श्रम संगठन (ILO) जीवन निर्वाह मजदूरी को इस प्रकार परिभाषित करता है वह न्यूनतम आय जो किसी कर्मचारी को अपने और अपने परिवार के लिए एक सभ्य जीवन स्तर बनाए रखने के लिए आवश्यक है यह आमतौर पर न्यूनतम वेतन से अधिक होता है, जो कि नियोक्ता द्वारा दिया जाने वाला सबसे कम कानूनी प्रति घंटा वेतन है। जीवन निर्वाह वेतन की गणना में निम्नलिखित कारकों पर विचार किया जाता है; किराया या बंधक, किराने का सामान, उपयोगिताएँ, परिवहन, बच्चों की देखभाल, स्वास्थ्य, शिक्षा, मनोरंजन और सामाजिक आवश्यकताएँ। भारत के 1950 के संविधान के अनुच्छेद 43 में कहा गया है कि राज्य को यह सुनिश्चित करने के लिए काम करना चाहिए कि सभी श्रमिकों को जीवन—यापन के लिए उचित वेतन मिले, साथ ही अन्य शर्तें भी हों जो उन्हें एक सभ्य जीवन स्तर का आनंद लेने की अनुमति दें। भारत 2025 तक अपनी न्यूनतम मजदूरी प्रणाली को जीवन—यापन के लिए उचित वेतन से बदलने की योजना बना रहा है, जिसका लक्ष्य गरीबी को कम करना, श्रमिकों की भलाई में सुधार करना और श्रमिकों की चिंताओं को दूर करना है।

(4) निर्वाह मजदूरी— निर्वाह मजदूरी को उस मजदूरी के रूप में परिभाषित किया जाता है जो कर्मचारी को कुछ सुविधाएँ और कुछ बुनियादी जरूरतें प्रदान करने के लिए सुसंगत है। इसलिए, इसका मतलब है कि वह मजदूरी स्तर जो बुनियादी जरूरतों और ऐसी बारीकियों को प्रदान करने के लिए संतोषजनक है जो कर्मचारी के साथ—साथ उसके परिवार की बेहतरी के लिए उसकी सामाजिक स्थिति के अनुसार आवश्यक हैं।

इस प्रकार, निर्वाह आय को इस प्रकार परिभाषित किया गया है—

निर्वाह मजदूरी से पुरुष कमाने वाले को अपने और अपने परिवार को न केवल भोजन, कपड़े और आश्रय की बुनियादी जरूरतें प्रदान करने में सक्षम होना चाहिए, बल्कि बच्चों की शिक्षा, अस्वस्थता से सुरक्षा, आवश्यक सामाजिक जरूरतों की पूर्ति और बुढ़ापे के खिलाफ बीमा के उपायों सहित मितव्ययी आराम का उपाय भी प्रदान करना चाहिए। भारत के संविधान के अनुच्छेद 43 में कहा गया है कि राज्य उपयुक्त कानून या आर्थिक संगठन या किसी अन्य तरीके से सभी श्रमिकों, कृषि, औद्योगिक या अन्यथा काम, एक निर्वाह मजदूरी, जीवन के सभ्य मानक और अवकाश और सामाजिक और सांस्कृतिक अवसरों का पूर्ण आनंद सुनिश्चित करने वाली कार्य स्थितियों को सुरक्षित करने का प्रयास करेगा। इसलिए, भारत सरकार ने निर्वाह मजदूरी सुनिश्चित करने के लिए राज्य नीति के सिद्धांतों में से एक के रूप में अपनाया है। निर्वाह मजदूरी वह मजदूरी है जो कारीगर के कौशल के अनुसार कामगार को भोजन, आश्रय, कपड़े, मितव्ययी आराम, बुरे दिनों के लिए प्रावधान आदि सुनिश्चित करने के लिए पर्याप्त है, अगर वह एक कारीगर है। इस प्रकार, निर्वाह मजदूरी का मतलब केवल कर्मचारी के जीवन की बुनियादी जरूरतों जैसे भोजन, आश्रय और कपड़े को पूरा करना नहीं है, बल्कि इसमें वर्तमान मानव मानकों द्वारा अनुमानित कुछ आराम, अवकाश और सुख—सुविधाएँ जैसे स्वास्थ्य, बच्चों की शिक्षा, यात्रा, बुढ़ापा, मनोरंजन और सामाजिक जरूरतें आदि भी शामिल हैं।

प्रश्न न० 4— न्यूनतम मजदूरी अधिनियम 1948 के उद्देश्य एवं क्षेत्र विस्तार समझाइए।

उत्तर— न्यूनतम मजदूरी अधिनियम, 1948 भारत का एक श्रम कानून है। यह अधिनियम, रोजगार के संगठित और असंगठित दोनों क्षेत्रों में श्रमिकों की अलग—अलग श्रेणियों के लिए न्यूनतम मजदूरी दर तय करता है। इस अधिनियम का मकसद, श्रमिकों को उचित वेतन सुनिश्चित करना और नियोक्ताओं द्वारा न्यूनतम वेतन का पालन करवाना है। यह अधिनियम, केंद्र और राज्य सरकार दोनों को मजदूरी तय करने का अधिकार देता है। इस अधिनियम के मुताबिक, किसी संगठन को किसी खास कर्मचारी को किसी खास समय पर किसी खास काम के लिए एक न्यूनतम राशि देनी होती है। यह राशि, किसी अनुबंध या सामूहिक समझौते से कम नहीं हो सकती। न्यूनतम मजदूरी, चार सदस्यों वाले परिवार की बुनियादी जरूरतों को पूरा करने के लिए काफी होनी चाहिए। इसके लिए, समितियां समय—समय पर उद्योग की क्षमता की समीक्षा करती हैं और न्यूनतम मजदूरी तय करने के लिए बाध्य होती हैं। न्यूनतम मजदूरी अधिनियम को साल 1948 में केन्द्रीय विधानसभा ने पारित किया था और यह 15 मार्च, 1948 को लागू हुआ था। इस अधिनियम के लागू होने के बाद, ब्लू—कॉलर लोगों में समानता और न्याय की भावना आई।

न्यूनतम मजदूरी अधिनियम, 1948 के उद्देश्य— न्यूनतम मजदूरी अधिनियम, 1948 के मुख्य उद्देश्य इस प्रकार हैं—

(1) कुछ रोजगारों में नियोक्ता द्वारा कर्मचारियों को भुगतान की जाने वाली न्यूनतम मजदूरी को निर्धारित और संशोधित करना;

- (2) जनता के हित में सभी कर्मचारियों के लिए पर्याप्त न्यूनतम वेतन निर्धारित करना;
- (3) रोजगार के प्रकार के अनुसार किसी कर्मचारी के दैनिक कार्य घंटे तय करना;
- (4) श्रमिकों का शोषण रोकने के लिए;
- (5) मजदूरी का भुगतान न किए जाने या कम भुगतान से संबंधित किसी भी मुद्दे को हल करना;
- (6) निरीक्षकों की शक्तियों और कर्तव्यों को स्थापित करना और प्रदान करना;
- (7) श्रम आयुक्तों और अन्य महत्वपूर्ण श्रम अधिकारियों की शक्तियों और कर्तव्यों को स्थापित करना और प्रदान करना;

(8) उपयुक्त सरकार को नियम बनाने की शक्तियां प्रदान करना।

अधिनियम की धारा 3 में समुचित सरकार द्वारा न्यूनतम मजदूरी की दरें तय करने का प्रावधान है। उप-धारा (1) में प्रावधान है कि समुचित सरकार अधिनियम की अनुसूची के भाग 1 या भाग 2 (अनुसूचित रोजगार) के अंतर्गत उल्लिखित रोजगार में कर्मचारियों को देय मजदूरी की न्यूनतम दर तय करेगी और पांच वर्ष की अवधि के लिए न्यूनतम मजदूरी की समीक्षा करेगी। उप-धारा (1ए) में प्रावधान है कि समुचित सरकार किसी भी अनुसूचित रोजगार के लिए न्यूनतम मजदूरी तय करने से परहेज कर सकती है, जहां पूरे राज्य में कर्मचारियों की संख्या एक हजार से कम है, जब तक कि यह संख्या एक हजार से कम न रह जाए।

उप-धारा (2) में प्रावधान है कि उपयुक्त सरकार निम्नलिखित निर्धारित कर सकती है—

- (1) न्यूनतम समय दर;
- (2) न्यूनतम टुकड़ा दर;
- (3) एक गारंटीकृत समय दर; और
- (4) ओवरटाइम दर.

उप-धारा (3) उपयुक्त सरकार को निम्नलिखित के लिए न्यूनतम मजदूरी की अलग-अलग दरें तय करने की शक्ति प्रदान करती है—

- (1) विभिन्न अनुसूचित रोजगार;
- (2) एक ही अनुसूचित रोजगार में विभिन्न प्रकार के कार्यय
- (3) वयस्क, किशोर, बच्चे और प्रशिक्षु; और

विभिन्न इलाके

ये न्यूनतम मजदूरी प्रति घंटे, प्रति दिन, प्रति माह या उपयुक्त सरकार द्वारा निर्धारित किसी अन्य समयावधि के आधार पर तय की जा सकती है।

अधिनियम की धारा 4 में न्यूनतम मजदूरी दर का प्रावधान है। मजदूरी की न्यूनतम दर में निम्न शामिल होंगे—

- “(i) मजदूरी की एक मूल दर और एक विशेष भत्ता, जिसे ऐसे अंतरालों पर और ऐसी रीति से समायोजित किया जाएगा, जैसा कि समुचित सरकार निर्देश दे, ताकि ऐसे श्रमिकों पर लागू जीवन-यापन सूचकांक संख्या में परिवर्तन के साथ यथासंभव निकटता से तालमेल बिठाया जा सके (जिसे इसके पश्चात “जीवन-यापन भत्ता” कहा जाएगा); या
- (ii) जीवन निर्वाह भत्ते सहित या उसके बिना मजदूरी की मूल दर, तथा रियायती दरों पर आवश्यक वस्तुओं की आपूर्ति के संबंध में रियायतों का नकद मूल्य, जहां ऐसा प्राधिकृत हो; या
- (iii) एक सर्व-समावेशी दर जिसमें मूल दर, जीवन-यापन भत्ता और रियायतों का नकद मूल्य, यदि कोई हो, शामिल हो।”

इसके अलावा, अधिनियम की धारा 5 में यह प्रावधान है कि उपयुक्त सरकार समितियों और उप-समितियों की नियुक्ति करके या ऐसे प्रस्तावों से प्रभावित होने वाले लोगों के लिए आधिकारिक राजपत्र में अपना प्रस्ताव प्रकाशित करके न्यूनतम मजदूरी तय या संशोधित कर सकती है।

एयरफ्रेट लिमिटेड बनाम कर्नाटक राज्य एवं अन्य (1999) के मामले में माननीय सर्वोच्च न्यायालय ने भी इसी तरह का दृष्टिकोण अपनाया है। न्यायालय ने माना कि ऐसे मामलों में जहां न्यूनतम मजदूरी जीवन-यापन सूचकांक की लागत से जुड़ी हुई है, महंगाई भत्ते के आधार पर भुगतान की गई राशि को एक स्वतंत्र घटक के रूप में नहीं लिया जाना चाहिए, बल्कि इसे न्यूनतम मजदूरी का अभिन्न अंग माना जाना चाहिए।

न्यूनतम मजदूरी अधिनियम, 1948 के अंतर्गत सलाहकार बोर्ड

अधिनियम की धारा 7 सलाहकार बोर्ड की स्थापना करती है। उपयुक्त सरकार द्वारा नियुक्त सलाहकार बोर्ड का दायरा अधिनियम की धारा 5 के तहत स्थापित समितियों और उप-समितियों का समन्वय करना और अनुसूचित रोजगार के लिए न्यूनतम मजदूरी तय करने और संशोधित करने पर उपयुक्त सरकार को सलाह देना है। अधिनियम की धारा 8 के तहत एक केंद्रीय सलाहकार बोर्ड (सीएबी) की स्थापना की जाएगी। केंद्र सरकार सीएबी की स्थापना करेगी और इसके सदस्यों को नियुक्त करेगी। सदस्यों में केंद्र सरकार द्वारा नामित स्वतंत्र सदस्यों के साथ-साथ नियुक्ता और कर्मचारी दोनों के प्रतिनिधियों की समान संख्या होगी। सीएबी का अध्यक्ष एक स्वतंत्र सदस्य होगा। सीएबी के कार्यक्षेत्र का उद्देश्य अधिनियम के तहत सलाहकार बोर्ड और अन्य मामलों के साथ समन्वय सुनिश्चित करना है।

न्यूनतम मजदूरी अधिनियम, 1948 के तहत मजदूरी के भुगतान का तरीका

अधिनियम की धारा 11 के तहत सभी मजदूरी का भुगतान केवल नकद में किया जाएगा। हालांकि, जहां मजदूरी का भुगतान पूरी तरह या आंशिक रूप से वस्तु के रूप में करने की प्रथा रही है, वहां उपयुक्त सरकार से प्राधिकरण आवश्यक है। इसमें आवश्यकतानुसार आवश्यक वस्तुओं पर रियायतें शामिल हैं।

अधिनियम की धारा 12 में कर्मचारियों को न्यूनतम मजदूरी का भुगतान करने का तरीका बताया गया है। प्रावधान में कहा गया है कि नियोक्ता अपने अधीन काम करने वाले प्रत्येक कर्मचारी को निर्धारित समय अवधि के भीतर न्यूनतम मजदूरी का भुगतान करेगा।

न्यूनतम मजदूरी अधिनियम, 1948 के तहत सामान्य कार्य दिवस के लिए घंटे तय करना

अधिनियम की धारा 13 में प्रावधान है कि उपयुक्त सरकार निम्नलिखित तरीके से कार्य घंटे तय कर सकती है—

- (1) एक या अधिक निर्दिष्ट अंतरालों सहित सामान्य दिन के कार्य घंटे निश्चित करें।
- (2) सभी कर्मचारियों या कर्मचारियों के एक वर्ग को प्रत्येक सात दिन की अवधि में एक दिन का विश्राम प्रदान किया जाएगा तथा विश्राम के दिन कर्मचारियों को पर्याप्त पारिश्रमिक प्रदान किया जाएगा।
- (3) कर्मचारियों को विश्राम के दिन भुगतान उपलब्ध कराया जाएगा, जो ओवरटाइम दर से कम नहीं होगा।
- (4) अधिनियम की धारा 14 में प्रावधान है कि जहां कोई कर्मचारी सामान्य कार्य दिवस में निर्दिष्ट घंटों से अधिक काम करता है, तो वह अपने सामान्य कार्य घंटों के बाद प्रत्येक घंटे के लिए अधिनियम के तहत निर्धारित दर पर ओवरटाइम मजदूरी प्राप्त करने का हकदार होगा।
- (5) यदि कोई कर्मचारी सामान्य कार्य दिवस में निर्धारित घंटों से कम काम करता है, तो भी उसे अधिनियम के तहत निर्धारित न्यूनतम मजदूरी मिलेगी। हालांकि, यह प्रावधान तभी लागू होगा जब काम के कम घंटे कर्मचारी की अनिच्छा के कारण न हों। यह प्रावधान अधिनियम की धारा 15 के तहत दिया गया है।

प्रश्न न० 5— कारखाना अधिनियम, 1948 की प्रकृति, उद्देश्य एवं महत्व का वर्णन कीजिए।

उत्तर— 'उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में भारत में बड़े पैमाने पर कारखाने उद्योग का उदय हुआ। बंबई कपास विभाग के मुख्य निरीक्षक मेजर मूर ने 1872-73 में अपनी रिपोर्ट में सबसे पहले कारखानों में काम करने की स्थिति को विनियमित करने के लिए कानून के प्रावधान का सवाल उठाया। पहला कारखाना अधिनियम 1881 में लागू किया गया था। तब से इस अधिनियम में कई बार संशोधन किया गया है। कारखानों के संबंध में सभी पिछले कानूनों को प्रतिस्थापित करते हुए कारखाना अधिनियम 1934 पारित किया गया था। यह अधिनियम रॉयल कमीशन ऑन लेबर की सिफारिशों के आलोक में तैयार किया गया था। इस अधिनियम में समय-समय पर उचित संशोधन भी किए गए हैं। कारखाना अधिनियम, 1934 के कामकाज के अनुभव ने कई दोषों और कमजोरियों को उजागर किया था, जिन्होंने अधिनियम के प्रभावी प्रशासन में बाधा डाली थी, और बड़ी संख्या में छोटे औद्योगिक प्रतिष्ठानों के लिए इसके सुरक्षात्मक प्रावधानों को विस्तारित करने के लिए अधिनियम के बड़े पैमाने पर संशोधन की आवश्यकता महसूस की गई थी। अतः कारखानों में श्रम से संबंधित कानून को समेकित और संशोधित करने वाला कारखाना अधिनियम, 1948 संविधान सभा द्वारा 28 अगस्त, 1948 को पारित किया गया था। इस अधिनियम को 23 सितंबर 1948 को भारत के गवर्नर जनरल की स्वीकृति प्राप्त हुई और यह 1 अप्रैल, 1949 को लागू हुआ।

कारखानों और उद्योगों का विकास—

फैक्ट्री एक्ट का इतिहास एक सदी से भी ज्यादा पुराना है। यूनाइटेड किंगडम में शुरू होने के एक सदी बाद भारत में आधुनिक औद्योगीकरण की शुरुआत हुई। 1854 में बॉम्बे में पहली सूती कपड़ा फैक्ट्री स्थापित की गई थी। 1870 तक, बॉम्बे, नागपुर, कानपुर और मद्रास में बड़ी संख्या में उद्योग स्थापित हो चुके थे। बिहार में, 1873 में पहला लोहा और इस्पात कारखाना स्थापित किया गया था। 1855 के आसपास रिशरा में जूट कटाई मिलों की स्थापना की गई थी। 1881 में, बंगाल में 5000 पावरलूम चल रहे थे। 1870 के दशक के दौरान, हुगली में बल्ली पेपर मिल बनाई गई और कानपुर में कई अन्य टैनिंग और चमड़े की फैक्ट्रियाँ स्थापित की गईं, जिसके परिणामस्वरूप भारत में फैक्ट्री प्रतिष्ठानों का विकास हुआ। महिलाओं और बच्चों का कम उम्र में काम करना, काम के घंटों की लंबाई और खतरनाक और अस्वास्थ्यकर काम करने की स्थिति ने भारत में समस्याएँ और संकट पैदा किए और इन परिदृश्यों के कारण, सभी कारखानों और उद्योगों के लिए कानून स्थापित किए गए। कामकाजी परिस्थितियों, खास तौर पर महिलाओं और बच्चों के लिए, से निपटने के लिए सुरक्षात्मक श्रम कानून की आवश्यकता को 1850 में ही पहचान लिया गया था, लेकिन ब्रिटिश सरकार ने बहुत कम किया। जूट मिल कर्मचारियों के कल्याण को बढ़ावा देने के लिए शशिपाद बनर्जी ने 1878 में बड़ा बाजार संगठन की स्थापना की थी। 1877 में नागपुर एम्प्रेस मिल में हड़तालें हुईं, जिनका रिकॉर्ड दर्ज है। 1760 और 1820 के बीच इंग्लैंड में हुई औद्योगिक क्रांति के दौरान उत्पादन के तरीके बदल गए। कई यांत्रिक नवाचारों का विकास शुरू हुआ, जैसे कि भाप इंजन, जिसने मनुष्यों को शक्तिशाली मशीनों को चलाने की क्षमता दी।

कारखाना अधिनियम, 1948 का उद्देश्य—

भारतीय कारखाना अधिनियम, 1948 के मुख्य उद्देश्य कारखानों में काम करने की स्थिति को विनियमित करना, स्वास्थ्य, सुरक्षा कल्याण और वार्षिक छुट्टी को विनियमित करना और कारखानों में काम करने वाले युवा व्यक्तियों, महिलाओं और बच्चों के संबंध में विशेष प्रावधान करना है।

1. कार्य के घंटे— वयस्कों के कार्य के घंटों के प्रावधान के अनुसार, किसी भी वयस्क श्रमिक को एक सप्ताह में 48 घंटे से अधिक कारखाने में काम करने की आवश्यकता नहीं होगी या अनुमति नहीं होगी। एक साप्ताहिक अवकाश होना चाहिए।

2. स्वास्थ्य— श्रमिकों के स्वास्थ्य की रक्षा के लिए, अधिनियम यह निर्धारित करता है कि प्रत्येक कारखाने को साफ रखा जाएगा और इस संबंध में सभी आवश्यक सावधानियां बरती जाएंगी। कारखानों में जल निकास की उचित व्यवस्था, पर्याप्त प्रकाश, वायु-संचार, तापमान आदि। होना चाहिए। पीने के पानी की पर्याप्त व्यवस्था होनी चाहिए। सुविधाजनक स्थानों पर पर्याप्त शौचालय और मूत्रालय उपलब्ध होने चाहिए। ये श्रमिकों के लिए आसानी से सुलभ होने चाहिए और उन्हें साफ रखा जाना चाहिए।

3. सुरक्षा— श्रमिकों को सुरक्षा प्रदान करने के लिए, अधिनियम में प्रावधान है कि मशीनों को बाड़ से घेरा जाना चाहिए, किसी भी खतरनाक मशीन पर कोई भी युवा व्यक्ति काम नहीं करेगा, सीमित स्थानों में पर्याप्त आकार के मैनहोल का प्रावधान होना चाहिए ताकि आपात स्थिति में श्रमिक बच सकें।

4. कल्याण— श्रमिकों के कल्याण के लिए, अधिनियम में प्रावधान है कि प्रत्येक कारखाने में श्रमिकों के उपयोग के लिए धुलाई की पर्याप्त और उपयुक्त सुविधाएँ प्रदान की जानी चाहिए और उनका रखरखाव किया जाना चाहिए। कपड़ों को रखने और सुखाने की सुविधा, बैठने की सुविधा, प्राथमिक उपचार के उपकरण, आश्रय, विश्राम कक्ष और भोजन कक्ष, क्रेच आदि होने चाहिए।

5. दंड— कारखाना अधिनियम, 1948 के प्रावधानों या अधिनियम के तहत बनाए गए किसी भी नियम या अधिनियम के तहत लिखित रूप में दिए गए किसी भी आदेश का उल्लंघन किया जाता है, तो इसे अपराध माना जाता है। निम्नलिखित दंड लगाए जा सकते हैं:—

(क) एक वर्ष तक की कैद

(ख) एक लाख रुपये तक का जुर्माना या

(ग) जुर्माना और कारावास दोनों।

यदि कोई कर्मचारी श्रमिकों के कल्याण, सुरक्षा और स्वास्थ्य से संबंधित या अपने कर्तव्यों के निर्वहन से संबंधित किसी उपकरण का दुरुपयोग करता है, तो उस पर 500 रुपये का जुर्माना लगाया जा सकता है।

कारखाना अधिनियम, 1948 की धारा 92 — इस अधिनियम में अन्यथा स्पष्ट रूप से प्रदान की गई है और धारा 93 के प्रावधानों के अधीन रहते हुए, यदि किसी कारखाने में, या उसके संबंध में इस अधिनियम के प्रावधानों या इसके अधीन बनाए गए किसी नियम या इसके अधीन दिए गए किसी लिखित आदेश का कोई उल्लंघन होता है, तो कारखाने का अधिष्ठाता या प्रबंधक प्रत्येक अपराध का दोषी होगा और दो वर्ष तक की अवधि के कारावास या एक लाख रुपये तक के जुर्माने या दोनों से दंडनीय होगा, और यदि उल्लंघन दोषसिद्धि के बाद जारी रहता है, तो अतिरिक्त जुर्माने से, जो उल्लंघन जारी रहने वाले प्रत्येक दिन के लिए एक हजार रुपये तक हो सकता है।

बशर्ते कि जहां अध्याय IV या उसके अधीन बनाए गए किसी नियम या धारा 87 के अधीन किसी प्रावधान के उल्लंघन के परिणामस्वरूप मृत्यु या गंभीर शारीरिक चोट का कारण बनने वाली दुर्घटना हुई है, जुर्माना मृत्यु का कारण बनने वाली दुर्घटना के मामले में पच्चीस हजार रुपये से कम नहीं होगा, और गंभीर शारीरिक चोट का कारण बनने वाली दुर्घटना के मामले में पांच हजार रुपये से कम नहीं होगा।

स्पष्टीकरण — इस धारा में और धारा 94 में गंभीर शारीरिक चोट का अर्थ है ऐसी चोट जिसमें किसी अंग के उपयोग की स्थायी हानि या स्थायी चोट या दृष्टि या श्रवण की स्थायी हानि या चोट या किसी हड्डी का फ्रैक्चर शामिल है या होने की पूरी संभावना है, लेकिन इसमें हाथ या पैर की हड्डी या जोड़ (एक से अधिक हड्डी या जोड़ का फ्रैक्चर नहीं) और पैर की अंगुलियों का फ्रैक्चर शामिल नहीं है।

जनरल मैनेजर, व्हील एंड ए.पी., बैंगलोर बनाम कर्नाटक राज्य (1996)। इस मामले में यह माना गया कि मुकदमा चलाने के लिए मंजूरी प्राप्त करने की आवश्यकता अनिवार्य है और मंजूरी के अभाव में अपराध का संज्ञान लेने की अनुमति नहीं दी जा सकती और इसे रद्द किया जाना चाहिए।

प्रांतीय सरकार बनाम गणपत, एआईआर 9६४३ नाग २४३. इस मामले में यह माना गया कि जहां कारखाने का अधिभोगी या प्रबंधक अधिनियम की धारा ६२ के तहत अपराध स्वीकार करता है, लेकिन कारखाने के क्लर्क पर वास्तविक अपराधी होने का आरोप लगाता है, निर्दोषता साबित करने का भार ऐसे अधिभोगी या प्रबंधक पर है, जैसा भी मामला हो।

कारखाना अधिनियम, 1948 की मुख्य विशेषताएं—1948 अधिनियम की महत्वपूर्ण विशेषताएं इस प्रकार हैं—

(1) कारखाना (संशोधन) अधिनियम, 1976 द्वारा 'कारखाना' शब्द का विस्तार किया गया है, ताकि यह निर्धारित करते समय कि किसी कारखाने में अधिकतम 10 या 20 कर्मचारी हैं, इसमें ठेका श्रमिक को भी शामिल किया जा सके।

(2) इस अधिनियम ने कार्यस्थलों पर बच्चों के काम करने की न्यूनतम आयु 12 वर्ष से बढ़ाकर 14 वर्ष कर दी तथा उनके दैनिक कार्य घंटे 5 से घटाकर साढ़े 4 घंटे कर दिए।

(3) यह अधिनियम महिलाओं और बच्चों को शाम 7 बजे से सुबह 6 बजे तक कारखानों में काम करने से रोकता है अधिनियम द्वारा मौसमी और गैर-मौसमी कारखाने के बीच का अंतर समाप्त कर दिया गया है।

(4) इस अधिनियम में कारखाना पंजीकरण और लाइसेंसिंग का प्रावधान है।

(5) राज्य सरकार को यह सुनिश्चित करना होगा कि सभी फैक्ट्रियां पंजीकृत हों तथा उनके पास वैध लाइसेंस हों, जिनका समय-समय पर नवीनीकरण किया जाता रहे।

(6) यह अधिनियम राज्य सरकारों को कर्मचारियों के लाभ के लिए प्रबंधन और कर्मचारी संघ की सहायता से नियम और विनियम बनाने का अधिकार देता है।

(7) राज्य सरकार को किसी भी प्रतिष्ठान पर अधिनियम की आवश्यकताओं को लागू करने का अधिकार है, चाहे वहां कर्मचारियों की संख्या कितनी भी हो और चाहे वह प्रतिष्ठान विनिर्माण कार्यों में संलग्न हो या नहीं।

रवींद्र अग्रवाल बनाम झारखंड राज्य (2010) में, झारखंड उच्च न्यायालय ने माना कि कारखाना अधिनियम, विशेष कानून भारतीय दंड संहिता पर प्रबल होगा।

प्रश्न न0 6— कर्मचारी राज्य बीमा न्यायालय के गठन, कार्य तथा क्षेत्राधिकार की विवेचना कीजिए।

उत्तर— कर्मचारी राज्य बीमा निगम की स्थापना— ईएसआई अधिनियम धारा 3 के तहत स्थापित कर्मचारी राज्य बीमा निगम के माध्यम से अपना कार्य करता है, जो सामाजिक सुरक्षा बनाए रखने के लिए बनाया गया निकाय है। इसकी स्थापना 24 फरवरी, 1952 को हुई थी। निगम का काम चिकित्सा आपात स्थिति के मामले में कर्मचारियों को राहत प्रदान करना है।

निगम का गठन

ईएसआईसी की संरचना धारा 4 में परिभाषित की गई है, और यह इस प्रकार है—

- (1) महानिदेशक।
- (2) अध्यक्ष, केन्द्र सरकार द्वारा नियुक्त।
- (3) केन्द्रीय सरकार द्वारा नियुक्त उपाध्यक्ष।
- (4) केन्द्र सरकार द्वारा नामित 5 से अधिक व्यक्ति नहीं।
- (5) प्रत्येक राज्य का प्रतिनिधित्व करने के लिए एक व्यक्ति।
- (6) संघ राज्य क्षेत्रों का प्रतिनिधित्व करने वाला 1 व्यक्ति।
- (7) नियोक्ताओं का प्रतिनिधित्व करने वाले 10 व्यक्ति।
- (8) कर्मचारियों का प्रतिनिधित्व करने वाले 10 व्यक्ति।
- (9) चिकित्सा पेशे का प्रतिनिधित्व करने वाले 2 व्यक्ति।
- (10) संसद सदस्य (2: लोकसभा और 1: राज्यसभा)।

निगम के सदस्यों का कार्यकाल

धारा 5 के माध्यम से, निम्नलिखित सदस्यों को 4 वर्ष की अवधि तक के लिए नियुक्त किया जाता है—

- (1) महानिदेशक।
- (2) अध्यक्ष महोदय।
- (3) उपाध्यक्ष।
- (4) केन्द्र सरकार द्वारा नामित 5 लोग।
- (5) प्रत्येक राज्य का प्रतिनिधित्व करने वाले सदस्य।
- (6) प्रत्येक संघ राज्य क्षेत्र का प्रतिनिधित्व करने वाले सदस्य।

कर्मचारी बीमा न्यायालय की शक्ति—कर्मचारी बीमा न्यायालय, सिविल न्यायालय के समान शक्तियों के साथ कार्य करेगा, जिसमें ईएसआई अधिनियम के प्रावधानों को लागू करने के लिए, वह गवाहों की उपस्थिति सुनिश्चित कर सकता है, दस्तावेज और भौतिक साक्ष्य प्रस्तुत करने के लिए बाध्य कर सकता है, शपथ दिला सकता है और साक्ष्य रिकॉर्ड कर सकता है। किसी कार्यवाही से पहले होने वाले सभी खर्च न्यायालय के विवेक और दायित्व के अधीन होते हैं।

अधिकार—(1) कॉर्पोरेशन अपनी बैठकें बला सकता है।

(2) फंड के प्रशासन का अधिकार कॉर्पोरेशन को प्राप्त है।

(3) कॉर्पोरेशन ग्रांट्स—दान और उपहार केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों से ग्रहण कर सकता है।

(4) स्थायी समिति द्वारा फंड के ऑपरेशन के लिये नियुक्ति के लिए अनुमोदन देने का अधिकार कॉर्पोरेशन को प्राप्त है।

(5) सम्पत्ति रखने का अधिकार है।

(6) कॉर्पोरेशन धारा 29(3) के अन्तर्गत कर्ज भी ले सकता है।

(7) कॉर्पोरेशन अपने स्टाफ या उनके किसी वर्ग के लिये फंड की व्यवस्था करने में सक्षम है।

(8) स्थापना के पूर्व अर्जित सम्पूर्ण सम्पत्ति कॉर्पोरेशन में निहित होगी।

(9) सभी किये गये अंशदान कॉर्पोरेशन के पास जमा होंगे।

(10) अंशदानों के अदाएगी की दर निश्चित करने का अधिकार।

(11) नियोजकों द्वारा रिटर्न प्राप्त करने का अधिकार और उसके प्रारूप आदि से सम्बन्ध में निर्देश देने का अधिकार।

अंशदान— इस अधिनियम के द्वारा देय अंशदान जो कि एक कर्मचारी के सम्बन्ध में है वह कर्मचारी के अंशदान के रूप में विदित होगा तथा नियोजक द्वारा देय अंशदान नियोजक का अंश कहलायेगा। उपर्युक्त दोनों प्रकार के अंशदानों को धारा 39 के तहत अंशदान कहा जायेगा।

अंशदान प्रथम अनुसूची में निर्धारित दर द्वारा भुगतान किया जायगा और ऐसे मामलों में जहाँ इस अधिनियम के उपबन्ध में किसी कर्मचारी या कर्मचारियों के किसी कर्मचारियों के किसी वर्ग पर जो किसी कारखाने का व्यवस्थापन अथवा किसी श्रेणी के कारखाने या व्यवस्थापन में काम करते हैं। इस रूप में लागू है कि वे इस अधिनियम के अधीन कुछ लाभों से अपवर्जित हैं, तो उन्हें उस दर से अंशदान देना होगा जैसा निगम इसके प्रति निर्धारित करे। एक सप्ताह के सम्बन्ध में देय सभी भुगतान सप्ताह के अन्तिम दिवस पर देय होंगे और जहाँ एक कर्मचारी सप्ताह के किसी भाग के लिए नियुक्त किया गया है अथवा एक ही सप्ताह के अन्दर वह दो या अधिक नियोजकों के यहाँ कार्य करता रहा है तो अंशदान उन दोनों को देय होगा जैसा कि विनियम में निर्धारित किया गया है।

मुख्य नियोजक प्रत्येक नियोजित के सम्बन्ध में चाहे वह सीधे उसके द्वारा नियुक्त हो अथवा किसी सक्षम नियोक्ता द्वारा या उसके माध्यम से नियुक्त हो, नियोजक तथा नियोजित दोनों का अंशदान भुगतान करेगा।

अंशदान भुगतान करने के सम्बन्ध में सामान्य उपबन्ध—(1) किसी नियोजित द्वारा या उसकी ओर से नियोजित का अंशदान देय न होगा।

(2) अंशदान (नियोजक और नियोजित दोनों का अंशदान) मुख्य नियोजक द्वारा प्रत्येक सप्ताह के लिए देय होगा जिसके पूर्ण या आंशिक भाग के लिये नियोजित को मजदूरी देय है तथा अन्य प्रकार से नहीं।

(3) जहाँ नियोजित को मजदूरी सप्ताह के किसी भाग के लिये देय है, तो नियोजक को नियोजक व नियोजित दोनों का सप्ताह का पूर्ण अंशदान देना होगा किन्तु वह नियोजक का अंशदान नियोजित की मजदूरी से काटने का हकदार होगा।

अंशदान भुगतान करने की रीति— इस अधिनियम के उपबन्धों के प्रतिबन्ध के अन्तर्गत, निगम इस अधिनियम के अन्तर्गत देय अंशदान से सम्बन्धित किसी मामले के लिए या भुगतान और वसूली से सम्बन्धित तमामले के लिये विनियम बना सकते हैं जो सामान्यतया पहले वर्णन किये गये उसके अधिकारों के प्रतिकूल न होगा। ऐसे निनियम उपबन्धित कर सकता है।

न्यायालय द्वारा निर्णीत होने वाले मामले— कर्मचारी राज्य विधि अधिनियम 1948 की धारा 75 के अनुसार इस प्रकार के न्यायालय द्वारा निम्नलिखित प्रकार के मामलों को निर्णीत किया जाता है—

(1) कोई व्यक्ति इस अधिनियम के तहत कर्मचारी है या नहीं या वह अंशदान देने के लिए उत्तरदायी है या नहीं।

(2) कोई व्यक्ति, जो किसी कर्मचारी की वास्तव प्रधान नियोजक है या था या नहीं।

(3) किसी प्रसुविधाओं के लिए किसी व्यक्ति का अधिकार उसकी राशि अथवा उसकी अवधि के सम्बन्ध में विवाद।

(4) आश्रितों के लाभ के किसी भुगतान के सम्बन्ध में पुनर्विचार पर धारा 45 के अन्तर्गत निगम द्वारा जारी किया गया निर्देशन सम्बन्धी विवाद।

(5) मुख्य नियोजक के अंशदान की वसूली के लिए दावा।

(6) किसी निकटतम नियोजन के अंशदान वसूल करने के लिए मुख्य नियोजक के द्वारा दावा।

(7) धारा 68 के तहत मुख्य नियोजक के विरुद्ध दावा।

(8) अवैध वसूली से प्राप्त लाभ को वापस लेने के लिए दावा।

(9) इस अधिनियम के अधीन वसूली हेतु दावा, आदि प्रकारों के दावों का निराकरण इन्हीं न्यायालयों द्वारा किया जायेगा।

प्रश्न न० 7— कारखाना अधिनियम, 1948 में अबन्धित स्वास्थ्य सुरक्षा तथा कल्याण से सम्बन्धित प्रावधानों का संक्षेप में वर्णन कीजिए।

उत्तर— कारखाना अधिनियम, 1948 कारखानों से संबंधित सभी पहलुओं को शामिल करने वाला एक व्यापक कानून है, जिसमें कारखानों की स्वीकृति, लाइसेंसिंग और पंजीकरण, अधिनियम के तहत निरीक्षण अधिकारी, स्वास्थ्य, सुरक्षा, कल्याण, काम के घंटे, वयस्कों और छोटे बच्चों का रोजगार, वार्षिक छुट्टी और दंड शामिल हैं। धारा 2 (एम) में, एक कारखाने को किसी भी परिसर के रूप में परिभाषित किया गया है, जिसमें इसकी सीमाएँ शामिल हैं¹। जहाँ दस या अधिक कर्मचारी काम कर रहे हैं, या पिछले बारह महीनों के किसी भी दिन काम कर रहे थे, और जिसके किसी भी हिस्से में बिजली की सहायता से विनिर्माण प्रक्रिया चल रही है, या आमतौर पर इस तरह से चल रही है, या 2. जहाँ बीस या अधिक कर्मचारी काम कर रहे हैं, या पिछले बारह महीनों के किसी भी दिन काम कर रहे थे, और जिसके किसी भी हिस्से में बिजली की सहायता के बिना विनिर्माण प्रक्रिया चल रही है, या आमतौर पर इस तरह से चल रही है। अधिनियम की धारा 85 के अन्तर्गत राज्य सरकार को यह अधिकार दिया गया है कि वह कुछ ऐसे परिसरों पर अधिनियम लागू कर सकती है, जिनमें

1. यदि विद्युत की सहायता से कार्य किया जा रहा हो तो वहाँ नियोजित व्यक्तियों की संख्या दस से कम हो तथा यदि विद्युत की सहायता के बिना कार्य किया जा रहा हो तो वहाँ कार्यरत व्यक्तियों की संख्या बीस से कम हो, अथवा

2. वहाँ कार्यरत व्यक्ति उसके स्वामी द्वारा नियोजित न हों, बल्कि ऐसे स्वामी की अनुमति से अथवा उसके साथ समझौते के अन्तर्गत कार्य कर रहे हों। तदनुसार, इसमें सम्मिलित खतरे की सम्भावना पर विचार करते हुए, इस प्रशासन ने वर्ष 1989 में सरकारी आदेश संख्या 35/89—लैबद्धी दिनांक 12 जून 1989 के अन्तर्गत कारखाना अधिनियम, 1948 के अन्तर्गत आने वाली 41 विनिर्माण प्रक्रियाओं को अधिसूचित किया है।

कारखाना अधिनियम, 1948 के महत्वपूर्ण प्रावधान

कारखानों का अनुमोदन, लाइसेंस और पंजीकरण प्राप्त करना (धारा 6)— (1) राज्य सरकार ऐसे नियम बनाएगी जिसके तहत किसी भी श्रेणी या विवरण के कारखानों की योजनाओं को औपचारिक रूप से प्रस्तुत करना आवश्यक होगा, साथ ही निर्माण या विस्तार के लिए जिस स्थान पर कारखाना स्थित है, उसकी जानकारी मुख्य निरीक्षक या राज्य सरकार को प्रस्तुत करनी होगी।

(2) इस धारा के अंतर्गत कारखानों के पंजीकरण और लाइसेंसिंग के साथ-साथ ऐसे पंजीकरण और लाइसेंसिंग के लिए शुल्क का भुगतान और लाइसेंसों का नवीनीकरण भी आवश्यक है।

(3) जब तक अधिभोगी मुख्य निरीक्षक को सूचना नहीं देता, तब तक कोई लाइसेंस जारी या नवीनीकृत नहीं किया जाता।

(4) यदि राज्य सरकार किसी कारखाने के निर्माण या स्थल के लिए अनुमति देने से इनकार करती है, तो इनकार के 30 दिनों के भीतर आवेदक केंद्र सरकार से अपील कर सकता है।

श्रम और कल्याण— 'श्रम कल्याण' शब्द का तात्पर्य फैक्ट्री के अंदर और बाहर कर्मचारियों को दी जाने वाली सेवाओं से है, जैसे कैंटीन, शौचालय, मनोरंजन क्षेत्र, आवास और अन्य कोई भी सुविधा जो कर्मचारी की भलाई का समर्थन करती है। कल्याणकारी उपाय करने वाले राज्य अपने कर्मचारियों की समग्र भलाई और उत्पादकता की परवाह करते हैं। औद्योगिकीकरण की प्रक्रिया के आरंभ में, विनिर्माण श्रमिकों के लिए सामाजिक कार्यक्रमों को पर्याप्त प्राथमिकता नहीं मिली। अतीत में, भारत में औद्योगिक श्रम की स्थिति बहुत खराब थी। इक्कीसवीं सदी के उत्तरार्ध में औद्योगिक गतिविधि में वृद्धि के कारण, रॉयल कमीशन की सिफारिशों के माध्यम से कर्मचारियों की कार्य स्थितियों में सुधार के लिए कई प्रयास किए गए। पिछले अधिनियम की कमियों और सीमाओं के बारे में जानकारी प्राप्त करने के बाद, 1948 के कारखाना अधिनियम में संशोधन किया गया। श्रमिकों की परिभाषा का विस्तार करके इसमें 10 या उससे अधिक लोगों को रोजगार देने वाली कोई भी औद्योगिक सुविधा शामिल कर दी गई, जो बिजली का उपयोग करती है या 20 से अधिक लोगों को रोजगार देने वाली कोई भी औद्योगिक स्थापना जो बिजली का उपयोग नहीं करती, जो एक महत्वपूर्ण विकास था।

अन्य महत्वपूर्ण संशोधनों में शामिल हैं—

(1) काम करने योग्य बच्चों की न्यूनतम आयु 12 से बढ़ाकर 14 वर्ष करना।

(2) बच्चों के काम करने के घंटों की संख्या पांच से घटाकर साढ़े चार करना।

(3) बच्चों को शाम 7 बजे से सुबह 6 बजे के बीच काम करने से रोकना।

सभी प्रकार के कर्मचारियों के स्वास्थ्य, सुरक्षा और कल्याण पर विशेष ध्यान दिया जाता है।

कल्याणकारी उपाय

कल्याणकारी उपायों के तीन मुख्य घटक हैं व्यावसायिक स्वास्थ्य देखभाल, उचित कार्य घंटे और उचित पारिश्रमिक। यह किसी व्यक्ति के संपूर्ण स्वास्थ्य की बात करता है, जिसमें उसकी शारीरिक, मानसिक, नैतिक और भावनात्मक स्थिति शामिल है। कल्याणकारी उपायों का लक्ष्य कार्यबल की सामाजिक-मनोवैज्ञानिक मांगों, विशेष तकनीकी आवश्यकताओं, संगठनात्मक संरचना और प्रक्रियाओं और वर्तमान सामाजिक-सांस्कृतिक वातावरण को एकीकृत करना है। यह उद्यमों और समाज में काम के प्रति समर्पण की संस्कृति को बढ़ावा देता है, जिससे कर्मचारियों की खुशी और उत्पादकता में वृद्धि सुनिश्चित होती है।

धुलाई सुविधाएं (धारा 42)— (1) सभी कारखानों को कर्मचारियों के उपयोग के लिए पर्याप्त उपयुक्त धुलाई सुविधाएं उपलब्ध करानी चाहिए तथा उनका रखरखाव करना चाहिए।

(2) पुरुष और महिला कर्मचारियों के लिए अलग-अलग, अच्छी तरह से जांची गई सुविधाएं उपलब्ध कराई जानी चाहिए साथ ही ये सुविधाएं आसानी से उपलब्ध होनी चाहिए और साफ-सुथरी होनी चाहिए।

धुलाई के लिए उचित एवं उपयुक्त सुविधाओं के मानक राज्य सरकार द्वारा निर्धारित किए जाने चाहिए।

कपड़ों के भंडारण और सुखाने की सुविधाएं (धारा 43)— राज्य सरकार के पास एक विशिष्ट अधिकार है। इसमें कहा गया है कि राज्य सरकार के पास निर्माताओं को यह निर्देश देने का अधिकार है कि वे श्रमिकों के कपड़ों को कहाँ स्टोर करें। वे उन्हें यह भी बता सकते हैं कि कामगारों के कपड़े कैसे सुखाए जाएं। यह उस परिस्थिति को संदर्भित करता है जिसमें कामगार काम के लिए तैयार नहीं होते हैं।

बैठने की सुविधाएं (धारा 44)— सभी कारखानों को उन सभी श्रमिकों के लिए उपयुक्त स्थानों पर बैठने की व्यवस्था उपलब्ध करानी चाहिए, जिन्हें खड़े होकर काम करना पड़ता है, ताकि काम के दौरान उत्पन्न होने वाले आराम के अवसरों का लाभ उठाया जा सके।

मुख्य निरीक्षक के अनुसार, किसी भी कारखाने में किसी विशेष विनिर्माण प्रक्रिया में शामिल या किसी विशिष्ट कमरे में काम करने वाले श्रमिक बैठे-बैठे ही अपना काम प्रभावी ढंग से करने में सक्षम होते हैं।

प्राथमिक चिकित्सा उपकरण (धारा 45) सभी कारखानों में सभी कार्य घंटों के दौरान आवश्यक आपूर्तियों से भरे प्राथमिक चिकित्सा किट, उपकरण या अलमारियाँ होनी चाहिए, और उन्हें सभी विनिर्माण कर्मचारियों के लिए आसानी से सुलभ होना चाहिए। तदनुसार, प्रत्येक 150 औद्योगिक कर्मचारियों के लिए एक के सामान्य अनुपात से अधिक प्राथमिक चिकित्सा बक्से या अलमारियाँ होनी चाहिए, जो उससे कम होनी चाहिए।

प्राथमिक चिकित्सा बॉक्स या अलमारी में केवल अनुशंसित सामान ही होना चाहिए।

कारखाने के संचालन समय के दौरान, प्रत्येक प्राथमिक चिकित्सा बॉक्स या अलमारी को एक विशिष्ट व्यक्ति की देखरेख में रखा जाना चाहिए, जो इसके लिए अलग से जवाबदेह हो तथा कारखाने के कार्य समय के दौरान हर समय उपलब्ध रहना चाहिए।

कैंटीन (धारा 46)— राज्य सरकार द्वारा निर्धारित नियमों के अनुसार, किसी भी निर्दिष्ट कारखाने में, जहां सामान्यतः 250 से अधिक लोग कार्यरत हों, श्रमिकों के लाभ के लिए अधिष्ठाता द्वारा कैंटीन उपलब्ध कराई जानी चाहिए तथा उसका रखरखाव किया जाना चाहिए। भोजन परोसा जाना चाहिए और उसके मूल्य निर्धारित किये जाने चाहिए।

आश्रय स्थल, शौचालय और भोजन कक्ष (धारा 47)— 150 से ज्यादा कर्मचारियों वाली हर फैक्ट्री में उचित और उपयुक्त शौचालय या शेल्टर और पीने के पानी के साथ एक लंच रूम होना चाहिए जहाँ कर्मचारी अपने साथ लाया हुआ खाना खा सकें और जो उनके इस्तेमाल के लिए रखा गया हो। अगर लंच रूम उपलब्ध है, तो कर्मचारियों को काम के दौरान खाना बंद कर देना चाहिए। आश्रय स्थलों या शौचालयों में अच्छी रोशनी, हवादारी, साफ-सफाई, ठंडक और अच्छी स्थिति होनी चाहिए। राज्य सरकार मानक निर्धारित करती है।

क्रेच (धारा 48)— 30 से अधिक महिला कर्मचारियों वाली प्रत्येक फैक्ट्री में ऐसी महिलाओं के छह वर्ष से कम आयु के बच्चों के उपयोग के लिए उपयुक्त कमरा होना चाहिए। ऐसे कमरे अच्छी तरह से सुसज्जित, अच्छी तरह से रोशनी वाले और हवादार होने चाहिए, और उन्हें साफ और स्वच्छ रखा जाना चाहिए। साथ ही, उन्हें उन महिलाओं की देखरेख में होना चाहिए जिन्होंने शिशु और शिशु देखभाल में प्रशिक्षण प्राप्त किया हो। इसके अलावा, महिला श्रमिकों के बच्चों की देखभाल के लिए कपड़े धोने और बदलने की सुविधा भी उपलब्ध कराई जा सकती है। किसी भी फैक्ट्री को ऐसे बच्चों को मुफ्त दूध, जलपान या दोनों उपलब्ध कराने के लिए बाध्य किया जा सकता है। छोटे बच्चों को उनकी माताओं द्वारा किसी भी उद्योग में आवश्यक अंतराल पर भोजन कराया जा सकता है।

स्वास्थ्य

अधिनियम के अध्याय प्प की धाराएं 11-20 कारखाना स्वास्थ्य अधिनियम, 1948 से संबंधित हैं।

स्वच्छता (धारा 11)— हर फैक्ट्री को साफ-सुथरा रखना चाहिए और नालियों, शौचालयों या अन्य परेशानियों से मुक्त रखना चाहिए। खास तौर पर—

- (1) फर्श, बेंचों, सीढ़ियों और गलियारों से प्रतिदिन झाड़ू लगाकर या किसी अन्य विधि से गंदगी साफ की जानी चाहिए तथा उसका उचित तरीके से निपटान किया जाना चाहिए।
- (2) फर्श को सप्ताह में कम से कम एक बार कीटाणुनाशक से धोना चाहिए।
- (3) विनिर्माण प्रक्रिया के दौरान, फर्श नम हो जाता है; इसे जल निकासी के माध्यम से निकाला जाना चाहिए।

अपशिष्ट और बहिःस्राव का निपटान (धारा 12)— प्रत्येक कारखाने में विनिर्माण प्रक्रिया से उत्पन्न अपशिष्टों और बहिःस्रावों के उपचार के लिए एक विधि होनी चाहिए।

वेंटिलेशन और तापमान (धारा 13)— (1) श्रमिकों के आराम को सुनिश्चित करने और स्वास्थ्य समस्याओं को रोकने के लिए, कारखाने में हवा के संचार के लिए पर्याप्त वेंटिलेशन बनाया जाना चाहिए, जिसे एक विशिष्ट तापमान पर बनाए रखा जाना चाहिए।

(2) दीवारें और छत ऐसी सामग्री से बनाई जानी चाहिए जो एक विशेष तापमान के लिए बनाई गई हो और जितना संभव हो उससे अधिक तापमान न हो।

(3) उन कारखानों में कर्मचारियों की सुरक्षा के लिए कुछ सावधानियां अवश्य बरती जानी चाहिए जहां विनिर्माण प्रक्रिया के लिए अत्यंत उच्च या निम्न तापमान की आवश्यकता होती है।

धूल और धुआँ (धारा 14)— प्रत्येक कारखाने में धूल, धुएं या अन्य अशुद्धियों को हटाने या रोकने के लिए कुशल उपाय होने चाहिए, जो वहां कार्यरत कर्मचारियों को नुकसान पहुंचा सकती हैं या अपमानित कर सकती हैं तथा किसी भी कार्य कक्ष में सांस के माध्यम से उनके अंदर जाने और जमा होने का कारण बन सकती हैं।

कोई भी फैक्ट्री आंतरिक दहन इंजन का संचालन तब तक नहीं कर सकती जब तक कि निकास बाहर की ओर निर्देशित न हो, और किसी अन्य आंतरिक दहन इंजन का उपयोग नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त, धुएं के निर्माण से बचने के लिए सावधानी बरतनी चाहिए जो कमरे के अंदर किसी भी कर्मचारी के स्वास्थ्य को खतरे में डाल सकती है।

भीड़भाड़ (धारा 16)— कारखानों में अत्यधिक भीड़ नहीं होनी चाहिए जिससे श्रमिकों के स्वास्थ्य को नुकसान पहुंचे। सभी कर्मचारियों के पास भवन में काम करने के लिए पर्याप्त जगह होनी चाहिए।

प्रकाश व्यवस्था (धारा 17)— (1) कारखाने के प्रत्येक क्षेत्र में, जहां कर्मचारी कार्यरत हैं, पर्याप्त प्राकृतिक, कृत्रिम या दोनों प्रकार की रोशनी स्थापित और अनुरक्षित होनी चाहिए।

(2) कारखानों में कार्य कक्ष के लिए प्रकाश प्रदान करने वाली सभी कांच की खिड़कियों और रोशनदानों को अंदर और बाहर से साफ रखा जाना चाहिए।

(3) किसी भी विनिर्माण प्रक्रिया के दौरान छाया के उत्पादन से आंखों पर दबाव नहीं पड़ना चाहिए, तथा सभी कारखानों में ऐसे निवारक उपाय होने चाहिए, जिससे प्रकाश के स्रोत से या चिकनी या पॉलिश सतह से परावर्तन के कारण चकाचौंध न हो।

शराब पीना (धारा 18)— (1) सभी कारखानों में उपयुक्त प्रतिष्ठान होने चाहिए तथा स्वच्छ पेयजल की पर्याप्त आपूर्ति के साथ सुविधाजनक स्थान बनाए रखना चाहिए।

(2) किसी भी पीने के पानी और किसी भी धुलाई क्षेत्र, मूत्रालय, शौचालय, थूकदान, गंदगी या अपशिष्ट ले जाने वाली खुली नाली, या कारखाने में संदूषण के किसी अन्य स्रोत के बीच की दूरी 6 मीटर होनी चाहिए, जब तक कि मुख्य निरीक्षक लिखित रूप में कम दूरी को मंजूरी न दे। लेबलिंग सुपाठ्य और ऐसी भाषा में होनी चाहिए जिसे कर्मचारी समझ सकें।

(3) 250 से अधिक नियमित कर्मचारियों वाली सभी फैक्ट्रियों में, गर्म मौसम के दौरान ठंडा पेयजल उपलब्ध कराने के लिए उपयुक्त विधि होनी चाहिए।

शौचालय और मूत्रालय (धारा 19)–(1) सभी कारखानों में पर्याप्त शौचालय होने चाहिए, तथा आवश्यक प्रकार के मूत्रालयों की व्यवस्था ऐसे स्थान पर होनी चाहिए जो श्रमिकों के लिए सुविधाजनक तथा सदैव सुलभ हो।

(2) पुरुष और महिला कर्मचारियों के लिए अलग-अलग बंद कमरे होने चाहिए।

इन स्थानों को अच्छी तरह से साफ किया जाना चाहिए, स्वच्छ रखा जाना चाहिए तथा पर्याप्त प्रकाश और वायु-संचार की व्यवस्था होनी चाहिए।

(3) शौचालयों, मूत्रालयों और धुलाई सुविधाओं को साफ रखने के लिए सफाई कर्मचारियों का उपयोग किया जाना चाहिए।

थूकदान (धारा 20)– (1) सभी कारखानों में आसानी से पहुंच योग्य स्थानों पर थूकदान होने चाहिए तथा उन्हें साफ एवं स्वच्छ रखा जाना चाहिए।

(2) राज्य सरकार यह निर्दिष्ट करती है कि कितने थूकदान दिए जाने चाहिए, किसी भी कारखाने में उनका स्थान क्या होना चाहिए, तथा उनका साफ और स्वास्थ्यकर तरीके से रखरखाव कैसे किया जाना चाहिए।

(3) इस उद्देश्य से डिजाइन किए गए थूकदानों को छोड़कर, किसी को भी फैक्ट्री के परिसर में थूकना नहीं चाहिए। यदि कोई उल्लंघन होता है तो नोटिस लगाया जाना चाहिए, जिसमें पाँच रुपये का जुर्माना लगाया जाएगा।

सुरक्षा– सुरक्षा अधिनियम के अध्याय IV में शामिल है और कारखाना अधिनियम, 1948 की धारा 21–41 में शामिल है।

खतरनाक मशीनों पर युवा व्यक्तियों का रोजगार (धारा 23)– किसी भी युवा व्यक्ति को खतरनाक मशीनों को चलाने की अनुमति तब तक नहीं दी जाएगी जब तक कि उसे मशीन से जुड़े खतरों और उठाए जाने वाले कदमों के बारे में पर्याप्त रूप से नहीं बताया गया हो, और उसे मशीन पर काम करने का उपयुक्त प्रशिक्षण प्राप्त न हो या किसी ऐसे व्यक्ति द्वारा पर्याप्त पर्यवेक्षण प्राप्त न हो जिसे उपकरण का पूर्ण ज्ञान और अनुभव हो।

कपास की मशीनों के पास महिलाओं और बच्चों को काम पर रखने पर प्रतिषेध (धारा 27)– महिलाओं और बच्चों को कपास प्रेसिंग सुविधा के किसी भी क्षेत्र में काम करने की अनुमति नहीं है, जबकि कपास ओपनर चालू है। महिलाओं और बच्चों को विभाजन के उस तरफ काम पर रखा जा सकता है जहाँ फीड-एंड स्थित है, अगर निरीक्षक ऐसा निर्दिष्ट करता है।

होइस्ट और लिफ्ट (धारा 28)– हर होइस्ट और लिफ्ट मजबूत यांत्रिक संरचना, पर्याप्त ताकत और मजबूत सामग्री से बना होना चाहिए। उन्हें नियमित रूप से बनाए रखने की भी आवश्यकता है, हर छह महीने में कम से कम एक बार किसी योग्य व्यक्ति द्वारा पूरी तरह से जांच की जानी चाहिए, और अनिवार्य परीक्षाओं के लिए एक रजिस्टर रखा जाना चाहिए। उचित रूप से डिजाइन और स्थापित किए गए पिंजरे में सभी उत्पादक और लिफ्ट मार्गों को शामिल किया जाना चाहिए ताकि लोगों को किसी भी उपकरण के बीच फंसने से बचाया जा सके।

इससे अधिक भार नहीं उठाया जाना चाहिए अधिकतम सुरक्षित परिचालन भार को होइस्ट या लिफ्ट पर अंकित किया जाना चाहिए। प्रत्येक होइस्ट या लिफ्ट गेट में इंटरलॉकिंग या कोई अन्य प्रभावी प्रणाली स्थापित होनी चाहिए, जो लैंडिंग के समय को छोड़कर गेट को खुलने से रोके।

आँखों की सुरक्षा (धारा 35)– राज्य सरकार किसी भी कारखाने में की जाने वाली किसी विनिर्माण प्रक्रिया के दौरान कार्यरत व्यक्तियों या प्रक्रिया के आसपास के लोगों की सुरक्षा के लिए प्रभावी स्क्रीन या उपयुक्त चश्मे उपलब्ध कराने की मांग कर सकती है, जिसमें अत्यधिक प्रकाश के संपर्क में आने के कारण आँखों को खतरा हो या प्रक्रिया के दौरान फेंके गए कणों या टुकड़ों से आँखों को चोट लग सकती हो।

खतरनाक धुएं, गैसों आदि के प्रति सावधानियां (धारा 36)– किसी भी व्यक्ति को किसी कारखाने में किसी कक्ष, टैंक, वैट, गड्ढे, पाइप, चिमनी या अन्य सीमित स्थान में प्रवेश करने की आवश्यकता नहीं होगी या अनुमति नहीं दी जाएगी, जहां कोई गैस, धुआँ, वाष्प या धूल इस हद तक मौजूद है कि लोगों के फंसने का खतरा हो, जब तक कि ऐसे कक्ष, टैंक, वैट, गड्ढे, पाइप, चिमनी या अन्य सीमित स्थान में पर्याप्त मैनहोल या निकास के अन्य प्रभावी साधन उपलब्ध न हों।

विस्फोटक या ज्वलनशील धूल, गैस आदि (धारा 37)– कोई भी कारखाना जो ऐसी विनिर्माण प्रक्रियाओं में शामिल है जो धूल, गैस, धुआँ या वाष्प उत्पन्न करती है जो प्रज्वलन पर विस्फोट कर सकती है, उसे किसी भी विस्फोट को रोकने के लिए सभी व्यावहारिक सावधानियाँ बरतनी चाहिए। संयंत्र या मशीनरी का प्रभावी घेराव। ऐसी धूल, गैस, धुआँ या वाष्प आदि के संचय को हटाना या रोकना, या अन्यथा सभी संभावित प्रज्वलन स्रोतों को बहिष्कृत करके या प्रभावी रूप से बंद करके।

आग लगने की स्थिति में सावधानियाँ (धारा 38)— आग लगने की स्थिति में लोगों को सुरक्षित रखने और सुरक्षित स्थान पर रहने के लिए, सभी कारखानों में आग लगने और फैलने से बचने के लिए एहतियाती उपाय होने चाहिए, चाहे वह आंतरिक हो या बाहरी। आग बुझाने के लिए आवश्यक उपकरण और सुविधाएँ भी सुलभ होनी चाहिए। सभी फैक्ट्री कर्मचारियों को, जो अग्नि से बचने के मार्गों से परिचित हैं तथा जिन्हें ऐसी परिस्थितियों में अपनाई जाने वाली प्रक्रिया के बारे में पर्याप्त प्रशिक्षण प्राप्त है, उचित उपायों तक पहुंच होनी चाहिए।

प्रश्न न० 8—कर्मकार प्रतिकर अधिनियम, 1923 के अन्तर्गत किये गये क्षतिपूर्ति के दावे में कौन से प्रतिवाद लिये जा सकते हैं? वर्णन कीजिए।

उत्तर— दुर्घटना सम्बन्धी सूचना और दावा— 10(1). जहां किसी नियोक्ता के परिसर में कोई दुर्घटना होती है और उसके परिणामस्वरूप किसी कर्मकार की मृत्यु हो जाती है या उसे गंभीर शारीरिक चोट लग जाती है, वहां नियोक्ता, मृत्यु या गंभीर शारीरिक चोट के सात दिन के भीतर, आयुक्त को मृत्यु या गंभीर शारीरिक चोट की परिस्थितियों का विवरण देते हुए एक रिपोर्ट भेजेगा। यदि कोई कर्मकार, जो धारा 3 की उपधारा (2) के अधीन विनिर्दिष्ट किसी नियोजन में लगातार नियोजित रहा हो, उस नियोजन से विरत हो जाता है और नियोजन की समाप्ति के दो वर्ष के भीतर उसमें उस नियोजन से संबंधित विशिष्ट व्यवसायिक रोग के लक्षण विकसित हो जाते हैं, तो दुर्घटना।

कर्मकार प्रतिकर अधिनियम, 1923 की धारा 3(2) प्रतिकर के लिए नियोक्ता के दायित्व के बारे में है। इसमें कहा गया है किनियोक्ता रोजगार के दौरान हुई दुर्घटना के कारण कर्मचारी को हुई व्यक्तिगत चोटों के लिए मुआवजा देने के लिए उत्तरदायी है। हालाँकि, नियोक्ता उत्तरदायी नहीं है यदि चोट के कारण तीन दिनों से अधिक समय तक पूर्ण या आंशिक विकलांगता नहीं होती है, या यदि इसके कारण मृत्यु या स्थायी पूर्ण विकलांगता नहीं होती है। नियोक्ता तब भी उत्तरदायी नहीं है यदि चोट निम्नलिखित कारणों से लगी हो—

- (1) नशीली दवाएँ या शराब
- (2) कर्मचारी द्वारा सुरक्षा उपायों का पालन करने से इंकार करना
- (3) कर्मचारी द्वारा ऐसा कार्य करना जिसकी आवश्यकता नहीं थी तथा जो गंभीर जोखिम से ग्रस्त था।

परन्तु यदि आयुक्त का समाधान हो जाता है कि सूचना न देने या उचित समय के अन्दर दावा प्रस्तुत न करने के पर्याप्त कारण थे तो आयुक्त प्रतिकर के लिए कोई ऐसा दावा ग्रहण और विनिश्चित कर सकता है जिसके सम्बन्ध में धारा 10(1) में यथाउपबन्धित समय के अन्दर सूचना प्रेषित न कर दी गई या दावा न किया गया हो।

धारा 10(1) के अधीन सूचना में निम्नलिखित बातें स्पष्ट करनी होगी—

- (1) क्षतिग्रस्त कर्मकार का नाम और पता,
- (2) सरल भाषा में दुर्घटना का कारण और
- (3) दुर्घटना होने की तिथि।

10 (2) प्रत्येक ऐसे नोटिस में घायल व्यक्ति का नाम और पता दिया जाएगा तथा साधारण भाषा में चोट का कारण और दुर्घटना की तारीख बताई जाएगी, तथा यह नोटिस नियोक्ता को या कई नियोक्ताओं में से किसी एक को या प्रबंधन के लिए नियोक्ता के प्रति उत्तरदायी किसी व्यक्ति को दिया जाएगा। कर्मचारी मुआवजा अधिनियम 1923 की धारा 10(2) में कहा गया है किप्रत्येक नोटिस में घायल व्यक्ति का नाम और पता शामिल होना चाहिए।नोटिस नियोक्ता, उनके किसी भी कर्मचारी या व्यवसाय के प्रबंधन के लिए जिम्मेदार किसी भी व्यक्ति को दिया जाना चाहिए। इसे व्यक्तिगत रूप से वितरित किया जा सकता है या पंजीकृत डाक द्वारा भेजा जा सकता है। धारा 10 में क्षतिपूर्ति के दावों को भी शामिल किया गया है और कहा गया है कि आयुक्त दावे पर विचार कर सकता है, भले ही नोटिस समय पर न दिया गया हो, उसमें कोई दोष हो, या नियोक्ता को दुर्घटना के बारे में किसी अन्य स्रोत से पता चला हो।

कर्मचारी प्रतिकर अधिनियम, 1923 की धारा 10(3) में कहा गया है किराज्य सरकार नियोक्ताओं से यह अपेक्षा कर सकती है कि वे अपने परिसर में घायल कर्मचारियों के लिए नोटिस बुक रखेंपुस्तक निर्धारित प्रारूप में होनी चाहिए तथा घायल कर्मचारियों तथा उनकी ओर से कार्य करने वाले किसी भी व्यक्ति को उचित समय पर आसानी से उपलब्ध होनी चाहिए। इस धारा के अंतर्गत नोटिस निम्नलिखित द्वारा दिया जा सकता है—

- (1) उन्हें व्यक्ति के निवास, कार्यालय या व्यवसाय के स्थान पर पहुंचाना।
- (2) उन्हें पंजीकृत डाक से भेजना।
- (3) यदि कोई नोटिस बुक रखी गई हो तो उसे उसमें दर्ज करना।

हिन्दी में

“राज्य सरकार यह अपेक्षा कर सकती है कि नियोक्ताओं का कोई भी निर्धारित वर्ग अपने परिसर में, जहां कामगार नियोजित हैं, निर्धारित प्रपत्र में एक नोटिस—बुक रखेगा, जो परिसर में कार्यरत किसी भी घायल कामगार और सद्भावपूर्वक कार्य करने वाले किसी भी व्यक्ति के लिए सभी उचित समय पर आसानी से उपलब्ध होगी।”

10(4) यदि कर्मचारी की चोट के परिणामस्वरूप उसकी मृत्यु हो जाती है, तो नियोक्ता उपधारा (1) के अधीन प्रतिकर के अतिरिक्त, आयुक्त के पास कर्मचारी के ज्येष्ठ जीवित आश्रित को उसके व्यय के लिए भुगतान के लिए पांच हजार रुपये से अन्यून की राशि जमा करेगा।

प्राणघातक दुर्घटनाओं के सम्बन्ध में नियोजकों से विवरण की अपेक्षा की शक्ति—1923 के कर्मकार मुआवजा अधिनियम की धारा 10(ए)(1) के अनुसार, यदि आयुक्त को सूचना मिलती है कि किसी कर्मचारी की काम करते

समय दुर्घटना में मृत्यु हो गई है, तो वह पंजीकृत डाक द्वारा नियोक्ता को नोटिस भेज सकता है। नोटिस में नियोक्ता को 30 दिनों के भीतर जवाब प्रस्तुत करने की आवश्यकता होती है। 1923 का कर्मकार क्षतिपूर्ति अधिनियम दुर्घटनाओं में श्रमिकों को लगी चोटों के लिए मुआवजा प्रदान करने के लिए बनाया गया है। अधिनियम की धारा 10 में नोटिस और दावे भी शामिल हैं, और कहा गया है कि आयुक्त किसी दावे पर विचार कर सकता है, भले ही वह समय पर दायर न किया गया हो, उसमें दोष हों, या नियोक्ता को दुर्घटना के बारे में किसी अन्य स्रोत से पता हो।

धारा 10(ए)(2) के अनुसार नियोजक यदि अपने आपको प्रतिकर की राशि जमा करने के लिए उत्तरदायी समझता है तो वह उपर्युक्त सूचना के मिलने के तीस दिन के अन्दर प्रतिकर की राशि कार्यालय में जमा कर देगा।

धारा 10(ए)(3) के अनुसार यदि नियोजक यह समझता है कि वह प्रतिकर की राशि जमा करने के लिए दायी नहीं है तो वह अपने वितरण में उन धाराओं को स्पष्ट करेगा जिस पर वह दायित्व से इन्कार करता है।

जहाँ नियोजक ने अपने दायित्व से इस प्रकार इन्कार किया है वहाँ आयुक्त उचित जाँच के बाद मृत कर्मकार के आश्रितों में से किसी को सूचित कर सकता है कि वह प्रतिकर का दावा करने के लिए स्वतन्त्र है और अन्य सूचना भी आश्रितों में से किसी सूचित कर सकता है कि वह प्रतिकर का दावा करने के लिए स्वतन्त्र है और ऐसी अन्य सूचना भी आश्रितों को दे सकता है जो वह उचित समझता है।

मेफोल्ड स्टेट नल्लाकोट नीलगिरी बनाम कृष्णन (1985) 2 एल.एल.जे 483 (मद्रास) अभिकथन किया है कि धारा 10(ए) (4) के अन्तर्गत कर्मकार आयुक्त स्वप्रेरणा से प्रतिकर की राशि निर्धारित नहीं कर सकता। वह केवल आश्रितों को सूचना प्रेषित करेगा कि वे अपने दावे प्रस्तुत करें। आयुक्त को उस स्थिति में प्रतिकर के निर्धारण का अधिकार प्राप्त नहीं है यदि उसने प्रतिकर अदा करने के दायित्व को अस्वीकार कर दिया है। ऐसी स्थिति में अधिनियम की धारा 30 के अधीन दायर करने के अतिरिक्त व्यथित पक्षकार संविधान के अनुच्छेद 226 के अन्तर्गत रिट पिटीशन के लिए आवेदन कर सकता है।

प्राणघातक दुर्घटनाओं और गम्भीर शारीरिक क्षतियों की सूचनाएँ— कर्मकार प्रतिकर अधिनियम, 1923 की धारा 10बी(1)घातक दुर्घटना या गंभीर शारीरिक चोट की सूचना देने के लिए जिम्मेदार व्यक्ति को सात दिनों के भीतर आयुक्त को रिपोर्ट भेजने की आवश्यकता होती है रिपोर्ट में मृत्यु या चोट की परिस्थितियों का विवरण शामिल होना चाहिए, जैसे—

- (1) किसी अंग के उपयोग की स्थायी हानि।
- (2) दृष्टि या श्रवण को स्थायी क्षति।
- (3) अंग का फ्रैक्चर।
- (4) घायल व्यक्ति को 20 दिनों से अधिक समय तक काम से अनुपस्थित रहना।

हालाँकि, राज्य सरकार यह प्रावधान कर सकती है कि रिपोर्ट आयुक्त के बजाय किसी अन्य प्राधिकारी को भेजी जा सकती है।

जहाँ किसी तत्समय प्रवृत्त विधि द्वारा किसी नियोक्ता द्वारा या उसकी ओर से किसी प्राधिकारी को उसके परिसर में घटित किसी दुर्घटना की सूचना देना अपेक्षित है, जिसके परिणामस्वरूप मृत्यु या गंभीर शारीरिक चोट होती है, वहाँ सूचना देने के लिए अपेक्षित व्यक्ति, मृत्यु या गंभीर शारीरिक चोट के सात दिन के भीतर, नियोक्ता को या उसकी ओर से किसी प्राधिकारी को सूचना देना अपेक्षित है, जहाँ नियोक्ता द्वारा या उसकी ओर से किसी प्राधिकारी को उसके परिसर में घटित किसी दुर्घटना की सूचना देना अपेक्षित है, जिसके परिणामस्वरूप मृत्यु या गंभीर शारीरिक चोट होती है, वहाँ सूचना देने के लिए अपेक्षित व्यक्ति, नियोक्ता द्वारा या उसकी ओर से नियोक्ता को, उसके परिसर में घटित किसी दुर्घटना की, जिसके परिणामस्वरूप मृत्यु या गंभीर शारीरिक चोट होती है, नियोक्ता को, नियोक्ता द्वारा या उसकी ओर से किसी प्राधिकारी को सूचना देना अपेक्षित . द्वारा या नियोक्ता द्वारा, नियोक्ता द्वारा या उसके द्वारा।

राज्य सरकार शासकीय राजपत्र में अधिसूचना द्वारा धारा 10(बी) (1) के उपबन्ध इस उपधारा के क्षेत्र में आने वाले परिसरों से भिन्न अन्य परिसरों के वर्ग पर लागू कर सकती है इस अधिसूचना में यह विनिर्दिष्ट कर सकती है कि आयुक्त को रिपोर्ट कौन व्यक्ति भेजेगा। किन्तु धारा 10 की कोई बात उन कारखानों पर लागू नहीं होगी जिन पर कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम, 1948 लागू होता है।

एस. सुप्पियाह बनाम चित्रपुराई ए.आई.आर. 1957 मद्रास 216 के विनिश्चय में मद्रास उच्च न्यायालय ने यह अवधारित किया है कि दुर्घटना होने पर कर्मकार को यह विकल्प प्राप्त है कि वह चाहे तो इस अधिनियम के अधीन अर्जी दे या किसी अन्य कानून उपबन्ध जैसे नियोजक का दायित्व अधिनियम के अधीन प्रतिकर का दावा प्रस्तुत करे। लेकिन कर्मकार दोनों का लाभ बार-बार नहीं उठा सकता।

कर्मकार प्रतिकर अधिनियम, 1948 की धारा 10(बी) के प्रावधान ऐसे कारखानों पर लागू नहीं होते जहाँ राज्य कर्मचारी बीमा अधिनियम, 1948 के प्रावधान लागू होते हैं।

चिकित्सकीय परीक्षा—11(1) जहाँ किसी कर्मचारी ने दुर्घटना की सूचना दी है, वहाँ यदि नियोजक सूचना की तामील के समय से तीन दिन की समाप्ति के पूर्व किसी योग्य चिकित्सा व्यवसायी द्वारा उसकी निःशुल्क जांच कराने की पेशकश करता है, तो उसे ऐसी जांच के लिए स्वयं को प्रस्तुत करना होगा, और कोई भी कर्मचारी जो दुर्घटना की सूचना देता है, उसे ऐसी जांच के लिए स्वयं को प्रस्तुत करना होगा, और यदि नियोजक सूचना की तामील के समय से तीन दिन की समाप्ति के पूर्व किसी योग्य चिकित्सा व्यवसायी द्वारा उसकी निःशुल्क जांच कराने की

पेशकश करता है, तो उसे ऐसी जांच के लिए स्वयं को प्रस्तुत करना होगा, और यदि नियोजक सूचना की तामील के समय किसी कर्मचारी की मृत्यु हो जाती।

कर्मकार मुआवजा अधिनियम 1923 की धारा 11(1) कर्मचारियों के लिए चिकित्सा जांच शामिल है—

- (1) यदि कोई कर्मचारी दुर्घटना की रिपोर्ट करता है, तो नियोक्ता रिपोर्ट प्राप्त होने के तीन दिनों के भीतर कर्मचारी की योग्य चिकित्सा पेशेवर द्वारा निःशुल्क जांच कराने की पेशकश कर सकता है।

कर्मचारी को परीक्षा देनी होगी।

- (3) जिन कर्मचारियों को अर्ध-मासिक भुगतान मिलता है, उन्हें भी समय-समय पर परीक्षा देनी पड़ सकती है।

- (4) नियोक्ता अपने कर्मचारियों से नियमों के बाहर जाकर जांच कराने की मांग नहीं कर सकते।

- (5) यदि कोई कर्मचारी जांच कराने से इनकार करता है या जांच में बाधा डालता है, तो उसके मुआवजा संबंधी अधिकार निलंबित कर दिए जाते हैं।

कर्मकार प्रतिकर अधिनियम, 1923 की धारा 11(3) में कहा गया है कि यदि कोई कर्मचारी स्वेच्छा से बिना जांच कराए अपने कार्यस्थल को छोड़ देता है, तो उसके प्रतिकर अधिकार तब तक निलंबित कर दिए जाते हैं जब तक कि वह वापस आकर जांच के लिए स्वयं को प्रस्तुत नहीं करता।

कर्मकार प्रतिकर अधिनियम, 1923 की धारा 11(4) में कर्मचारियों की चिकित्सा जांच शामिल है—

- (1) यदि कोई कर्मचारी दुर्घटना की रिपोर्ट करता है, तो नियोक्ता रिपोर्ट प्राप्त होने के तीन दिनों के भीतर कर्मचारी की योग्य चिकित्सक द्वारा निःशुल्क जांच कराने की पेशकश कर सकता है।

- (2) कर्मचारी को परीक्षा देनी होगी।

- (3) जिन कर्मचारियों को अर्ध-मासिक भुगतान मिलता है, उन्हें भी आवश्यकता पड़ने पर परीक्षा देनी होगी।

- (4) नियोक्ता कर्मचारियों से परीक्षा देने की मांग नहीं कर सकते, जब तक कि यह नियमों के अनुरूप न हो।

- (5) यदि कोई कर्मचारी जांच कराने से इनकार करता है या जांच में बाधा डालता है, तो उसके मुआवजा संबंधी अधिकार निलंबित कर दिए जाते हैं।

1923 के कर्मकार प्रतिपूर्ति अधिनियम की धारा 11(5) में कहा गया है कि मृतक कर्मचारी के लिए जमा किया गया मुआवजा उपधारा (4) के तहत की गई किसी भी कटौती के बाद, उनके आश्रितों के बीच विभाजित किया जाना चाहिए।

प्रश्न न० 9—स्त्री की मृत्यु के मामले में मातृत्व हित लाभ के भुगतान के सम्बन्ध में क्या विधि है? विवेचना कीजिए।

उत्तर—मातृत्व लाभ अधिनियम, 1961 की धारा 7 के मुताबिक, अगर कोई महिला इस अधिनियम के तहत मातृत्व लाभ या किसी और रकम की हकदार है और उसे वह रकम पाने से पहले ही मर जाती है, तो नियोक्ता को उस रकम को महिला द्वारा नामित व्यक्ति को देना होगा। अगर ऐसा कोई नामित व्यक्ति नहीं है, तो नियोक्ता को उस रकम को महिला के विधिक प्रतिनिधि को देनी होगी।

मातृत्व लाभ अधिनियम, 1961 की धारा 5(3) के मुताबिक, हर महिला को 12 हफ्ते का मातृत्व लाभ मिलता है। हालांकि, मातृत्व लाभ (संशोधन) अधिनियम, 2017 के तहत इस धारा में संशोधन किया गया है। इसके मुताबिक, अब महिलाओं को अधिकतम 26 हफ्ते का मातृत्व लाभ मिल सकता है। इसमें अनुमानित डिलीवरी की तारीख से आठ हफ्ते पहले का समय शामिल नहीं है। अगर महिला को दो या उससे ज्यादा बच्चे हैं, तो उसे 12 हफ्ते का ही मातृत्व लाभ मिलेगा। इस लाभ का लाभ भी अनुमानित डिलीवरी की तारीख से छह हफ्ते पहले से ही लिया जा सकता है। इस अधिनियम के तहत, गर्भवती महिलाएं अपने नियोक्ता को लिखित में सूचना देकर मातृत्व अवकाश ले सकती हैं। इसमें उन्हें यह भी बताना होता है कि वह किस तारीख से काम से अनुपस्थित रहेंगी। इसके अलावा, महिलाएं कंपनी के एचआर को सूचित करके या कंपनी के पोर्टल पर जाकर भी मातृत्व अवकाश के लिए आवेदन कर सकती हैं। वे अपने नियोक्ता को ईमेल के जरिए भी मातृत्व अवकाश लेने की जानकारी दे सकती हैं। अधिनियम में कहा गया है कि प्रत्येक महिला 12 सप्ताह के मातृत्व लाभ की हकदार होगी। अधिनियम इसे बढ़ाकर 26 सप्ताह करने का प्रयास करता है। इसके अलावा, पिछले प्रावधानों के अनुसार, कोई महिला अपेक्षित प्रसव की तारीख से 6 सप्ताह से पहले उक्त लाभ का लाभ नहीं उठा सकती थी।

यदि नियोजक प्रसव करने वाली महिला की मृत्यु के बाद देय अदत्त मातृत्व लाभ उसके द्वारा नाम निर्देशित व्यक्ति या उसके विधि उत्तराधिकारी को नहीं प्रदान करता है तो महिला की मृत्यु का मातृत्व लाभ स्वयमेव अपने पास रखने का कोई बहाना नहीं बनाया जा सकता। यदि उस महिला की प्रसव-कार्य के पूर्व ही मृत्यु हो जाती है तो नियोजक द्वारा उसकी मृत्यु के दिन तक मातृत्व लाभ देने का उसका दायित्व है। यदि महिला की मृत्यु बालक के जन्म देने के बाद हो जाती है और बालक जीवित रहता है तो प्रसव के 6 सप्ताह तक का मातृत्व लाभ देय होगा। लेकिन यदि जज्जा बच्चा दोनों की मृत्यु हो जाती है तो उनके जीवित रहने के अन्तिम दिन तक का लाभ दिया जायेगा। यदि माता की मृत्यु के समय नवजात शिशु जीवित है और माँ के मरने के बाद मरता है तो तिने दिन वह जीवित रहता रहा उस समय तक का मातृत्व लाभ उसे देय होगा।

मातृत्व लाभ अधिनियम, 1961 की धारा 6 के मुताबिक, अगर कोई महिला इस अधिनियम के तहत मातृत्व लाभ या किसी और रकम की हकदार है, लेकिन उसे सूचना नहीं दी गई है, तो भी वह इस लाभ से वंचित नहीं होगी। ऐसे मामले में, निरीक्षक अपनी मर्जी से या महिला के आवेदन पर, तय समय के अंदर उस लाभ या रकम का भुगतान करने का आदेश दे सकता है। मातृत्व लाभ अधिनियम, 1961 के तहत, गर्भवती महिलाएं अपने नियोक्ता को लिखित

में सूचना देकर मातृत्व अवकाश ले सकती हैं। उन्हें यह भी बताना होगा कि वह किस तारीख से काम से अनुपस्थित रहेंगी। इसके अलावा, कंपनी के एचआर को सूचित करके या कंपनी के पोर्टल पर आवेदन करके भी मातृत्व अवकाश के लिए आवेदन किया जा सकता है। इसके अलावा, नियोक्ता को ईमेल भी भेजा जा सकता है।

प्रश्न न० 10— निम्नलिखित में से किन्हीं चार पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए—

उत्तर— (1) — कर्मकार प्रतिकर अधिनियम, 1923 की धारा 2(1)(ग) के मुताबिक, प्रतिकर का मतलब इस अधिनियम के तहत दिया जाने वाला प्रतिकर है। यह अधिनियम, रोजगार के दौरान होने वाली किसी भी आकस्मिक चोट के मामले में मुआवजे के जरिए कर्मचारियों और उनके आश्रितों को वित्तीय सुरक्षा और सहायता देने के लिए बनाया गया है। इस अधिनियम के तहत, नियोक्ताओं को उन कर्मचारियों को लाभ देना होता है जो कार्यस्थल पर दुर्घटना के कारण स्थायी या अस्थायी रूप से विकलांग हो जाते हैं। कर्मचारी को मिलने वाले मुआवजे की रकम, दुर्घटना की वजह से हुई चोट की गंभीरता, कर्मचारी के मासिक वेतन, और उसकी उम्र पर निर्भर करती है। अगर कोई कर्मचारी रोजगार के दौरान या उसकी वजह से किसी दुर्घटना में मर जाता है, तो उसके आश्रितों को मिलने वाले मुआवजे की न्यूनतम रकम 1.20 लाख रुपये और अधिकतम 1.50 लाख रुपये है। आश्रितों में मृतक कर्मचारी की विधवा, अवयस्क वैध या दत्तक पुत्र, अविवाहित वैध या दत्तक पुत्री, या विधवा मां शामिल हैं।

भारत हैवी प्लेट एण्ड लिमिटेड बनाम प्रतिकर आयुक्त (1983) 1 एल.एल.जे. 477 (इलाहाबाद) के विनिश्चय में इलाहाबाद उच्च न्यायालय ने इस सन्दर्भ में व्यापक निर्वाचन प्रदान किया है। न्यायालय ने अपना अभिकथन प्रस्तुत करते हुए कहा है कि चिकित्सा प्रमाण-पत्र के आधार पर प्रतिकर आयुक्त द्वारा यदि एक मर्तबा प्रतिकर राशि का निर्धारण कर दिया जाता है तो तत्पश्चात् प्रदान किये गये प्रमाण-पत्र के आधार पर पूर्व प्रतिकर राशि का निषेध नहीं किया जा सकता चाहे द्वितीय प्रमाण-पत्र में कर्मकार के क्षतिग्रस्त अंश में सुधार होने के संकेत ही दिये गये हों।

(2) आश्रित— कर्मकार प्रतिकर अधिनियम, 1923 की धारा 2(घ) के मुताबिक, प्रतिकर का मतलब है इस अधिनियम के तहत दिया जाने वाला प्रतिकर। वहीं, 'आश्रित' का मतलब है मृतक कर्मचारी के ये रिश्तेदार विधवा, अवयस्क वैध या दत्तक पुत्र, अविवाहित वैध या दत्तक पुत्री, विधवा माता।

आश्रित का तात्पर्य मृतक कर्मचारी के निम्नलिखित रिश्तेदारों में से किसी से है, अर्थात:—

(i) विधवा, नाबालिग वैध या दत्तक पुत्र, अविवाहित वैध या दत्तक पुत्री या विधवा मां तथा

(ii) यदि कर्मचारी की मृत्यु के समय वह पूरी तरह से उसकी कमाई पर निर्भर है, तो उसका पुत्र या पुत्री जो 18 वर्ष की आयु प्राप्त कर चुका है और अशक्त है

(iii) यदि कर्मचारी की मृत्यु के समय उसकी कमाई पर पूर्णतः या अंशतः निर्भर है,

(1) पहली श्रेणी के आश्रितों को मृतक कर्मचारी की मृत्यु के समय उस पर अपनी निर्भरता साबित करने की आवश्यकता नहीं होती है। उदाहरण के लिए, इस श्रेणी में विधवा या कोई अन्य आश्रित मृतक कर्मचारी की कमाई पर निर्भर नहीं हो सकता है, फिर भी वे पहली श्रेणी के आश्रितों की परिभाषा में आते हैं और मुआवजे का दावा कर सकते हैं।

इस श्रेणी से संबंधित आश्रित यदि कर्मचारी की मृत्यु के समय उसकी कमाई पर पूरी तरह से निर्भर हैं, तो उनका (2) बेटा या बेटी जो 18 वर्ष की आयु प्राप्त कर चुका है और जो अशक्त है। द्वितीय श्रेणी से संबंधित आश्रितों को अपनी शारीरिक या मानसिक अशक्तता के साथ-साथ मृतक कर्मचारी की कमाई पर अपनी पूरी निर्भरता साबित करनी होती है। यदि आश्रित उपर्युक्त तथ्यों को साबित करते हैं, तभी वे द्वितीय श्रेणी के आश्रितों की परिभाषा में आते हैं और मुआवजे का दावा कर सकते हैं।

(3) तीसरी श्रेणी के आश्रितों को कर्मचारी की मृत्यु के समय उसकी कमाई पर पूरी तरह या आंशिक निर्भरता साबित करनी होगी।

आर.बी. मूंदड़ा एंड कंपनी बनाम सुश्री भंवरी— इस मामले में, न्यायालय ने माना कि एक विधवा जो अपने पति की मृत्यु के समय मुआवजे का दावा करने की हकदार है, वह अपने बाद के विवाह से वंचित नहीं होती है।

लक्ष्मीरानी बेहरा बनाम कर्मचारी मुआवजा आयुक्त एवं सहायक श्रम आयुक्त, बालसोर— इस मामले में, उड़ीसा उच्च न्यायालय ने माना कि मृतक कर्मचारी की उपपत्नी विधवा नहीं है। इसलिए उपपत्नी को —आश्रित नहीं माना जा सकता और वह ईसीए, 1923 के तहत मुआवजे की हकदार नहीं है।

(3) नियोजक— कर्मकार प्रतिकर अधिनियम 1923 की धारा 2(1) (ड) नियोजक से अभिप्राय निम्न व्यक्ति अथवा संस्था से है —

(1) किन्हीं व्यक्तियों का निकाय चाहे ऐसा निकाय निगमित है अथवा नहीं;

(2) नियोजन का प्रबन्ध—अभिकर्ता

(3) मृत नियोजक का विधिक प्रतिनिधि, एवं

(4) जब किसी कर्मकार की सेवाएँ, उस व्यक्ति द्वारा जिसके साथ कर्मकार ने सेवा अथवा शिक्षता की संविदा की है, अर्न्तव्य व्यक्ति को अस्थायी तौर पर उधार दे दी गई हैं या भाड़े पर दी गई है तो ऐसी स्थिति में नियोजक से तात्पर्य उस अन्य व्यक्ति से है जब कि वह कर्मकार नियोजक के लिये काम की करता रहता है। निष्कर्ष स्वरूप यह कहा जा सकता है कि 'नियोजक' शब्द जिनके लिये प्रयुक्त होता है, उनके अतिरिक्त कुछ अन्य लोग भी विधि की दृष्टि में नियोजक ही माने जायेंगे।

(4) आंशिक निःशक्तता— 1923 का कर्मकार प्रतिपूर्ति अधिनियम आंशिक विकलांगता को इस प्रकार परिभाषित करता है कि किसी कर्मचारी की नौकरी के दौरान हुई दुर्घटना के कारण उसकी कमाई करने की क्षमता में कमी अधिनियम आंशिक विकलांगता को दो श्रेणियों में विभाजित करता है: अस्थायी और स्थायी।

(1) अस्थायी आंशिक अक्षमता— दुर्घटना के समय कर्मचारी जिस रोजगार में था, उसमें उसकी कमाई की क्षमता कम हो जाती है, लेकिन अन्य नौकरियों में ऐसा नहीं होता।

स्थायी आंशिक विकलांगता— दुर्घटना के समय कर्मचारी जिस भी कार्य को करने में सक्षम था, उसमें उसकी कमाई की क्षमता कम हो जाती है।

आंशिक विकलांगता के मामले में यह आवश्यक है कि (क) दुर्घटना हो, (ख) दुर्घटना के परिणामस्वरूप कर्मचारी को चोट लगे, (ग) जिसके परिणामस्वरूप स्थायी विकलांगता हो और (घ) जिसके परिणामस्वरूप उसकी कमाई करने की क्षमता स्थायी रूप से कम हो गई हो।

‘आंशिक विकलांगता’ का अर्थ है, जहां विकलांगता अस्थायी प्रकृति की है, ऐसी विकलांगता जो किसी कर्मचारी की किसी भी रोजगार में कमाई करने की क्षमता को कम करती है जिसमें वह दुर्घटना के समय लगा हुआ था, जिसके परिणामस्वरूप विकलांगता हुई, और जहां विकलांगता स्थायी प्रकृति की है, ऐसी विकलांगता जो हर उस रोजगार में उसकी कमाई करने की क्षमता को कम करती है जिसे वह उस समय करने में सक्षम था बशर्ते कि अनुसूची I के

भाग II में, निर्दिष्ट प्रत्येक चोट को स्थायी आंशिक विकलांगता का परिणाम माना जाएगा।

(5) परिसंकटमय प्रक्रिया— ‘परिसंकटमय प्रक्रिया से तात्पर्य ऐसी किसी प्रक्रिया अथवा कार्य से है, जिसका विवरण प्रथम अनुसूची में दिया गया है, जहाँ जब कि विशेष सावधानी न रखी जाये उसमें प्रवेश किये गये कच्चे माल अथवा मध्यवर्ती अथवा तैयार माल, उप-उत्पादन, उसका कूड़ा करकट या बहिस्त्राव जो—

(1) कार्य करने वाले लोगों के स्वास्थ्य को ख़ास क्षति पहुँचाती है अथवा उससे सम्बन्ध रखती है अथवा

(2) जिसके परिणामस्वरूप साधारण पर्यावरण प्रदूषित होता हो।

परन्तु ऐसा होने पर राज्य सरकार शासकीय राजपत्र में अधिसूचना द्वारा प्रथम अनुसूची में वर्णित किसी भी कारखाने को बढ़ाने, घटाने अथवा कम करने के लिए संशोधन कर सकती है।